

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ — 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



एम.ए. (पूर्वाद्धि)

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन

द्वितीय पत्र

जैन तत्त्वमीमांसा एवं जैन आचार मीमांसा

संवर्ग-1	:	सत् एवं द्रव्यगुण भेदाभेद
संवर्ग-2	:	लोक धर्म एवं अधर्म
संवर्ग-3	:	आकाश, काल
संवर्ग-4	:	जीव, षडजीव निकाय
संवर्ग-5	:	पुद्गल, सहिष्णु
संवर्ग-6	:	जैन आगमों का स्वरूप
संवर्ग-7	:	श्रावकाचार एवं करुणा
संवर्ग-8	:	श्रमणाचार
संवर्ग-9	:	संघ व्यवस्था, नवतत्त्व
संवर्ग-10	:	संल्लेखना

विशेषज्ञ समिति

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. अरुण मुखर्जी
पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. कुसुम जैन
विभागाध्यक्ष दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ. विमला भण्डारी
पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनू

डॉ. समणी चैतन्यप्रज्ञा
सह-आचार्य, जैनविद्या विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनू

डॉ. समणी ऋजुप्रज्ञा
सह-आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
जैनविद्या विभाग, जैन विश्वभारती वि.वि.
लाडनू

डॉ. समणी शुभ प्रज्ञा
सहायक आचार्य
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनू

लेखक दल

प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनू

डॉ. समणी स्थितप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनू

मुनिश्री चन्द्र 'कमल'
लाडनू

साध्वी यशोधरा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा

समणी जयन्तप्रज्ञा
समणी शास्त्रप्रज्ञा

सुश्री निरंजना चोरडिया
लाडनू

समणी चिन्मयप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनू

डॉ. अशोक कुमार जैन
सह-आचार्य जैनविद्या
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

डॉ. जिनेन्द्र जैन
सह-आचार्य संस्कृत एवं प्राकृत
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनू

प्रो. जे.आर. भट्टाचार्य
विभागाध्यक्ष संस्कृत एवं प्राकृत
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनू

डॉ. हरिशंकर पाण्डेय
सह-आचार्य संस्कृत एवं प्राकृत
डॉ. सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनू

सम्पादक मण्डल— 1. डॉ. समणी चैतन्य प्रज्ञा
सह-आचार्य
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनू

2. डॉ. समणी शुभप्रज्ञा
सहायक-आचार्य दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनू

कॉपीराइट :

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनू—341306 (राजस्थान)

संस्करण : 2014

मुद्रण संख्या : 200 प्रतियां

विषयानुक्रमणिका

संवर्ग	इकाई	पृष्ठ संख्या
संवर्ग—1	इकाई—1. सत का स्वरूप	1—9
	इकाई—2. एवं 3. द्रव्य गुण पर्याय भेदाभेदवाद	10—19
संवर्ग—2	इकाई—4. लोक का स्वरूप	20—29
	इकाई—5. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय	30—37
संवर्ग—3	इकाई—6. आकाशास्तिकाय	38—54
	इकाई—7. काल	55—71
संवर्ग—4	इकाई—8. जीवास्तिकाय	72—79
	इकाई—9. षड्जीवनिकाय	80—87
संवर्ग—5	इकाई—10. पुद्गलास्तिकाय	88—99
	इकाई—11. (अ) परमाणु स्वरूप एवं उसकी बंध प्रक्रिया	100—120
	इकाई—11. (ब) परमाणु—स्वच्छ और उसकी बंध प्रक्रिया	121—138
संवर्ग—6	इकाई—12. आचार की जैन अवधारणा तथा उसकी तात्त्विक पृष्ठभूमि	139—145
	इकाई—13. जैनाचार के सिद्धान्तों का उद्भव और विकास	146—151
संवर्ग—7	इकाई—14. श्रावकाचार	152—162
	इकाई—15. करुणा का महत्त्व और उसके प्रकार	163—185
संवर्ग—8	इकाई—16. श्रमणाचार : पंच महाव्रत, गुप्ति, समिति	186—193
	इकाई—17. षडावश्यक	194—202
	इकाई—18. परीषद्	203—210
संवर्ग—9	इकाई—19. संघ व्यवस्था	211—229
	इकाई—20. नव तत्त्व	230—240
संवर्ग—10	इकाई—21. संल्लेखना, पण्डित—मरण	241—252

संवर्ग-1 : जैन तत्त्व-मीमांसा

इकाई-1 : सत् का स्वरूप

संरचना

- 1.0 प्रस्तावना
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 द्रव्य का लक्षण सत्
- 1.3 द्रव्य मीमांसा क्यों?
- 1.4 द्रव्य की व्युत्पत्ति
- 1.5 भारतीय दर्शन में द्रव्य का स्वरूप
- 1.6 द्रव्य की परिभाषा एवं भेद
- 1.7 गुण समुदाय रूप द्रव्य
- 1.8 द्रव्य का लक्षण गुण पर्यायवान्
- 1.9 विरोधी धर्मों का सहावस्थान
- 1.10 विरोध के तीन प्रकार
- 1.11 नित्य का स्वरूप
- 1.12 परिणामी नित्यत्ववाद
- 1.13 परिणाम
- 1.14 नित्यानित्य
- 1.15 गुण एक विश्लेषण
- 1.16 पर्याय एक विश्लेषण
- 1.17 द्रव्य के भेद
- 1.18 सारांश
- 1.19 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

तत्त्वार्थ सूत्र में ही द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा—‘सद् द्रव्य लक्षणम्’ अर्थात् सत् ही द्रव्य है और सत् का लक्षण करते हुए कहा—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है। यह जैन दर्शन की अपनी मौलिक परिभाषा है। ‘सत्’ शब्द का ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श करने पर स्पष्ट होता है कि भगवती में सत् के लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—भंते! तत्त्व क्या है? भगवान् ने कहा—गौतम! तत्त्व वह है जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और ध्रुव रहता है। भगवती के इस संवाद में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उल्लेख हमें शब्दशः मिलता है किन्तु आगमों में ‘द्रव्य’ की ‘सत्’ संज्ञा नहीं थी। जब अन्य दर्शनों में ‘सत्’ इस संज्ञा का समावेश हुआ तब जैन दार्शनिकों के सामने भी सत् किस कहा जाय यह प्रश्न उपस्थित हुआ। सर्व प्रथम उमास्वाति ने द्रव्य का सत् लक्षण करके इस समस्या का समाधान किया। उत्तरवर्ती सिद्धसेन आदि अनेक आचार्यों ने द्रव्य को सत् रूप में व्याख्यायित किया है।

वाचक ने जैन दर्शन के अनुसार जो ‘सत्’ की व्याख्या की है, वह औपनिषद् दर्शन और न्याय-वैशेषिक की ‘सत्ता’ से जैन सम्मत सत् को विलक्षण सिद्ध करती है। वे सत् को नित्य मानते हैं। वाचक उमास्वाति ने भी ‘सत्’ को कहा है। नित्य किन्तु उन्होंने नित्य की व्याख्या ऐसी की है, जिससे एकान्तवाद का निरास हो सके।

1.1 उद्देश्य - इसके अध्ययन से स्तर के स्वरूप को आसानी से समझा जा सकेगा।

1.2 द्रव्य का लक्षण सत्

भारतीय दर्शन जगत् में जैन दर्शन के अतिरिक्त सत् के विषय में चार मान्यताएं हैं—एक दर्शन संपूर्ण सत्-पदार्थ (ब्रह्म) को केवल नित्य ही मानता है। इनके अनुसार ब्रह्म एक है, सद्रूप है और नित्य है। वेदान्त दर्शन इस सिद्धान्त का समर्थक है। दूसरा दर्शन पदार्थ को निरन्वय क्षणिक मानता है। इसके अनुसार जगत् में जो कुछ है वह नाना है और विनाशशील है। इस मत का पोषक है बौद्ध दर्शन। तीसरा दर्शन चेतन तत्त्व को तो कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य मानता है। यह अभ्युपगम सांख्यदर्शन का है। चौथा दर्शन अनेक सत् पदार्थों में से परमाणु आत्मा आदि कुछ सत् तत्त्वों को कूटस्थनित्य और घट पट आदि कुछ सत् को मात्र अनित्य मानता है, इस मत के समर्थक है न्याय-वैशेषिक। परन्तु जैन दर्शन का सत् के स्वरूप से संबद्ध मन्तव्य इन मतों से भिन्न है।

जैन दर्शन के अनुसार जो सत् है वह पूर्ण रूप से केवल कूटस्थ नित्य या केवल निरन्वय विनाशी या उसका एक भाग कूटस्थ नित्य और अमुक भाग परिणामी नित्य अथवा उसका कोई भाग मात्र नित्य और कोई भाग मात्र अनित्य नहीं हो सकता। जैन दर्शन के अनुसार चेतन और जड़, अमूर्त और मूर्त, सूक्ष्म और स्थूल सत्-पदार्थ उत्पाद, व्यय और श्रौव्य रूप से त्रिरूप है।

प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं। एक अंश तो तीनों कालों में शाश्वत रहता है और दूसरा अंश सदा अशाश्वत। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु श्रौव्यात्मक और अशाश्वत अंश के कारण उत्पाद-व्ययात्मक कहलाती है। इन दो अंशों में से किसी एक को स्वीकार करने से वस्तु केवल नित्य या केवल अनित्य प्रतीत होती है। परन्तु दोनों अंशों को स्वीकार करने से वस्तु का पूर्ण या यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है, इसलिए प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय एवं श्रौव्य से युक्त है।

1.3 द्रव्य मीमांसा क्यों?

भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन—दोनों ने तत्त्व-मीमांसा को दर्शन का मुख्य आधार माना है। तत्त्व-मीमांसा की नींव पर ही ज्ञान-मीमांसा या प्रमाण-मीमांसा, न्याय, आचार-मीमांसा आदि का प्रासाद निर्मित हो सकता है। तत्त्व के मूल स्वरूप की मीमांसा करना—तत्त्व-मीमांसा का कार्यक्षेत्र होता है। जब तक तत्त्व के मूल स्वरूप का निर्धारण न हो, तब तक दर्शन की आगे की सभी शाखाएं आधारहीन ही रहेंगी। इस दृष्टि से 'द्रव्य मीमांसा' को जैन दर्शन के मूल आधार के रूप में अभिहित कर सकते हैं।

'द्रव्य' शब्द का व्यवहार मूलतः तत्त्व के रूप में ही हुआ है। साधारण रूप से द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ, सत्, वास्तविकता, सत्य, पारमार्थिक वस्तु आदि सभी को हम एकार्थ मान सकते हैं। यद्यपि इन सभी शब्दों का व्यवहार भिन्न-भिन्न रूप में भी होता है, फिर भी मोटे तौर पर इन सबका मूल तात्पर्य है—'जो कुछ है, वह क्या है?'

1.4 द्रव्य की व्युत्पत्ति

जैन व्याख्या साहित्य में द्रव्य की भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा कुछ अन्तर के साथ अनेक व्युत्पत्तियों की गयी हैं। जैन परम्परा के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में द्रव्य; विश्व व्यवस्था के घटक तत्त्व के रूप में ही स्वीकृत है। ये व्युत्पत्तियां द्रव्य में रहने वाले गुण और पर्याय को आधार मानकर कही गयी हैं। पर्याय को आधार मानकर कही गयी व्युत्पत्तियों का तात्पर्य है, जो विशेष पर्यायों को प्राप्त करता है वह द्रव्य है—अद्रुवत, द्रवति, द्रोध्यति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम् अर्थात् जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ था, हो रहा है और होगा वह द्रव्य है। पर्याय को आधार मानकर अनेक आचार्यों ने द्रव्य की व्युत्पत्ति की है। गुण को आधार मानकर की गयी व्युत्पत्ति का तात्पर्य है जो गुणों को प्राप्त हुआ था, हो रहा है तथा जो गुणों को प्राप्त होगा, वह द्रव्य है।

आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में द्रव्य की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं—

दवियदि गच्छदि ताई ताई स्वभावपज्जयाई जं।

दवियं तं भण्णं ते अणण्णभूदं तु सत्तादो॥ गाथा, 9

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उत्तरवर्ती साहित्य में विभिन्न आचार्यों द्वारा गुण और पर्याय के आधार पर अलग-अलग रूप में द्रव्य की व्युत्पत्तियों की गई है।

1.5 भारतीय दर्शन में द्रव्य का स्वरूप

प्रत्येक दर्शन की आधारशिला उसकी तत्त्व-मीमांसा है। तत्त्वों के स्वरूप, व्याख्या, संख्या में विभिन्नता होते हुए भी उसकी व्याख्या प्रत्येक दर्शन का मुख्य विषय रहा है। भारतीय दर्शन में सत् के संबंध में चार मत मिलते हैं—1. जगत् सत् है। 2. जगत् असत् है। 3. जगत् सत्-असत् है। 4. जगत् न सत् न असत् है।

1.5.1 बौद्ध दर्शन

इस विश्व में एक नहीं अनेक पदार्थ हैं और वे क्षणिक हैं—उत्पाद विनाशशील है। यद्यपि बौद्ध दर्शन में तत्त्व का वर्गीकरण नहीं हुआ है। भगवान् बुद्ध का दर्शन दुःख निरोध पर अधिक बल देता हुआ प्रतीत होता है। बुद्ध ने तत्त्व संबंधी प्रश्नों के उत्तर को अव्याकृत कहकर मौन धारण कर लिया। फिर भी स्थूल रूप से नाम एवं रूप इन दो तत्त्वों से विश्व की व्याख्या हुई है।

1.5.2 वेदान्त दर्शन

इनका मत है कि इस विश्व में जो कुछ है, वह एक है, सत् है और कूटस्थ नित्य है क्योंकि उपनिषद् वेदान्त मूलतः प्रत्ययवादी दर्शन है, अतः इनके मत में द्रव्य स्थानीय ब्रह्म या आत्मा की सत्ता मान्य है। निर्गुण ब्रह्म माया की उपाधि से सगुण बन जाता है वही सृष्टि का उपादान एवं निमित्त कारण है।

1.5.3 न्याय वैशेषिक दर्शन

ये वास्तववादी दर्शन हैं। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य का गहन चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। जो व्यक्ति यथार्थ जगत् में रहता है और यथार्थवादी दृष्टि से सोचता है, वह द्रव्य की सत्ता को स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता। द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा गया—‘द्रव्य वह है जो गुण तथा कर्म का आश्रय हो और अपने कार्य का समवायी कारण हो। द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता है। वह गुण और कर्म का आश्रयभूत तत्त्व है।’

1.5.4 मीमांसा दर्शन

जैन, न्याय, वैशेषिक की भांति पूर्व मीमांसा भी वास्तववादी दर्शन है। यह भी द्रव्य की गुण कर्माधार व्याख्या को मानता है। कुमारिल के अनुसार जिसमें क्रिया और गुण हो वह द्रव्य है।

1.5.5 सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन के अनुसार मूल दो तत्त्व हैं—प्रकृति तथा पुरुष। पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, जो देश कालादि बन्धनों से मुक्त है, वह निर्गुण और निष्क्रिय है, केवल द्रष्टा है। प्रकृति जड़ तत्त्व है, यह सार दृश्य जगत् इस प्रकृति का ही परिणाम है और प्रकृति—पुरुष का संयोग ही सृष्टि है। प्रकृति पुरुष का परस्पर वियोग होना ही मोक्ष है। ये बंध मोक्ष वस्तुतः प्रकृति के ही भ्रम हैं।

1.5.6 जैन दर्शन

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा है—‘सद् द्रव्य लक्षणम्’ द्रव्य का लक्षण सत् है तथा सत् वह है जिसमें उत्पाद व्यय और भ्रौव्य तीनों हों। अपनी जाति को नहीं छोड़ते हुए चेतन तथा अचेतन द्रव्य का अन्य पर्याय में परिणमन होना उत्पाद है। अपनी जाति का विरोध न करते हुए चेतन, अचेतन द्रव्य की पूर्व पर्याय का जो नाश है वह व्यय कहलाता है तथा अनादि स्वभाव के कारण द्रव्य में जो उत्पाद व्यय कहलाता है वह भ्रौव्य है। गुण और पर्याय से युक्त को द्रव्य कहा गया है। द्रव्य की विशेषता का गुण कहते हैं तथा द्रव्य के विकार को पर्याय कहा जाता है। द्रव्य छह है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवा। जीव के असाधारण गुण ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य आदि हैं और साधारण गुण वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि हैं। इसी प्रकार रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि पुद्गल के असाधारण गुण हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश काल के क्रमशः गति हेतुत्व, स्थिति हेतुत्व, अवगाहन हेतुत्व और वर्तना हेतुत्व असाधारण गुण स्वीकार किए गए हैं। उमास्वाति की द्रव्य विषयक परिभाषाओं का समावेश करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा—

द्वं सल्लक्ष्णियं उत्पादव्ययभुवत्तसंयुत।

गुणपञ्चयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हं॥

इस प्रकार पूरे भारतीय दर्शन में द्रव्य की विशद व्याख्या उपलब्ध है।

1.6 द्रव्य की परिभाषा एवं भेद

विश्व में जितने दर्शन हैं, उन सबकी अलग-अलग परम्पराएं हैं, मान्यताएं हैं। तत्त्ववाद भी सबका अपना-अपना है। भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का तत्त्ववाद भी अपने आप में विशिष्टता लिए हुए है।

तत्त्व का अर्थ है पारमार्थिक वस्तु या अस्तित्ववान् पदार्थ। **तस्य भावः तत्त्वम्।** मुख्य रूप से तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। संसार के दृश्य-अदृश्य समस्त पदार्थ इन दो तत्त्वों में समाविष्ट हो जाते हैं। जैन दर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझने के लिए दो पद्धतियां काम में ली गई हैं—आत्मिक और जागतिक। जहां आत्मिक तत्त्व प्रमुख है वहां नव तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध होता है और जहां जागतिक विवेचन की प्रमुखता है वहां छह द्रव्यों का वर्णन किया गया है। जैन दर्शन में विभिन्न स्थलों पर सत्, सत्त्व, तत्त्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य इन शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। जो सत् है, वही द्रव्य है और जो द्रव्य है, वही सत् है। जैन साहित्य में प्राप्त द्रव्य की परिभाषा को पांच-छह दृष्टिकोणों से व्याख्यायित किया जा सकता है। द्रव्य वह है 'जो गुण समुदाय रूप हो' गुण पर्याय से युक्त हो, सत् स्वरूप हो, सप्तभंगी से युक्त हो, त्रिकाली पर्यायों का पिण्ड हो, ऊर्ध्व व तिर्यगंश आदि का संपूह रूप हो।

1.7 गुण समुदाय रूप द्रव्य

विश्व व्यवस्था के संदर्भ में द्रव्य की प्रथम परिभाषा उत्तराख्ययन में उपलब्ध होती है। जो गुणों का आश्रय है वह द्रव्य है। इस परिभाषा में केवल गुणों के पिण्ड को द्रव्य कहा गया है। कुछ जैनाचार्यों ने इसी परिभाषा का अनुसरण करते हुए गुण-समुदाय को द्रव्य माना है।

1.8 द्रव्य का लक्षण गुण पर्यायवान्

उत्तराख्ययनकालीन परिभाषा में द्रव्य को केवल गुणों से युक्त बताया गया। किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य में द्रव्य की जो परिभाषा हुई उसमें कुछ अधिक जोड़ा गया। आचार्य उमास्वाति ने गुण के साथ पर्याय शब्द की संयोजना करते हुए द्रव्य का स्वरूप बताया—द्रव्य वह है जो गुण-पर्याय से युक्त है। अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में द्रव्य विषयक इसी परिभाषा का अनुसरण किया है। आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य देवसेन, पूज्यपाद, नागसेन आदि आचार्यों ने द्रव्य को गुणपर्याय युक्त परिभाषित किया है। आचार्य उमास्वाति ने गुणों को परिभाषित करते हुए कहा—जो स्वयं व्यापित है तथा अन्य गुणों को आश्रय नहीं देते, वे गुण हैं। द्रव्य एवं गुण की इन परिभाषाओं में पुनरुक्ति परिलक्षित होती है। द्रव्य किसे कहते हैं? जो गुणों का आश्रय है, वह द्रव्य है। गुण किसे कहते हैं? जो द्रव्य के आश्रित हो, वह गुण है। आचार्य उमास्वाति ने इस पुनरुक्ति को दूर किया—'सद् द्रव्य लक्षण' से अर्थात् जो सत् है वही द्रव्य है।

1.9 विरोधी धर्मों का सहायस्थान

प्रश्न होता है कि जो वस्तु नित्य है वह अनित्य कैसे? और जो अनित्य है वह नित्य कैसे हो सकती है? एक ही वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों अंश शीतउष्ण की भांति परस्पर विरुद्ध होने से एक ही समय में कैसे घटित हो सकते हैं? क्या सत् की उत्पाद, व्यय और श्रौव्यात्मक व्याख्या विरुद्ध नहीं है?

1.10 विरोध के तीन प्रकार

1. बध्य-घातक भाव, 2. सहानवस्थान, 3. प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव।

1.10.1 बध्य-घातक भाव

यह विरोध बलवान् और दुर्बल के बीच होता है। वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म तुल्यहेतुक और तुल्यबली है, इसलिए वे एक दूसरे को बांध नहीं सकते।

1.10.2 सहानवस्थान

यह विरोध वस्तु की क्रमिक पर्यायों में होता है। बाल्य और यौवन क्रमिक हैं, इसलिए वे एक साथ नहीं रह सकते। किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व क्रमिक नहीं हैं, इसलिए इनमें यह विरोध भी नहीं आता।

1.10.3 प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव

आम डंठल से बंधा रहता है, तब तक गुरु होने पर भी नीचे नहीं गिरता। इनमें प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव होता है।

अस्तित्व-नास्तित्व के प्रयोजन का प्रतिबन्धक नहीं है। अस्तित्व काल में ही पर की अपेक्षा नास्तित्व-बुद्धि और नास्तिकाल में ही स्व की अपेक्षा अस्तित्वबुद्धि होती है, इसलिए इनमें प्रतिबन्धक-प्रतिबन्धक भाव भी नहीं है। अपेक्षा भेद से इनमें विरोध नहीं रहता।

यदि जैन दर्शन वस्तु को सदा एक रूप में अवस्थित मानता तो कूटस्थनित्यत्व सम्भव न होने से एक ही वस्तु में स्थिरता और अस्थिरत्व का विरोध आता। इसी प्रकार वस्तु को मात्र क्षणिक मानकर उसका कोई स्थायी आधार न मानता तो भी उत्पाद-व्ययशील अनित्य परिणाम में नित्यत्व सम्भव न होने से उक्त विरोध आता। परन्तु जैन दर्शन किसी भी वस्तु को केवल कूटस्थ नित्य या मात्र परिणामी न मानकर परिणामी-नित्य मानता है।

1.11 नित्य का स्वरूप

जो अपने भाव से (अपनी जाति से) च्युत न हो वह नित्य है। सभी तत्त्व अपनी जाति में स्थिर रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्तन प्राप्त करते हैं। अतएव प्रत्येक वस्तु में मूल जाति की अपेक्षा से श्रौव्य और परिणाम की अपेक्षा उत्पाद, व्यय के घटित होने में कोई विरोध नहीं है।

द्रव्य में परिणमन होता है फिर भी स्वरूप हानि नहीं होती। द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रतिसमय जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण नहीं होता। परिवर्तन में कुछ समानता मिलती है और कुछ असमानता। पूर्व परिणाम और उत्तर परिणाम में जो समानता है वही द्रव्य है। उस रूप में द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट। वह अनुस्यूत रूप से वस्तु की प्रत्येक अवस्था में प्रभावित रहता है जैसे माला के प्रत्येक मोती में धागा अनुस्यूत रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन में जो असमानता होती है वह पर्याय है, उस रूप में द्रव्य उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इस प्रकार प्रतिसमय द्रव्य उत्पन्न होता है नष्ट होता है और स्थिर भी रहता है। द्रव्य रूप से वस्तु स्थिर रहती है और पर्याय रूप से उत्पन्न और नष्ट होती है। इससे यह फलित होता है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य किन्तु परिणामी नित्य है।

1.12 परिणामी नित्यत्ववाद

बौद्ध सत् द्रव्य को एकान्त अनित्य मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्त सत् पदार्थ (ब्रह्म) को एकान्त नित्य। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्य सत्तावाद। जैन दर्शन इन दोनों का समन्वय कर 'परिणामी नित्यत्ववाद' स्थापित करता है जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। इस परिवर्तन में भी उसका अस्तित्व नहीं मिटता।

1.13 परिणाम

जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में चला जाता है—एक वस्तु से दूसरी वस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाता है उसका नाम परिणाम है। यह परिणाम द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से होता है। सर्वथा नष्ट हो जाना या सर्वथा व्यवस्थित रहना परिणाम का स्वरूप नहीं है। वर्तमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता है, वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से होने वाला परिणाम है। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है इसलिए उसकी दृष्टि से सत् पर्याय की अपेक्षा से जिसका कथंचित् रूपान्तरण होता है, किन्तु जो सर्वथा नष्ट नहीं होता, वह परिणाम है। पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है इसलिए उसकी दृष्टि से जो सत् पर्याय से नष्ट और असत् पर्याय से उत्पन्न होता है, वह परिणाम है। दोनों दृष्टियों का समन्वय करने से द्रव्य उत्पाद व्यय और श्रौव्यात्मक बन जाता है जिसको दूसरे शब्दों में परिणामी नित्य या कथंचित् नित्य कहते हैं।

1.14 नित्यानित्य

जैन सत् (द्रव्य) को नित्यानित्य रूप में मानता है किन्तु बौद्ध सत् को सर्वथा अनित्य और वेदान्त सर्वथा नित्य रूप में स्वीकार करता है। सांख्य पुरुष को कूटस्थनित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य, इस प्रकार सांख्य भी नित्यानित्यवाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से ये भी परिणामी नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य-मात्र को परिणामी नित्य नहीं मानते। महर्षि पतंजलि, कुमारिल भट्ट आदि ने परिणामी-नित्यत्ववाद को एक स्पष्ट सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया फिर भी उन्होंने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन किया है।

1.15 गुण एक विश्लेषण

जैन दार्शनिक मीमांसा में द्रव्य मीमांसा का महत्वपूर्ण स्थान है। जो गुण और पर्याय का आश्रय स्थल है वह द्रव्य कहलाता है। अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय दोनों विद्यमान हैं वह द्रव्य है। वस्तु का स्वरूप द्रव्य, गुण पर्याययुक्त है। द्रव्य की विशेषता को गुण और उसके विकार को पर्याय कहते हैं। द्रव्य व्याख्या के संदर्भ में विकार का अर्थ है—उत्पाद और व्यय। उत्पाद एवं व्यय परिवर्तन के सूचक हैं। अतः पर्याय परिवर्तन सूचक है और श्रौव्य नित्यता की सूचना देता है। अतः गुण नित्यता वाचक है। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के भ्रम रहते हैं—सहभावी और क्रमभावी। सहभावी भ्रम को गुण कहा जाता है, जो द्रव्य में नित्यरूप से रहते हैं।

1.15.1 गुण की परिभाषा

उत्तराध्ययन में गुण को परिभाषित करते हुए कहा गया—जो द्रव्याश्रित है वह गुण है। वैशेषिक सूत्र में भी गुण को द्रव्याश्रय माना गया है। आचार्य उमास्वाति ने आगमिक परम्परा का अवलम्बन लेते हुए भी वैशेषिक सूत्र का उपयोग करके गुण का लक्षण किया—‘गुण वह है जो द्रव्य के आश्रित है किन्तु स्वयं निर्गुण है। यद्यपि जैन आगमिक परम्परा का अवलम्बन लेकर ही वाचक ने वैशेषिक सूत्रों का उपयोग किया है, तथापि जैन परम्परा की दृष्टि से वाचक का द्रव्य और गुण का लक्षण जितना निर्दोष और पूर्ण है उतना स्वयं वैशेषिकों का भी नहीं है। सहभावी भ्रम गुण है। सहभावी भ्रम द्रव्य से कभी अलग नहीं होता। द्रव्य है तो गुण है और द्रव्य नहीं तो गुण भी नहीं है। इनका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है।

गुण के प्रकार—गुण दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष।

सामान्य गुण—द्रव्यों में समान रूप से व्याप्त रहने वाला गुण सामान्य गुण कहलाता है।

1.15.2 सामान्य गुण के प्रकार

सामान्यतः आगमों में सामान्य गुण 6 प्रकार के बताए हैं पर द्रव्यानुयोगतर्कणा में भोजकवि ने 10 सामान्य गुणों का उल्लेख किया है। चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व एवं अमूर्तत्व ये चारों गुण सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार के गुणों में परिगणित किये हैं।

सामान्य गुण—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदक्षत्व और अगुरुलघुत्व।

अस्तित्व गुण

हर द्रव्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। द्रव्य त्रिकाल में कभी नष्ट नहीं होता। जिस गुण के कारण द्रव्य का अस्तित्व है वह अस्तित्व नाम का सामान्य गुण है। अस्तित्व गुण के कारण ही द्रव्य में उत्पाद, विनाश एवं ध्रुवता विद्यमान रहती है। जैन सिद्धान्त दीपिका में अस्तित्व गुण को परिभाषित करते हुए बताया गया—विद्यमानता अस्तित्वम्।

वस्तुत्व गुण

जाति-व्यक्ति रूप को वस्तुत्व कहते हैं। जाति सामान्य को कहते हैं जैसे—घट में घटत्वा व्यक्ति विशेष को कहते हैं जैसे—द्रव्य से घट सोने का है, क्षेत्र से राजस्थान का है। इस प्रकार सामान्य विशेष युक्त वस्तु का ग्रहण करना वस्तुत्व गुण है। जैन सिद्धान्त दीपिका के अनुसार वस्तुत्व का अर्थ—जिस गुण के कारण द्रव्य कोई न कोई अर्थक्रिया अनिवार्यता से करे, वह वस्तुत्व गुण है। अर्थक्रिया के बिना वस्तु अवस्तु हो जाती है।

द्रव्यत्व गुण

जो पर्याय के आधार से जाना जाय वह द्रव्यत्व गुण है। दीपिका में द्रव्यत्व की परिभाषा में कहा है—जिस गुण के कारण द्रव्य सदा एक सरीखा न रहकर नवीन-नवीन पर्यायों को धारण करता रहे वह द्रव्यत्व गुण है। द्रव्यत्व द्रव्य में होने वाले परिणमन का आधार है। इसी गुण के कारण से जीव द्रव्य नारक, तिर्यच, देव आदि विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करता रहता है।

प्रमेयत्व गुण

जो प्रमाण से जाना जाता है वह प्रमेयत्व है। द्रव्य के जिस गुण के कारण हम ज्ञान के द्वारा किसी पदार्थ को जानते हैं, वह प्रमेयत्व गुण कहलाता है। भ्रम आदि द्रव्यों का ज्ञान इसी गुण से होता है।

प्रदेशवत्त्व

यह द्रव्य का वह गुण है जो उसके प्रदेशों का माप करता है। दीपिकाकार ने इसको परिभाषित करते हुए कहा है—अवयवपरिमाणता। द्रव्य के इसी गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशों का माप होना संभव है।

अगुरुलघुत्व गुण

जो सूक्ष्म है तथा वाणी का विषय नहीं बनता वह अगुरुलघु नाम का सामान्य गुण है। दीपिकाकार का कथन है—जिस गुण के कारण द्रव्य अपने स्वरूप में स्थित रहे। उसके अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग न हो जाए।

चेतनत्व गुण

आत्मा का जो अनुभव है वह चेतनत्व है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ। इस प्रकार का साक्ष व्यापार चेतनत्व गुण से होता है। 6 द्रव्यों में मात्र जीव चेतन है।

अचेतनत्व गुण

जीवरहित स्वरूप अचेतन है। यह जीव को छोड़कर शेष पांच में रहता है।

मूर्तत्व गुण

जिसमें स्पर्श आदि गुण हो वह मूर्तत्व है। यह गुण पुद्गल में रहता है।

अमूर्तत्व गुण

जिसमें स्पर्श आदि गुण हो वह मूर्तत्व है। यह गुण पुद्गल में रहता है। भोजकवि के अनुसार सामान्य रूप से दश सामान्य गुण सब द्रव्यों के मिलाकर कहे गए हैं। इनमें मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व ये चार गुण परस्पर परिहार से द्रव्य में रहने के कारण प्रत्येक द्रव्य में आठ सामान्य गुण कहे गए हैं।

1.15.3 विशेष गुण

द्रव्य का वह गुण जो सब द्रव्यों में समान रूप से प्राप्त नहीं होता वह विशेष गुण है। सामान्यतः 16 विशेष गुणों की चर्चा प्राप्त होती है किन्तु भोजकवि ने विशेष गुण 12 ही माने हैं। चेतनत्व आदि चार गुणों को उन्होंने विशेष एवं सामान्य दोनों में परिगणित किया है।

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य ये आत्मा के विशेष गुण हैं। स्पर्श रस गंध एवं वर्ण ये पुद्गल के विशेष गुण हैं। गति, स्थिति, अवगाहना एवं वर्तना ये धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य के हेतुतापरक विशेष गुण हैं। चेतनत्व-अचेतनत्व, मूर्तत्व-अमूर्तत्व ये परत्वाति की अपेक्षा से विशेष भी हैं अतः इनका समावेश विशेष गुण में भी हो जाने से विशेष गुण 16 हो जाते हैं। 6 द्रव्यों में किस द्रव्य में कितने विशेष गुण पाते हैं?

द्रव्य	विशेष गुण
जीव	ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्तत्व
पुद्गल	स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, मूर्तत्व, अचेतनत्व
धर्म	गतिहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व
अधर्म	स्थितिहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व
आकाश	अवगाहनहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व
काल	वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व

1.16 पर्यायः एक विश्लेषण

गुण की तरह पर्याय भी द्रव्य का धर्म है। गुण निरन्तर द्रव्य के साथ रहता है, पर्याय बदलती रहती है। अतः कहा गया—‘अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिनः पर्यायाः’ अर्थात् गुण द्रव्य का अन्वयि धर्म है पर्याय व्यतिरेकी धर्म है। उत्तराध्ययन में पर्याय को परिभाषित करते हुए कहा गया है—जो मात्र द्रव्याश्रित होता है उसे पर्याय कहते हैं। पर्याय द्रव्य एवं गुण दोनों के आश्रित होता है। वाचक ने पर्याय को परिणामन के रूप में व्याख्यायित किया है—तद्भावपरिणाम अर्थात् परिणाम पर्याय का ही दूसरा नाम है। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है उसी के भीतर उसमें परिवर्तन होता रहता है। द्रव्य न कूटस्थ है न क्षणिक है किन्तु परिणामी है। द्रव्य स्वयं मूल जाति का त्याग किए बिना प्रतिसमय भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं। द्रव्यों

की इन अवस्थाओं का नाम ही परिणाम है। दीपिका में पूर्व आकार का परित्याग और उत्तर आकार के ग्रहण को पर्याय कहा है। जीव देह नारक आदि में परिवर्तित होता है, पुद्गल भिन्न-भिन्न स्कन्ध के रूप में तथा धर्म आदि के साथ जीव एवं पुद्गल का संयोग वियोग होता है। ये सब द्रव्य की पर्याय है। जीव का ज्ञान दर्शन आदि गुणों में तथा पुद्गल का स्पर्श, रस आदि में परिवर्तन होता है ये सब गुण की पर्याय है।

पूर्व एवं उत्तर अवस्था अनन्त है अतः पर्याय भी अनन्त हैं किन्तु संक्षेप में उनको दो भागों में विभक्त किया जाता है। 1. व्यंजन पर्याय, 2. अर्थ पर्याय अथवा स्वभाव पर्याय एवं विभाव पर्याय।

1.17 द्रव्य के भेद

तत्त्व-मीमांसा के आलोक में जैन दर्शन में षड्द्रव्य का प्रतिपादन किया गया है। 1. धर्म 2. अधर्म, 3. आकाश, 4. काल, 5. पुद्गल, 6. जीव। भारतीय दर्शन में धर्म, अधर्म शब्द का प्रयोग आचार्य मीमांसा के संदर्भ में शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के अर्थ में हुआ है। तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से धर्म और अधर्म का मौलिक द्रव्यों के रूप में निरूपण जैन दर्शन में मिलता है।

1.17.1 धर्म

उत्तराख्ययन में धर्म का लक्षण 'गइलकखणो उ धम्मो' गति क्रिया सहायक किया है। पञ्चास्तिकाय में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया—धर्मास्तिकाय अमूर्त है। अतः इसमें स्पर्श आदि पौद्गलिक गुण नहीं हैं। वह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, असंख्य प्रदेशी है गतिशील जीव और पुद्गलों की गति में वह उदासीन सहायक है। जैसे जल मछली के गमन में सहायक है। गति सहायक धर्म द्रव्य की यही परिभाषा द्रव्यसंग्रह, द्रव्यानुयोग तर्कणा आदि ग्रंथों में उपलब्ध होती है।

1.17.2 अधर्म

अधर्म का स्वभाव भी धर्म जैसा ही है। मात्र उसके विशेष गुण में अन्तर पड़ता है। धर्म जैसे जीव और पुद्गल की गति में सहायक है वैसे अधर्म जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन रूप से सहायक है। जैसे पथिकों को विश्राम के लिये वृक्ष की छाया सहायक होती है।

1.17.3 आकाश

आकाश का लक्षण अवकाश देना है। भगवान् महावीर ने कहा जो सब द्रव्यों को युगपत् अवकाश देता है, स्थान देता है वह आकाश है। जो सब द्रव्यों का आधारभूत है, वह आकाश है।

1.17.4 काल

काल को भी जैन दर्शन में द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। द्रव्य मीमांसा में प्रयुक्त 'काल' शब्द का पर्यायवाची समय है। काल जीव अजीव सभी पर वर्तन करता है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल के लक्षण हैं।

1.17.5 पुद्गल

जो वर्ण, रांश, रस और स्पर्श से युक्त है, वह पुद्गल है।

1.17.6 जीव

जैन दर्शन में जीव द्रव्य को आत्मा भी कहा है। उत्तराख्ययन सूत्र में जीव का लक्षण उपयोग किया है उपयोग अर्थात् ज्ञान दर्शन की प्रवृत्ति है, वह जीव और जिसमें यह नहीं वह अजीव। अतः जैन दर्शन में द्रव्य का स्वरूप विस्तार से वर्णित है।

1.18 सारांश - अस्तु यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में दो विरोधों में समन्वय स्थापित करता है।

1.19 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन में द्रव्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए किसी एक अन्य भारतीय दर्शन के द्रव्य की भी चर्चा करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य के स्वरूप की व्याख्या करें।
2. गुण और पर्याय को समझाएं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(क) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक या दो वाक्य में दें:

1. द्रव्य कितने हैं नाम लिखें।
2. नित्य का स्वरूप क्या है?
3. सहानवस्थान विरोध को समझाइए।
4. जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य की मौलिक परिभाषा क्या है।
5. आकाश का लक्षण क्या है।

(ख) निम्नलिखित रिक्त स्थानों की पूर्ति करें:

1. तत्त्व मीमांसा को का मुख्य आधार माना है।
2. द्रव्यों में समान रूप से व्याप्त रहने वाला गुण कहलाता है।
3. गुण निरन्तर साथ रहता है बदलती रहती है।
4. जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह है।
5. जो वर्ण से युक्त है, वह पुद्गल है।

इकाई-2, 3 : द्रव्य-गुण-पर्याय भेदाभेदवाद

संरचना

- 2.0 प्रस्तावना
- 2.1 उद्देश्य
- 2.2 द्रव्य और गुण का भेदाभेदवाद
- 2.3 द्रव्य और गुण का एकान्त भेदवाद
- 2.4 भेदवाद की समीक्षा
- 2.5 द्रव्य और गुण का एकान्त अभेदवाद
- 2.6 अभेदवाद की समीक्षा
- 2.7 गुण और पर्याय : एकार्थक या भिन्नार्थक
- 2.8 द्रव्य और पर्याय का भेदाभेदवाद
- 2.9 सारांश
- 2.10 प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

दार्शनिक जगत् में तत्त्वमीमांसा का प्रमुख स्थान है। 'द्रव्य' तत्त्वमीमांसा का एक विशिष्ट अंग माना जाता है। जो अस्तित्ववान हो, वह द्रव्य कहलाता है। 'द्रु' धातु के साथ 'य' प्रत्यय के योग से निष्पन्न द्रव्य शब्द का अर्थ है—योग्य। जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की प्राप्ति के योग्य हो उसे द्रव्य कहा जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करें तो 'अद्रुवत्, द्रवति, द्रोष्यति तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्'—जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, प्राप्त होता है और प्राप्त होगा वह द्रव्य है। तात्पर्यार्थ की भाषा में कहें तो उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है।

कुन्दकुन्द ने निरुक्त की दृष्टि से विचार करते हुए मुख्य रूप से द्रव्य की दो कसौटियों का निर्देश किया है—“जो उन-उन सद्भूत पर्यायों को प्राप्त करता है तथा जो सत्ता से अनन्यभूत हो, वह द्रव्य कहलाता है।”

दवियदि गच्छदि ताई ताई सम्भावपञ्चयाई जं।

दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो॥ (पंचास्तिकाय गा. 9)

पूज्यपाद और अकलंक ने गुण को आधार बनाकर द्रव्य का निरुक्त किया है। 'गुणैर्गुणान्वा द्रुतं गतं गुणैर्द्रोष्यते, गुणान्द्रोष्यतीति द्रव्यम्। जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणों को प्राप्त हुआ था, अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जाएगा अथवा गुणों को प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं। (तत्त्वार्थवार्तिक 1/5) इसी तरह अन्यत्र वे पर्याय को आधार बनाकर भी द्रव्य शब्द का विचार करते हैं—‘पर्यायैर्दूयन्ते द्रवन्ति वा तानि इति द्रव्यणि’। अर्थात् जो अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं अथवा पर्यायों को प्राप्त होते हैं, वे द्रव्य कहलाते हैं। (तत्त्वार्थवार्तिक 5/2)

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने 'द्रव्य' पद का निर्वचन करते हुए उसे अनेक संदर्भों में प्रस्तुत किया है—

दवए दुयए दोखयवो विगारो गुणाण संदावो।

दव्वं भव्वं भावस्स भूअभावं च जं जोग्गं॥ (विशेषावश्यकभाष्य गा. 28)

द्रव्य वह कहलाता है—1. जो अपने पर्यायों को प्राप्त होता है और उनसे मुक्त होता है। 2. जो अपने पर्यायों द्वारा गृहीत होता है और परित्यक्त (मुक्त) होता है। 3. जो सत्ता (महासत्ता) का अवयव अथवा विकार है। 4. जो रूप आदि गुणों का समुदाय है। 5. जिसमें भूतकालीन और भविष्यत्कालीन पर्यायों की योग्यता है।

आचार्य उमास्वाति ने द्रव्य की दो परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं जो इस प्रकार हैं—1. द्रव्य वह कहलाता है जो सत् अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हो। 2. द्रव्य वह कहलाता है जो गुण और पर्याय से युक्त हो।

2.1 उद्देश्य

इसके अध्ययन से द्रव्य गुण पर्याय भेदाभेदवाद की सम्यक् जानकारी हो सकेगी।

2.2 द्रव्य और गुण का भेदाभेदवाद

जैन तत्त्वमीमांसा का एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि द्रव्य और गुण में क्या संबंध है? इस प्रश्न के समाधान में दो विचार उभरकर सामने आते हैं। उनमें एक विचार एकान्ततः भिन्नता को आधार मानकर है तो दूसरा एकान्ततः अभिन्नता को।

2.3 द्रव्य और गुण का एकान्त भेदवाद

वैशेषिक मत के अनुसार द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न हैं। आद्य क्षण में द्रव्य निर्गुण होता है। तदनन्तर समवाय नामक पदार्थ के द्वारा दोनों में सम्बन्ध स्थापित होता है, द्रव्य और गुण की पृथक्ता के आधारभूत हेतु दो हैं—1. लक्षण की भिन्नता, 2. ग्राहक प्रमाण की भिन्नता। (लघीयस्त्रयी 60)

द्रव्य और गुण के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य गुणों का आधार है जबकि गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं। द्रव्य गुणवान होता है जबकि गुण निर्गुण होते हैं अर्थात् गुणों के गुण नहीं होते। द्रव्य क्रियावान होता है जबकि गुण निष्क्रिय होते हैं। लक्षण की तरह दोनों (द्रव्य और गुण) के ग्राहक प्रमाण भी भिन्न हैं। घट, पट, पुस्तक आदि द्रव्यों का ग्रहण एक से अधिक अर्थात् नेत्र और स्पर्शन—इन दो इन्द्रियों के द्वारा होता है। द्रव्य के ग्रहण में मानसिक अनुशीलन भी साथ में जुड़ जाता है। रूप, रस, स्पर्श आदि गुणों का ग्रहण एक इन्द्रिय सापेक्ष होता है तथा इसमें मानसिक अनुसंधान भी नहीं होता। इस प्रकार द्रव्य और गुण दोनों के लक्षण व ग्राहक प्रमाण पृथक्-पृथक् हैं अतः दोनों की पृथक्ता स्वतः प्रमाणित होती है।

वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने वैशेषिकों के अलावा कुछ जैन-आचार्यों का भी भेदवादी के रूप में उल्लेख किया है किन्तु नाम नहीं लिखा। वृत्तिकार अभयदेवसूरि की तरह उपाध्याय यशोविजय जी द्वारा विरचित 'द्रव्यगुणपर्याय नो रास' में द्रव्य और गुण के संबंध में दिगम्बर आचार्य द्वारा भेद की परम्परा को मानने की परम्परा का उल्लेख मिलता है। किस आचार्य ने भेदवाद को स्वीकार किया है—यह निर्णायक तौर पर कहना कठिन है क्योंकि सर्वथा भेद मानना एकान्त दर्शन के अनुरूप नहीं है। अतः यह कल्पना की जा सकती है कि जिस आचार्य ने द्रव्य और गुण में भेद स्वीकृत किया है वे निश्चित ही न्याय-वैशेषिक परम्परा से प्रभावित थे। भेदवादी दार्शनिकों ने संज्ञा, संख्या, संस्थान आदि के आधार पर भी द्रव्य और गुण को परस्पर भिन्न सिद्ध किया है।

2.4 भेदवाद की समीक्षा

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य और गुण दोनों सर्वथा भिन्न हैं। यह एकान्त भेदवादी अवधारणा जैन दर्शन की भेदाभेदवादी विचारणा से भेदा नहीं खाती। जैन आचार्यों ने इस दृष्टि से तर्कपूर्ण विस्तृत विवेचन किया है। जिसमें उमास्वाति, कुन्दकुन्द, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उमास्वाति ने 'गुणपर्यववद् द्रव्यम्' कहा है। यदि उन्हें दोनों की स्वतंत्रता इष्ट होती तो संभव है वे द्रव्य की परिभाषा में गुण और पर्याय को युति का उल्लेख नहीं करते। उनके अनुसार द्रव्य तभी द्रव्य कहलाता है जब उसके साथ गुण और पर्याय दोनों का योग हो। उन्होंने यहाँ तक कहा कि गुण और पर्याय से रहित द्रव्य की बुद्धि से मात्र कल्पना की जा सकती है। वस्तु जगत् में इनका भेद संभव नहीं है। (धवला, पुस्तक 9 पृ. 163) कुन्दकुन्द ने द्रव्य और गुण में परस्पर अविनाभाव संबंध का उल्लेख किया है। उन्होंने द्रव्य और गुण के सर्वथा भेद को अनुचित बतलाते हुए दो दोषों की उद्भावना की है—1. द्रव्यों की अनन्तता, 2. द्रव्य का अभाव।

गुण सदैव द्रव्य के आश्रित रहते हैं। यदि गुणों को सर्वथा भिन्न माना जाए तो गुणों के आश्रयभूत किसी अन्य द्रव्य की कल्पना करनी होगी। इसी प्रकार पुनः उस द्रव्य में निहित गुणों को स्वतंत्र मानने पर उन गुणों के आश्रयभूत किसी अन्य द्रव्य की कल्पना करनी होगी। परिणामतः अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होगा। चूँकि गुण अनन्त हैं फलतः द्रव्य भी अनन्त हो जाएँगे। गुणों का समुदाय ही द्रव्य कहलाता है। यदि गुणों को सर्वथा द्रव्य से भिन्न मानेंगे तो द्रव्य का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जाएगा। प्रकारान्तर से कहें तो द्रव्य का अभाव हो जाएगा। (अनुयोगद्वार सूत्र 605-608)

नैयायिक, वैशेषिक व्यपदेश, संख्या, संस्थान, विषय आदि के आधार पर द्रव्य और गुण को भिन्न बतलाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार व्यपदेश, संख्या आदि जिस तरह भेद में होते हैं, उसी तरह अभेद में भी होते हैं। जहां अनेक द्रव्यों की अपेक्षा प्रतिपादन हो वहां व्यपदेश आदि का भेद भेदवाद का प्रतीक बन जाता है। जहां एक ही द्रव्य की अपेक्षा कथन हो वहां व्यपदेश आदि अभेद का प्रतीक बन जाता है। (सन्मति प्रकरण 1/21) वृत्तिकार अमृतचन्द्रसूरि ने व्यपदेश, संख्या, संस्थान और भेद—इन चारों के भेद और अभेद को उदाहरणों से समझाया है।

द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं क्योंकि सर्वथा भेद वहीं होता है जहां प्रदेशभेद हो। जिस प्रकार स्वर्ण और पीत आदि में संज्ञा आदि का भेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है वैसे ही द्रव्य और गुण में प्रदेशभेद नहीं है। द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न मानने पर कार्य-कारण, विशेषण-विशेष्य तथा अवयव-अवयवी आदि में परस्पर संबंध नहीं होगा। एक पदार्थ का धर्म दूसरे पदार्थ के धर्म से पृथक् अस्तित्व कायम रखने में असमर्थ हो जाएगा। अग्नि का धर्म उष्णता माना जाता है और जल का शीतलता पर यदि अग्नि रूप द्रव्य को उष्णत्व रूप गुण से सर्वथा भिन्न मानें तो उष्णत्व अग्नि की भांति जल का भी धर्म हो जाएगा। इस प्रकार स्वभाव की स्थिरता नहीं रहेगी।

यहां वैशेषिकों का तर्क समवाय पर आकर ठहरता है। उनके अनुसार धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न होने पर भी सदा समवाय संबंध से संबंधित रहते हैं। समवाय संबंध स्थायी और नित्य संबंध है। समवाय संबंध भी संयोग की भांति दो में होता है पर संयोग संबंध अनित्य है जबकि समवाय संबंध नित्य है। समवाय संबंध सदैव अयुतसिद्ध पदार्थों में होता है अर्थात् समवाय संबंध उनमें होता है जो पूर्व में भी पृथक्-पृथक् नहीं होते। उदाहरण के लिए घट से घटत्व को कभी विलग नहीं किया जा सकता अतः घट से घटत्व का संबंध समवाय संबंध है।

वैशेषिक दार्शनिक जहां द्रव्य और गुण में तथा अवयव-अवयवी में समवाय संबंध मानते हैं वहां जैन दर्शन समवाय नामक स्वतंत्र पदार्थ ही नहीं मानता। जैनों के अनुसार यदि समवाय की स्वतंत्र सत्ता मान भी लें तो जिस प्रकार पट में पटत्व के संबंध का हेतु समवाय है उसी प्रकार समवाय में समवायत्व के संबंध का हेतु कोई दूसरा समवाय होना चाहिए। इसी प्रकार दूसरे समवाय में समवायत्व के संबंध का हेतु तीसरा समवाय मानना होगा। इस प्रकार अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि यह कहें कि समवाय में समवायत्व का होना अपेक्षित नहीं है तो समवाय निःस्वभाव हो जायेगा। अतः धर्म और धर्मी को अत्यन्त भिन्न मानना और फिर उनमें समवाय संबंध मानना युक्तिसंगत नहीं है। जैनदर्शन में समवाय सम्बन्ध के स्थान पर मूलतः तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकृत है। सहवर्ती द्रव्य और गुणों में कथंचिद् एकत्व अथवा तादात्म्य ही समवाय है। (सन्मति प्रकरण 1/26)

सिद्धसेन दिवाकर का अभिमत मूलतः जैन अवधारणा का पक्षपाती है। जैनदर्शन का मूल आधार है—सापेक्षता। सिद्धसेन अनेकान्तवाद के प्रतिष्ठापक आचार्यों में प्रमुख हैं, अतः उन्होंने द्रव्य और गुण के भेदाभेद से सम्बन्धित प्रश्न को सापेक्षता के आधार पर समाहित किया है। उन्होंने सन्मति प्रकरण में द्रव्य के मूल स्वरूप को आधार बनाकर भेदवादी विचार को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर दोषोद्भावना की है।

जैन मतानुसार प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और श्रौव्य से युक्त होता है। प्रस्तुत व्याख्या को ही आधार मानकर भेदवादी कहते हैं कि द्रव्य का लक्षण है—स्थिरता और गुण का लक्षण है—उत्पाद-व्यय। दोनों के लक्षण भिन्न हैं परिणामतः द्रव्य और गुण दोनों भिन्न हैं।

सिद्धसेन के अनुसार उपर्युक्त अवधारणा में अव्याप्ति दोष है। द्रव्य की तरह गुण भी स्थिर रहते हैं और गुण की तरह द्रव्य का भी उत्पाद और व्यय देखा जाता है। अतः मात्र स्थिरता को द्रव्य का तथा उत्पाद व विनाश को गुण का लक्षण बताना अव्याप्ति दोष है। यह लक्षण किसी भी सत् (अस्तित्ववान्) पदार्थ पर लागू नहीं होता।

उनका दूसरा तर्क मूर्तता और अमूर्तता पर आधारित है। प्रस्तुत संदर्भ में प्रसंगवश मूर्त और अमूर्त का स्वरूप भी ज्ञातव्य है क्योंकि सिद्धसेन द्वारा मान्य मूर्तामूर्त की व्याख्या आगमसम्मत न होकर कुन्दकुन्द से प्रभावित प्रतीत होती है। आगम साहित्य में मूर्त का अर्थ है—वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श का सहभावा

जिसमें वर्ण, गंध आदि न मिले वह अमूर्त कहलाता है। छह द्रव्यों में से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—ये तीनों द्रव्य एकान्ततः अमूर्त हैं। जीव कथंचिद् मूर्त है। वह संसारावस्था की अपेक्षा मूर्त तथा शुद्ध स्वरूपापेक्षया अमूर्त माना गया है। पुद्गलास्तिकाय एकान्ततः मूर्त है। पुद्गलास्तिकाय की सर्व-सूक्ष्म इकाई है—परमाणु। यद्यपि परमाणु का साक्षात् ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञानी ही कर सकता है तथापि उसे वर्ण, गंध आदि से युक्त होने के कारण अमूर्त नहीं कहा जा सकता।

सिद्धसेन ने मूर्त और अमूर्त की भेदरेखा इन्द्रियों की ग्राह्यता और अग्राह्यता के आधार पर निर्धारित की है। कुन्दकुन्द ने जहां मूर्त व अमूर्त द्रव्यों का विवेक किया है वहां उन्होंने आगमोक्त विचारधारा का समर्थन करते हुए पांचों द्रव्यों को अमूर्त तथा एक पुद्गलास्तिकाय को मूर्त स्वीकार किया है। परन्तु जहां वे मूर्त और अमूर्त के स्वरूप पर विचार करते हैं वहां वे मूर्त को इन्द्रियग्राह्य और अमूर्त को इन्द्रिय-अग्राह्य कहते हैं। (सन्मति प्रकरण 3/46) ग्रन्थकार ने मूर्त और अमूर्त के परिप्रेक्ष्य में मूलतः परमाणु का उल्लेख किया है। जहां तक परमाणु के इन्द्रियग्राह्यता न होने का प्रश्न है सिद्धसेन का विचार आगमों से सम्मत है। आगम साहित्य में परमाणु की इन्द्रियग्राह्यता का निषेध व उसके अतीन्द्रियत्व का प्रतिपादन मिलता है। सामान्य व्यक्ति के लिए तो परमाणु ही नहीं द्विप्रदेशी पुद्गल स्कन्ध से लेकर असंख्यप्रदेशी पुद्गलस्कन्ध पर्यंत कोई भी पुद्गलस्कन्ध ज्ञान का विषय नहीं है। इन्द्रियज्ञान का विषय अनन्तप्रदेशी पुद्गलस्कन्ध ही बनता है। अतः परमाणु के इन्द्रियग्राह्यत्व की दृष्टि से सिद्धसेन आगम सम्मत परम्परा का ही अनुसरण करते हैं पर जहां वे मूर्त और अमूर्त की भेदक कसौटी के रूप में इन्द्रियग्राह्यता को आधार बनाकर निरूपण करते हैं, वहां उनका विचार आगम परम्परा से भिन्न हो जाता है।

यहां हमारा प्रतिपाद्य विषय है—द्रव्य और गुण का भेदाभेद। द्रव्य और गुणों को सर्वथा भिन्न मानने पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि द्रव्य से भिन्न गुण मूर्त होता है अथवा अमूर्त? प्रथम पक्ष (मूर्त) मानने पर परमाणु भी इन्द्रियग्राह्य बन जाएंगे। परिणामतः उनका अतीन्द्रियत्व संशयापन्न हो जाएगा। द्वितीय पक्ष (अमूर्त) मानने पर गुणों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण ही संभव नहीं होगा जबकि घट, पट, नील, पीत आदि गुणों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है। इस प्रकार द्रव्य को गुणों से भिन्न मानना दोषयुक्त है। (सम्मतितर्क प्रकरणम् (वृत्ति) पृ. 655) सिद्धसेन के अनुसार उपर्युक्त दोषापत्ति से बचाव का श्रेयस्कर मार्ग है—भेदाभेद की स्वीकृति। भेदाभेदवाद मानने पर मूर्तामूर्त का प्रश्न स्वतः समाहित हो जाता है। द्रव्य गुणों से कथंचिद् भिन्न है—यह मानने पर अतीन्द्रिय द्रव्यों के गुण अतीन्द्रिय (अमूर्त) होंगे और इन्द्रियग्राह्य द्रव्यों के गुण इन्द्रियग्राह्य अथवा मूर्त होंगे।

2.5 द्रव्य और गुण का एकांत अभेदवाद

अभेदवादी मत के अनुसार प्रत्येक द्रव्य की अखण्ड सत्ता है। वस्तु में गुणकृत विभाग नहीं होता। जिस प्रकार पुद्गल से व्यतिरिक्त वर्ण, गंध, रस व स्पर्श नहीं होते, उसी प्रकार द्रव्य के अभाव में गुण और गुण के अभाव में द्रव्य के अस्तित्व की परिकल्पना ही संभव नहीं है। द्रव्य और गुण परस्पर अव्यतिरिक्त होने से अभिन्न हैं। द्रव्य को हम सामान्य, अन्वय आदि शब्दों से भी अभिहित कर सकते हैं।

अद्वैत वेदान्ती, सांख्य व मीमांसक वस्तु को सर्वथा सामान्य मानते हैं। सामान्य से भिन्न विशेष दृष्टिगोचर ही नहीं होते। सामान्य से भिन्न विशेषों का अस्तित्व मानने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि विशेषों में विशेषत्व होता है या नहीं? यदि प्रथम पक्ष को आधार बनाकर विचार करें अर्थात् 'विशेषों में विशेषत्व होता है'—यह मानें तो कहना होगा कि वही 'विशेषत्व' सामान्यवादियों का सामान्य है। यदि यह कहें कि विशेषों में विशेषत्व नहीं होता तो विशेष निःस्वरूप हो जाएंगे।

विशेष से सामान्य भिन्न है या अभिन्न? इस संदर्भ में टीकाकार मल्लिषेण का कहना है कि विशेषों को सामान्य से भिन्न मानना मण्डूक के जटाधार का अनुकरण करना है। विशेषों को सामान्य से अभिन्न मानने का अर्थ होगा—सामान्य की स्वीकृति। अतः अभेदवादी मत के अनुसार "सामान्य ही सत् है"। (आप्तमीमांसा का. 108)

भारतीय दार्शनिक साहित्य के इतिहास में अद्वैत का समर्थन करने वाली सभी परम्पराएं एकमात्र सामान्य को ही सत् (यथार्थ) मानती हैं। ब्रह्माद्वैतवादी दर्शन में ब्रह्म ही 'सामान्य' है और वही परमार्थ सत् है। वह कूटस्थ नित्य और अपरिवर्तनशील है। चेतन और अचेतन के सारे भेद ब्रह्म के ही प्रतिभास हैं। घट, पट,

कृष्ण, नील आदि का जो वैविध्य हमें दिखायी देता है उसका कारण है—अविद्या। अविद्या के कारण दिखायी देने वाला जगत् का वैचित्र्य उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार शुक्ति में रजत की प्रतीति।

ब्रह्माद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि सभी प्रमाण एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करते हैं। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—निर्विकल्पक और सविकल्पक। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मूलतः ब्रह्म की सत्ता का समर्थक है। सविकल्पक प्रत्यक्ष भी ब्रह्म से अन्वित, घट, पट आदि का ही ग्रहण करता है अतः वह भी अभेद रूप ब्रह्म को ही सिद्ध करता है।

अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण भी ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करते हैं। 'विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात्'—जो विधि रूप होता है वही तत्त्व है क्योंकि वही प्रमाण का विषय बनता है। जो विधिरूप नहीं होता वह प्रमेय भी नहीं होता। यहां विधि का तात्पर्य परब्रह्म से है और वही परमार्थ सत् है। इसी तरह आगमों (वेद व उपनिषदों) में स्थान-स्थान पर अद्वैत-समर्थक सूक्त मिलते हैं। ऋग्वेद का प्रसिद्ध सूक्त है—“पुरुष एवेदं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।” छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म की सर्वव्यापकता को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहकर व्याख्यायित किया गया है। इसी तरह बृहदारण्यक उपनिषद्, कठोपनिषद् आदि में भी ब्रह्म की अद्वैत सत्ता के सूचक अनेकों सूक्त उपलब्ध होते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ब्रह्माद्वैतवादी अभिमत से संसार के समस्त जड़ व चेतन पदार्थ ब्रह्म के ही पर्याय हैं। देश, काल व शक्ति की अपेक्षा भिन्न होने पर भी मूलतः ब्रह्म से अभिन्न हैं। परिणामतः अभेदपक्ष का व्याघात संभव नहीं है।

ब्रह्माद्वैतवादी की तरह शब्दाद्वैतवादी शब्द को परमार्थ सत् मानते हैं। उनके अनुसार 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' अर्थात् परब्रह्म की प्राप्ति उसी को होती है जो शब्दब्रह्म में निष्णात होता है। (स्वयंभूस्तोत्र श्लोक-61) तात्पर्यार्थ की दृष्टि से विचार करें तो शब्दब्रह्म ही वस्तुतः परब्रह्म है। वह अनादिनिश्चय व अक्षर है। सारा जगत् इस शब्दब्रह्म का ही विवर्त है। इतना ही नहीं, शब्दाद्वैतवादी अभिमत से तो इस लोक में ऐसा कोई प्रत्यय ही नहीं जो शब्द के बिना निष्पन्न हो सके। सभी पदार्थ शब्दानुविद्ध होकर ही प्रतिभासित होते हैं। ज्ञान में से यदि वचनरूपता निकल जाए तो प्रकाश रूप ज्ञान भी प्रकाश नहीं कर सकता। वाणी (वचनरूपता) ही हमारे सारे विमर्श का आधार है।

इसी प्रकार ज्ञानाद्वैतवादियों के अनुसार ज्ञान ही एक मात्र सत् है। ज्ञान से व्यतिरिक्त बाह्य पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि ये स्वतः प्रतिभासित नहीं होते। निष्कर्ष रूप से यही कहना होगा कि अद्वैतवाद से सम्बन्धित सभी शाखाएं अभेद को ही सत्य मानती हैं।

2.6 अभेदवाद की समीक्षा

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। विशेषरहित सामान्य तथा सामान्यरहित विशेष उसी तरह असंभव है जिस तरह खरविषाण। प्रमाण का विषय भी उभयात्मक वस्तु ही बनती है। सामान्य को हम अभेद और विशेष को भेद कहें तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु भेदाभेदात्मक होती है। अभेदवादी द्रव्य को यथार्थ मानते हैं, गुण और पर्याय के आधार पर होने वाली भिन्नता उनकी दृष्टि में मिथ्या अथवा प्रतिभास मात्र है।

यहां ज्ञातव्य है कि गुण और पर्याय भी उतने ही वास्तविक हैं, जितने द्रव्य। अनन्त जड़ व चेतन पदार्थ 'द्रव्यत्व' जाति की दृष्टि से एक होने पर भी सबकी अपनी-अपनी पृथक् सत्ता है। यथार्थ के जगत् में एकान्त अभेद की बात मात्र कल्पना का विषय हो सकती है।

एकान्त अभेदवाद में कर्त्ता, कर्म, करण आदि अनेक कारकों का और गति, आगति आदि अनेक क्रियाओं का प्रत्यक्षसिद्ध भेद बाधित हो जाता है। इसी तरह अद्वैतपक्ष में शुभाशुभ कर्म का फल, इहलोक-परलोक, ज्ञान-अज्ञान, बन्ध-मोक्ष आदि युग्मों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। (विशेषावश्यकभाष्य गा. 101)

अकलंक के अनुसार द्रव्य और गुण को एकान्ततः अभिन्न मानने पर या तो गुण रहेंगे या द्रव्य। गुण निराश्रय रह नहीं सकते, फलतः द्रव्य के अभाव में गुणों का भी अभाव हो जाएगा। यदि द्रव्य की ही सत्ता मानें तो द्रव्य निःस्वभाव हो जाएंगे क्योंकि गुणों के आधार पर ही द्रव्य के स्वरूप का निर्धारण होता है।

ब्रह्माद्वैतवादी मत में जहां एक मात्र ब्रह्म की सत्ता ही प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध है वहां द्वैतवादी अवधारणा के अनुसार प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण मूलतः द्वैत के ही साधक हैं। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा यदि ब्रह्म की सिद्धि मानें तो साधन और साध्य का द्वैत ही सिद्ध होता है क्योंकि ऐसा मानने पर ब्रह्म साध्य होगा और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष साधन। इसी तरह अनुमान में ब्रह्मरूप साध्य और हेतु का तथा आगम प्रमाण में आगम और ब्रह्म का भेद ही सिद्ध होता है।

प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व की कसौटी है—अर्थक्रियाकारित्व।

द्रव्य और गुणों में अथवा सामान्य और विशेष में एकान्त अभेद मानने पर अर्थक्रिया संभव नहीं हो सकती। अर्थक्रिया के अभाव में वस्तु का अस्तित्व ही संशयास्पद हो जाएगा।

‘ब्रह्म से भिन्न अविद्या वास्तविक नहीं है’—वेदान्त दर्शन की यह मान्यता भी निराधार प्रतीत होती है। जब अविद्या की परमार्थतः सत्ता ही नहीं है तथा ब्रह्म ही सत् है, तब श्रवण, मनन व निदिध्यासन के द्वारा अविद्या निवृत्ति का प्रयास भी व्यर्थ हो जाएगा।

निष्कर्ष यही है कि द्रव्य और गुण का एकान्त अभेद मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

द्रव्य और गुण दोनों परस्पर भिन्नाभिन्न हैं। सिद्धसेन दिवाकर को द्रव्य और गुण में न एकान्त अभेद मान्य है और न एकान्त भेद। सन्मति प्रकरण का तृतीय काण्ड इसी भेदाभेद विषयक चर्चा से प्रारम्भ होता है।

सामान्य और विशेष दोनों परस्पर अनुविद्ध हैं। एकान्त सामान्य अथवा एकान्त विशेष के प्रतिपादन का अर्थ होगा द्रव्य रहित पर्याय अथवा पर्याय रहित द्रव्य का प्रतिपादन। वास्तविकता यह है कि कोई भी विचार या वचन एकान्त, सामान्य या विशेष के आधार पर प्रवृत्ति नहीं कर सकता। दोनों सापेक्ष रहकर ही यथार्थ का प्रतिपादन कर सकते हैं। यहां वृत्तिकार ने नियम का उल्लेख किया है—‘यत् यदात्मकं भवति, तत् तदभावे न भवति।’ इसका तात्पर्य है कि सामान्य के अभाव में विशेष का और विशेष के अभाव में सामान्य का सद्भाव उसी तरह संभव नहीं जिस तरह घट के अभाव में मिट्टी का और मिट्टी के अभाव में घट आदि का।

अभेदवादी द्रव्य और गुण में एकान्त अभेद मानते हैं। वे एक सामान्य तत्त्व को ही स्वीकार करते हैं, विशेषों को नहीं। उदाहरण के लिए ‘जैसे कोई एक ही पुरुष संबंधों की भिन्नता के कारण भिन्न संबोधनों से पुकारा जाता है। पिता उसे पुत्र कहता है जबकि वही अपने पुत्र के द्वारा ‘पिता’ इस संबोधन से अभिहित होता है। वह अपने भानजे के लिए मामा और मामा के लिए भानजा है। जिस प्रकार पुरुष की दृष्टि से समान होने पर भी भिन्न-भिन्न संबंधों के कारण वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में संबोधित किया जाता है, उसी प्रकार एक व निर्विशेष होने पर भी सामान्य भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के संबंध से भिन्न रूप में व्यवहृत होता है। वही सामान्य द्रव्य जब नेत्रग्राह्य होता है, हम उसे रूप कहते हैं। जब वह श्रोत्रग्राह्य होता है, हम उसे शब्द कहते हैं। इसी तरह वह घ्राणग्राह्य, जिह्वाग्राह्य और त्वक्ग्राह्य होने पर क्रमशः गंध, रस और स्पर्श कहलाता है। अतः गुण वस्तुतः द्रव्य से भिन्न नहीं है। परमार्थ सत्ता द्रव्य की ही है।

इस प्रकार सिद्धसेन ने सन्मति प्रकरण में पूर्वपक्ष के रूप में पहले अभेदवादी मन्तव्य को प्रस्तुत कर बाद में उसका निरसन भी किया है। वे अभेदवादी विचार का इस अंश तक तो समर्थन करते हैं कि सम्बन्ध-विशेष के कारण वही सामान्य द्रव्य भिन्न-भिन्न रूपों में व्यवहृत होता है पर प्रश्न वहां उपस्थित होता है जहां एक ही इन्द्रिय के संबंध से संबद्ध दो वस्तुओं में विषमता परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ एक समान दो कृष्ण पदार्थों का चक्षु के साथ संबंध होने पर ‘ये कृष्ण वर्ण वाले हैं’—इतना तो बोध हो जाता है पर वह किसी दूसरे कृष्ण पदार्थ से अनन्तगुण कृष्ण है या असंख्य गुण कृष्ण—इस भेद का ज्ञान संबंध मात्र से कैसे सिद्ध होगा?

इसी प्रकार दो फलों का रसनेन्द्रिय से संपर्क होने पर उनके रस का बोध होता है पर पहले की अपेक्षा दूसरा दुगुना मधुर या अम्ल है—यह वैषम्य कैसे ज्ञात होगा? इतना ही नहीं पूर्वपक्ष द्वारा पुरुष का जो दृष्टान्त दिया गया, वह भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न संबंधों के कारण पिता, भाई, मामा आदि भिन्न-भिन्न रूपों में पहचाना जाता है। पर वही पुरुष एक की अपेक्षा लम्बा और दूसरे की अपेक्षा छोटा, एक की अपेक्षा दुर्बल व दूसरे की अपेक्षा बलवान कहलाता है, कैसे चरित होगा? (अष्टशती, अष्टसहस्री पृ. 290)

उपर्युक्त विषमता व तास्तम्य को प्रतिभास व कल्पना कहकर भी नहीं टाला जा सकता। आगम साहित्य में एक परमाणु का दूसरे परमाणु से अनन्तगुना भेद वर्णित है। पदार्थ में वर्ण, गंध, रस की अपेक्षा तथा वर्ण आदि में भी कृष्ण, नील आदि की अपेक्षा तथा गंध में सुगंध व दुर्गंध आदि की अपेक्षा भेद देखा जाता है। इसी तरह रस, स्पर्श आदि के अवान्तर भेदों में भी षड्गुणहानि वृद्धि की दृष्टि से तास्तम्य निरूपित है। वैषम्य वस्तु का स्वभाव है और वही विशेष है अतः विशेषों को आरोपित कहना उचित नहीं। ये विशेष ही गुण या परिणाम कहलाते हैं, अतः द्रव्य और गुणों के बीच एकान्त भेद या एकान्त अभेद न मानकर कथंचिद् भेदाभेद मानना ही सर्वथा युक्तिसंगत है।

2.7 गुण और पर्याय : एकार्थक या भिन्नार्थक

प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्याय से युक्त होता है। 'अर्थ' कहने से द्रव्य, गुण और पर्याय—तीनों का ग्रहण हो जाता है। स्पष्टता से कहें तो संसार के समस्त पदार्थ इस त्रयी में समाविष्ट हो जाते हैं। (अष्टशती, अष्टसहस्री पृ. 290) आगम साहित्य में सहभावी और क्रमभावी—दोनों ही धर्मी के लिए 'पर्याय' शब्द का प्रयोग मिलता है। वहां गुण और पर्याय का अर्थभेद विवक्षित नहीं है। उत्तरकालीन दार्शनिक साहित्य में गुण और पर्याय का क्रमशः सहभावी और क्रमभावी धर्मी के लिए प्रयोग प्रचलित हो गया।

यहां हमारा मुख्य विचारणीय विषय है—गुण और पर्याय दोनों एकार्थक हैं या भिन्नार्थक? उत्तराख्ययन सूत्र में द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों का स्वतंत्र निरूपण है। उमास्वाति, कुन्दकुन्द व पूज्यपाद ने द्रव्य और गुण तथा गुण और पर्याय में अर्थभेद बतलाया है। पूज्यपाद ने द्रव्य, गुण और पर्याय का स्वरूप बताने वाली एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है—

गुण इति दल्लविहाणं दल्लविकारो हि पज्जवो भणिदो।

तेहि अणूणं दल्लं अबुदपसिद्धं हवे दल्लं॥

यह गाथा किस ग्रन्थ की है, यह बतलाना कठिन है पर पूज्यपाद के ग्रन्थ में उद्धृत होने से उसकी प्राचीनता असंदिग्ध रूप से मानी जा सकती है। इस गाथा के माध्यम से पूज्यपाद ने गुण और पर्याय का अर्थभेद सिद्ध किया है।

सिद्धसेन दिवाकर ने गुण और पर्याय का अभेदपक्ष स्वीकार किया है। उन्होंने द्रव्य और पर्याय—इन दोनों को ही मान्य किया है। गुण मूलतः पर्याय का ही वाचक है। सिद्धसेन का यह विचार आगमसम्मत है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—दो उण णया भगवया दल्लद्विय-पज्जवद्विया नियया।

एतो य गुणविसेसे गुणद्वियणओ वि जुज्जंतो॥

जं गुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाइणं।

पज्जवसण्णा णियमा वागरिया तेण पज्जाया॥

भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय निश्चित किए हैं। यदि उससे अर्थात् पर्याय से गुण भिन्न होता तो गुणार्थिक नय भी उन्हें निश्चित करना चाहिए था। चूंकि अर्हत्तों ने उन-उन सूत्रों में गौतम आदि के समक्ष पर्याय संज्ञा निश्चित करके उसी का विवेचन किया है, अतः ऐसा मानना चाहिए कि पर्याय ही है। पर्याय से भिन्न गुण नहीं है।

पर्यायार्थिक नय से भिन्न गुणार्थिक नय की उद्भावना करते हुए 'गुण' का निरास तथा गुण और पर्याय में अभेद-प्रस्थापना का सर्वप्रथम प्रयास सिद्धसेन ने किया है। इससे पूर्व गुणार्थिक नय संबंधी उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता। कुन्दकुन्द ने यद्यपि द्रव्य और गुण के तथा द्रव्य और पर्याय के अविनाभाव की चर्चा की है पर गुण और पर्याय के अभेद की चर्चा उन्होंने भी नहीं की। अकलंक और विद्यानन्दी ने गुण और पर्याय के संदर्भ में अभेद पक्ष को स्पष्टतया स्वीकार नहीं किया। अकलंक ने भेद और अभेद दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। विद्यानन्दी ने मूलतः भेदपक्ष को स्वीकार किया है पर प्रकारान्तर से वे अभेदपक्ष को भी स्वीकार करते हैं।

गुण और पर्याय भिन्न नहीं है। आगम साहित्य में पर्यायार्थिक नय की भांति गुणार्थिक नय का स्वतंत्र उल्लेख क्यों नहीं हुआ? उस आशंका से प्रेरित होकर दिवाकर ने दोनों की एकार्थता सिद्ध की है। अकलंक और विद्यानन्दी ने उक्त आशंका का अपाकरण तथा गुण व पर्याय की एकार्थता भिन्न तरह से सिद्ध की है।

अकलंक के अनुसार द्रव्य के दो रूप हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण—ये एकार्थक हैं। इसी तरह विशेष, पर्याय और भेद—ये तीनों एकार्थक हैं। सामान्य का ग्राहक द्रव्यार्थिक और विशेष या भेद का ग्राहक पर्यायार्थिक नय कहलाता है। गुण द्रव्य का ही सामान्य रूप है, अतः उसके ग्रहण के लिए द्रव्यार्थिक से भिन्न गुणार्थिक नामक स्वतंत्र नय की आवश्यकता ही नहीं है।

अकलंक ने 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' सूत्र की व्याख्या में लिखा है—'गुण ही पर्याय है क्योंकि गुण और पर्याय दोनों में समानाधिकरण्य है। यहां प्रश्न उपस्थित किया गया है कि गुण और पर्याय जब एकार्थक हैं तो 'गुणवद् द्रव्यम्' अथवा 'पर्यायवद् द्रव्यम्'—ऐसा निर्देश होना चाहिए था। 'गुणपर्यायवद्' ऐसा निर्देश क्यों? इसका समाधान करते हुए स्वयं वार्तिककार लिखते हैं कि वस्तुतः द्रव्य से भिन्न गुण उपलब्ध नहीं होते। द्रव्य का परिणमन ही पर्याय है और गुण उसी परिणमन की एक अभिव्यक्ति है। अतः दोनों अभिन्न हैं पर यहां वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत स्वतंत्र 'गुण' की अवधारणा का निराकरण करने के लिए 'गुण' पद का प्रयोग किया गया है। तत्त्वतः गुण और पर्याय में भेद नहीं है।

2.8 द्रव्य और पर्याय का भेदाभेदवाद

द्रव्य में गुण और पर्याय दोनों आश्रित रहते हैं गुण का अर्थ है—सहभावी धर्म—हरदम साथ रहने वाले धर्म। पर्याय का अर्थ है—क्रमभावी धर्म—बदलते रहने वाले धर्म। प्राचीन आगम साहित्य में द्रव्य और पर्याय—दो ही शब्दों का निर्देश मिलता है। वहां 'गुण' जैसी स्वतंत्र संज्ञा नहीं है। गुण और पर्याय दोनों को ही 'पर्याय' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है। उत्तराख्ययनसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र में गुण और पर्याय दोनों स्वतंत्र रूप से निर्दिष्ट हैं पर उनका यह प्रयत्न अन्य दार्शनिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में था।

सिद्धसेन ने आगमिक संदर्भों के आधार पर गुण और पर्याय के द्वैत का प्रबल विरोध कर दोनों की एकार्थकता सिद्ध की। सिद्धसेन का यह विचार संगत भी प्रतीत होता है क्योंकि 'पर्याय' परिणमन का वाचक है। गुण भी परिणमन से शून्य नहीं होते। वस्तु के सभी धर्म चाहे वे सहभावी हों या क्रमभावी प्रतिक्षण परिणमन करते रहते हैं। अतः परिणमनधर्मिता के कारण गुण को भी पर्याय कहा जा सकता है।

गुण और पर्याय दोनों एक हैं—यह सिद्ध होने पर हमारी विचारणा का मुख्य विषय बनता है—द्रव्य और पर्याय का सम्बन्ध। द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न हैं अथवा अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न दोनों? न्याय वैशेषिक आदि दर्शन भेदवादी होने से गुण, कर्म आदि का द्रव्य से भेद मानते हैं। अभेदवादी सांख्य, वेदान्त आदि उनका द्रव्य से अभेद मानते हैं। जैनदर्शन मूलतः भेदाभेदवाद का पक्षापाती है। जैनाचार्यों ने दोनों की भिन्नता और अभिन्नता का सापेक्ष प्रतिपादन किया है। द्रव्य और पर्याय दोनों को एकान्ततः अभिन्न माना जाए तो प्रश्न होगा कि फिर दो का उल्लेख क्यों? यदि दोनों को एकान्ततः भिन्न माना जाए तो दोनों में सम्बन्ध योजना कैसे होगी? दोनों को एकान्ततः भिन्न मानने पर एक पदार्थ का धर्म दूसरे पदार्थ का धर्म हो जाएगा। अतः सर्वथा निर्दोष-निरापद मार्ग है—भेदाभेदवाद का अवलम्बन।

आयारो में 'जे आया से विज्ञाया, जे विज्ञाया से आया' कहकर सूत्रकार ने आत्मा और ज्ञान की अभिन्नता का प्रतिपादन किया है—जो आत्मा है वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है, वही आत्मा है। सामान्यतया देखने पर उक्त सूत्र अभेद का वाचक प्रतीत होता है पर जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा है—'णत्थि जिणवयणं णयविहूणं'। कोई भी जिन वचन निरपेक्ष नहीं होता। सापेक्षता के आधार पर ही किसी कथन के हार्द का यथार्थ ग्रहण हो सकता है।

आयारो का उपर्युक्त सूत्र भी सापेक्षता के आधार पर ग्राह्य है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान का सद्भाव कुछ-न-कुछ अंशों में होता ही है। वह त्रिकाल में भी ज्ञानशून्य नहीं होता। अतः इस दृष्टि से आत्म-द्रव्य और ज्ञान-पर्याय दोनों अभिन्न हैं।

ज्ञान आत्मा का परिणाम विशेष है, जो बदलता रहता है, अतः पर्याय दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। इसके अलावा यदि हम फल की दृष्टि से विचार करें तो आत्मा और ज्ञान की भिन्नता सिद्ध होती है। ज्ञान का फल है—विरति। चूंकि मिथ्यादृष्टि के ज्ञान नहीं होता और न ही विरति, अतः उसका ज्ञान अज्ञान कहलाता है। भगवतीसूत्र में 'आया भंते सिय नाणे, सिय अन्नाणे, नाणे पुण नियमं आया' कहकर सूत्रकार ने

आत्मा को ज्ञान से कथंचिद् भिन्न और कथंचिद् अभिन्न कहा है। ज्ञान आत्मा का परिणाम है अतः वह नियमतः आत्मा ही है पर आत्मा ज्ञान भी है और अज्ञान भी है अतः द्रव्य और पर्याय कथंचिद् भिन्न और कथंचिद् अभिन्न दोनों हैं।

इसी तरह भगवतीसूत्र में अस्थिर अंश के नाश और स्थिर अंश के अविनाश का निर्देश है। यदि एकान्ततः अभेद ही इष्ट होता तो पर्याय के नाश से द्रव्य के भी नाश का प्रसंग उपस्थित होता। अतः द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद ही सिद्ध होता है। कुन्दकुन्द ने द्रव्य और पर्याय की अनन्यता का प्रतिपादन करते हुए यही लिखा है “पर्यायरहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्याय होते ही नहीं। दोनों वस्तुतः अनन्य हैं।” टीकाकार अमृतचन्द्र के अनुसार “जिस प्रकार दूध, दही, घी आदि से भिन्न गोरस नहीं होता, वैसे ही पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता। जैसे गोरस के बिना दूध, दही आदि नहीं होते वैसे ही द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती। अतः द्रव्य और पर्याय में कथंचिद् भेद होने पर भी अस्तित्व, नियतत्व, अजहद्वृत्तित्व की दृष्टि से दोनों अभिन्न भी हैं।” इसी तरह कुन्दकुन्द ने निश्चयदृष्टि से द्रव्य और पर्याय को अभिन्न मानकर भी व्यवहारदृष्टि से दोनों की भिन्नता का प्रतिपादन किया है।

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार द्रव्यार्थिक नय का विषय है—द्रव्य और पर्यायार्थिक नय का विषय है—पर्याय। द्रव्य पर्यायवियुक्त नहीं होता और पर्याय द्रव्यवियुक्त नहीं होते अतः दोनों अन्योन्याश्रित हैं। ग्रन्थकार ने स्पष्ट लिखा है—दोनों नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों में से किसी एक नय का विषय ‘सत्’ का लक्षण नहीं बनता। ‘सत्’ का लक्षण सामान्य और विशेष दोनों मिलकर ही बनते हैं। निष्कर्ष यही निकलता है कि द्रव्य और पर्याय दोनों परस्पर संबद्ध हैं।

समन्तभद्र ने इसी चर्चा को और आगे बढ़ाते हुए दोनों को कथंचिद् भिन्न व कथंचिद् अभिन्न सिद्ध किया है। द्रव्य और पर्याय में ऐक्य है क्योंकि दोनों अव्यतिरेक हैं। इसी तरह दोनों में नानात्व भी है। नानात्व के परिप्रेक्ष्य में समन्तभद्र ने निम्नोक्त बिन्दुओं का उल्लेख किया है—1. परिणाम का भेद, 2. शक्तिमान और शक्तिभाव का भेद, 3. संज्ञा का भेद, 4. संख्या का भेद, 5. स्वलक्षण का भेद, 6. प्रयोजन का भेद।

द्रव्य अनादि अनन्त होता है जबकि पर्याय सादि सान्त होता है। द्रव्य शक्तिमान है जबकि पर्याय उसकी शक्तियाँ हैं। दोनों की अपनी भिन्न संज्ञा है। द्रव्य की संख्या एक होती है जबकि पर्यायें संख्येय, असंख्येय और अनन्त तक होती हैं। लक्षण की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। द्रव्य का लक्षण है—गुण और पर्याय का आधार। पर्याय का लक्षण है—तद्भाव अर्थात् परिणमनशीलता। इसी तरह दोनों का प्रयोजन भी भिन्न है। द्रव्य किसी पदार्थ सामान्य का बोध कराता है जबकि पर्याय किसी धर्म या अवस्थाविशेष का। दूसरे शब्दों में—द्रव्य अन्वय धर्म के आधार पर वस्तु का बोध कराता है जबकि पर्याय व्यतिरेक धर्म के आधार पर।

2.9 सारांश

इस प्रकार लक्षण आदि की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न हैं। द्रव्य को पर्यायों से सर्वथा पृथक् करना शक्य नहीं अतः दोनों अभिन्न भी हैं। निष्कर्षतः दोनों भिन्नाभिन्न उभयात्मक हैं।

2.10 प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. द्रव्य-गुण-पर्याय भेदाभेदवाद पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. द्रव्य और गुण के भेदवाद की समीक्षा करें।
2. गुण और पर्याय एकार्थक है या भिन्नार्थक? स्पष्ट करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों का स्वतंत्र निरूपण किस गन्थ में उपलब्ध होता है?
2. में नाम के अन्तर्गत द्रव्यनाम, गुणनाम और पर्यायनाम—इन तीन प्रकारों का उल्लेख है।
3. मत के अनुसार द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न हैं।
4. जैनदर्शन में समवाय सम्बन्ध के स्थान पर मूलतः सम्बन्ध स्वीकृत है।

5. अभेदवादी मत के अनुसार प्रत्येक द्रव्य की है।
6. अद्वैत परम्परा के अनुसार घट, पट, कृष्ण, नील आदि का जो वैविध्य हमें दिखायी देता है उसका कारण क्या है?
7. गुणों के आधार पर ही द्रव्य के स्वरूप का निर्धारण होता है। यह मत किसका है।
8. आगम साहित्य में सहभावी और क्रमभावी—दोनों ही धर्मों के लिए शब्द का प्रयोग मिलता है।
9. सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार द्रव्यार्थिक नय का विषय है ।
10. भगवतीसूत्र में अस्थिर अंश के और स्थिर अंश के का निर्देश है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-2 : लोक धर्म एवं अधर्म

इकाई-4 : लोक का स्वरूप

संरचना

- 4.0 प्रस्तावना
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 विश्व क्या है?
- 4.3 लोक की परिभाषा
- 4.4 चतुः पक्षात्मक विश्व सिद्धान्त
 - 4.4.1 द्रव्य लोक
 - 4.4.2 क्षेत्रलोक
- 4.5 लोक का आकार क्या है?
- 4.6 गणितीय विवेचन
- 4.7 लोकाकृति की समीक्षा
- 4.8 लोक कितना बड़ा है?
- 4.9 रज्जू का गणितीय स्वरूप
- 4.10 सारांश
- 4.11 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रश्नावली

जैनविद्या के पाठ्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग है—तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics)। गहराई से देखा जाय तो जैनदर्शन का मूल आधार है—तत्त्व-मीमांसा। तत्त्व (Reality) के स्वरूप के विषय में विभिन्न दर्शनों के अंतर्गत भिन्न-भिन्न रूप से निरूपण किया गया है। इसलिए सहज जिज्ञासा होती है—जैनदर्शन में तत्त्व का क्या स्वरूप बताया गया है? इसकी वास्तविकता का क्या आधार है? आदि। जैन तत्त्व-मीमांसा का अध्ययन हमें इस पत्र में करना है। ‘लोक का स्वरूप’ इस विषय से हमारी यह यात्रा प्रारम्भ हो रही है।

4.1 उद्देश्य - इसके अध्ययन से द्रव्यगुण पर्याय भेदाभेदवाद की

4.2 विश्व क्या है?

मनुष्य का मस्तिष्क जिज्ञासाओं का महासागर है। उसमें प्रश्नों की तरंगें और कल्लोलें उठती रहती हैं। मनुष्य के पास ज्ञान का माध्यम है—इन्द्रियाँ और मन। बाह्य जगत् से वह इनके माध्यम से सम्पर्क करता है। ज्योंही प्रकृति की प्रक्रियाएं उसके समक्ष आती हैं, त्योंही उसके मन में क्या? कैसे? क्यों? आदि प्रश्न खड़े हो जाते हैं। यह विश्व क्या है? किससे बना है? कब अस्तित्व में आया? कब तक रहेगा? किसने बनाया? क्यों बनाया? कितना बड़ा है? इसका आकार क्या है? आदि-आदि प्रश्न विश्व के स्वरूप के बारे में सहज ही सामने आते हैं। हर व्यक्ति इस विश्व की प्रहेलिका को बुझाना चाहता है। विभिन्न दर्शन वेत्ताओं एवं वैज्ञानिकों ने भी अपने-अपने ढंग से इस पहेली को हल करने का प्रयास किया है।

हम इस पाठ में पहले जैनदर्शन के द्वारा इस पहेली को कैसे हल किया गया है, इसे जानने की कोशिश करें। हम अध्ययन-क्रम में जहाँ-जहाँ संभव हो जैनदर्शन के मूल स्रोतों के आधार पर विषय का निरूपण आत्मसात् करेंगे तथा साथ ही उत्तरकालिक स्रोतों के भी एतद्विषयक प्रतिपादन को समझेंगे।

हमारे इस पाठ का मूल शीर्षक है—**लोक का स्वरूप**। ‘लोक’ शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है जो व्यवहार में प्रचलित विश्व (Cosmos अथवा Universe) का वाच्य है।

4.3 लोक की परिभाषा

(अ) व्युत्पत्तिलभ्य—‘लोक’ शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर लोक के स्वरूप को समझाते हुए भगवती सूत्र (2-55) में बताया गया है—यह लोक शाश्वत है; काल की दृष्टि से इसकी न आदि है न अंत है; क्षेत्र की दृष्टि से यह परीत है (अर्थात् सीमित है); चारों ओर से परिवृत (अर्थात् घेरा हुआ) है; इसका एक निश्चित आकार है (जिसकी चर्चा हम इस पाठ में आगे करेंगे)। ऐसे इस लोक में अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं और विलीन होते हैं; जिनमें प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशों का एक पिण्ड या घन होता है। वह लोक सद्भूत (वास्तविक) है; इनमें जो द्रव्य हैं उनके भिन्न-भिन्न रूपों (पर्यायों) की उत्पत्ति और विनाश-रूप परिणमन (Transformation) होने से यह उत्पन्न विगत और परिणत है। अजीव-पुद्गल आदि द्रव्य के विविध परिणमनों के द्वारा जिसका ‘लोकन’ (अर्थात् निश्चय) किया जाता है, ‘प्रलोकन’ (अर्थात् विशेष रूप से निश्चय) किया जाता है, वह ‘लोक’ है—‘जे लोककइ से लोए।’ इसका तात्पर्य है—अजीव अर्थात् पुद्गल द्रव्य की उत्पत्ति, व्यय और परिणमन दिखाई दे रहे हैं। जो दिखाई दे रहा है, वह लोक है। पुद्गल द्रव्य (जड़ पदार्थ व ऊर्जा—matter and energy) मूर्त है, रूपी है, इसलिए उसकी उत्पत्ति, व्यय और परिणमन दिखाई दे रहे हैं। शेष द्रव्य अमूर्त हैं, अरूपी हैं, इसलिए उनकी उत्पत्ति, व्यय और परिणमन दिखाई नहीं दे रहे हैं। इसलिए ‘लोक’ का निर्वचन (नामकरण) प्रत्यक्ष-भूत पुद्गल द्रव्य के द्वारा किया गया है।

यह लोक की व्युत्पत्तिजन्य परिभाषा है। लोक का अस्तित्व वास्तविक है; इसे पुद्गल-द्रव्य के दृश्यमान परिवर्तन प्रमाणित करते हैं। इसलिए लोक का लोकन या प्रलोकन हमें होता है; इस प्रकार विश्व को ‘लोक’ की संज्ञा दी गई है।

दिगम्बर साहित्य से भी इस व्युत्पत्ति की पुष्टि होती है। आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थ सूत्र पर रचित अपनी टीका ‘सर्वार्थसिद्धि’ में लिखा है—‘धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति’ ‘जहां धर्म-अधर्म आदि द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं।’ इसी प्रकार भवलाकार आचार्य वीरसेन ने भी लिखा है—‘को लोकः, लोक्यन्ते उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादयः पदार्थाः स लोकः।’—‘लोक किसे कहते हैं? जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसे लोक कहते हैं।’

दिगम्बर आचार्य वट्टकर ने इससे किञ्चित् भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है—

लोयदि आलोयदि पल्लोयदि सल्लोयदिति एतथो।

तम्हा जिणेहिं कसिणं तणेसो वुच्चदे लोओ ॥

‘जिस कारण से जिनेन्द्र भगवान का मतिश्रुतज्ञान की अपेक्षा साधारण रूप देखा गया है, मनःपर्यवज्ञान की अपेक्षा कुछ उससे भी विशुद्ध और केवलज्ञान की अपेक्षा सम्पूर्ण रूप देखा गया है, इसलिए वह लोक कहा जाता है।’

यह व्युत्पत्ति अधिक बौद्धिक प्रतीत होती है; अतः भगवती आदि में प्राप्त व्युत्पत्ति को अधिक सार्थक मानना ठीक है।

ब. प्रवृत्तिलभ्य—‘लोक’ की क्रियात्मक परिभाषा (Functional definition) हमें इस प्रकार मिलती है—षड्-द्रव्यात्मको लोकः अर्थात् ‘जो षड्-द्रव्यात्मक है, वह लोक है।’ इन छह द्रव्यों के नाम इस प्रकार हैं—

1. धर्मास्तिकाय—गति-सहायक द्रव्य (Medium of motion)
2. अधर्मास्तिकाय—स्थिति-सहायक द्रव्य (Medium of rest)
3. आकाशास्तिकाय—आश्रय देने वाला द्रव्य (Space)
4. काल—समय (Time)
5. पुद्गलास्तिकायः भौतिक द्रव्य (Physical substance)
6. जीवास्तिकायः आत्मा—चैतन्यशील द्रव्य (Substance possessed of consciousness)

इन छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहे गए हैं। अस्तिकाय का तात्पर्य है कि ये द्रव्य सप्रदेशी यानी सावयवी हैं (किसी भी द्रव्य का निरंश अंश या अविभाज्य विभाग ‘प्रदेश’ कहलाता है)। काल द्रव्य अप्रदेशी है, अतः उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। इस कारण से लोक की चर्चा

के प्रसंग में कहीं-कहीं इसे 'पंचास्तिकायरूप' भी बताया गया है। संक्षेप में कहा जाय तो जिसे हम विश्व (ब्रह्माण्ड या Universe) की संज्ञा देते हैं, वह लोक है। यह परिभाषा हमें अनेक ग्रंथों में मिलती है जैसे—

1. भगवतीसूत्र (25.9-11) में बताया गया है—

‘द्रव्य दो प्रकार के हैं—जीव-द्रव्य, अजीव-द्रव्य।

अजीव-द्रव्य दो प्रकार के हैं—रूपी अजीव-द्रव्य, अरूपी अजीव-द्रव्य।

अरूपी अजीव-द्रव्य में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और ‘अद्धासमय’ अर्थात् काल—इन चार द्रव्यों को लिया जाता है। रूपी अजीव-द्रव्य में केवल पुद्गलास्तिकाय है।

जीव-द्रव्य में जीवास्तिकाय को लिया जाता है। इस प्रकार लोक षड्-द्रव्यात्मक है।

2. उत्तराध्यायनसूत्र (28.7) में बताया गया है—

‘धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुगल जन्तवो।

एस लोकोत्ति पन्नतो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥’

वरद्रष्टा जिनों के द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—यह लोक बताया गया है।

3. द्रव्यसंग्रह, गा. 23 में बताया गया है—

एवं छन्धेयमिदं जीवाजीवपभेददो दत्तं।

कालविजुत्तं णायत्त्वा पंच अत्थिकाया इ ॥

इस प्रकार द्रव्य छह प्रकार के हैं, जो जीव और अजीव के भेदरूप हैं। इनमें से कालवर्जित शेष पांच ‘अस्तिकाय’ हैं।

इसी तथ्य को गोम्मत्सार, जीवकाण्ड, गा. 561-564 में भी बताया गया है।

षड्-द्रव्यात्मक लोक की तरह पंचास्तिकाय-रूप लोक का प्रतिपादन भी उपलब्ध है। जैसे भगवती सूत्र (13.55) में बताया गया है—

‘किमियं भन्ते! लोएत्ति पव्वुच्चइ?

गोयमा! पंचत्थिकाया, एस णं एवत्ति लोएत्ति पव्वुच्चइ, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुगलत्थिकाए।’

भन्ते! यह लोक किसे कहा गया है?

गौतम! ‘पांच अस्तिकायों को लोक कहा गया है। यही लोक है, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।’

दिगम्बर परम्परा में यद्यपि बहुलतया ‘षड् द्रव्यात्मक लोक’ का उल्लेख उपलब्ध होता है, फिर भी कहीं-कहीं ‘पंचास्तिकाय रूप लोक’ का उल्लेख भी है। जैसे—आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय (गा. 3, 4) में बताया है—

‘समवाओ पचण्हं समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।

सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं ॥3॥

जीवा पुगलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं।

अत्थित्थि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥4॥’

‘पांच (अस्तिकायों) का जो समूह है, वह उत्तम जिनों के द्वारा प्राप्त ‘समय’ (अर्थात् श्रुत या आगम रूप ज्ञान) है। वह (पंचास्तिकायात्मक) ही ‘लोक’ है। उससे भिन्न जो अस्मि (असीम या अनन्त) आकाश है, वह अलोक है।’

जीव, पुद्गल-काय, धर्म, अधर्म और आकाश—ये (पांच अस्तिकाय) अपने-अपने अस्तित्व में नियत हैं तथा प्रदेश-प्रचय रूप हैं।’

आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन से भगवती सूत्र (13-55) की इस मान्यता की पुष्टि होती है कि लोक को प्राचीनतर मान्यता में पंचास्तिकाय-रूप बताया गया था तथा इसी सिद्धान्त का विकास षड्-द्रव्यात्मक लोक के रूप में हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। ‘काल-द्रव्य’ ‘अस्तिकाय’ के रूप में न होने से पंचास्तिकायरूप लोक की अवधारणा प्राचीनतर सिद्ध होती है।

आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भी विश्व (लोक) को परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। जैसे—फ्रेड होयल (Fred Hoyle) ने अपनी पुस्तक 'Frontiers of Universe' में लिखा है—'विश्व सब कुछ है, जीव और अजीव पदार्थ, अणु और आकाश गंगाएँ (Galaxies); और यदि भौतिक पदार्थों के साथ आध्यात्मिक तत्वों का अस्तित्व हो, तो वे भी। यदि स्वर्ग और नरक हो, तो वे भी। क्योंकि स्वभावतः विश्व सभी पदार्थों की 'सकलता' (Wholeness) है।'

इस प्रकार जैनदर्शन का लोक और आधुनिक वैज्ञानिक क्षेत्र का विश्व (यूनिवर्स) एक-दूसरे के समानार्थक हो जाते हैं। अब हम जैनदर्शन में की गई लोक की विस्तृत व्याख्या पर ध्यान दें।

4.4 चतुः पक्षात्मक विश्व-सिद्धान्त

जैनदर्शन में लोक (विश्व) को समझने के लिए चार दृष्टिकोणों का प्रयोग किया गया है। भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम ने प्रश्न पूछा—हे भगवन्! लोक कितने प्रकार का कहा है? भगवान्—हे गौतम! लोक चार प्रकार का कहा है—1. द्रव्य लोक 2. क्षेत्र लोक 3. काल लोक और 4. भाव लोक। इसको 'चतुःपक्षात्मक विश्व-सिद्धान्त' कहा जा सकता है।

भगवतीसूत्र (11.90) का पाठ इस प्रकार है—कतिविहेणं भंते! लोए पण्णहे?

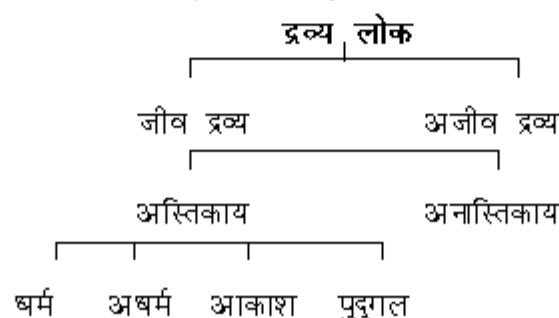
गोयमा! चउव्विहे लोए पण्णत्ते। तंजहा—दव्वलोए, खेत्तलोए, काललोए, भावलोए।

4.4.1 द्रव्य-लोक

'द्रव्य' की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि 'गुण और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं।' अर्थात् द्रव्य वह है, जिसमें गुण और पर्याय (अवस्थाएँ) होती हैं। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के धर्म रहते हैं: एक तो सहभावी धर्म (गुण), जो द्रव्य में नित्य रूप से रहता है; दूसरा क्रमभावी धर्म (पर्याय), जो परिवर्तनशील होता है। द्रव्य, गुण और पर्याय की विस्तृत चर्चा हम आगे के पाठों में करेंगे।

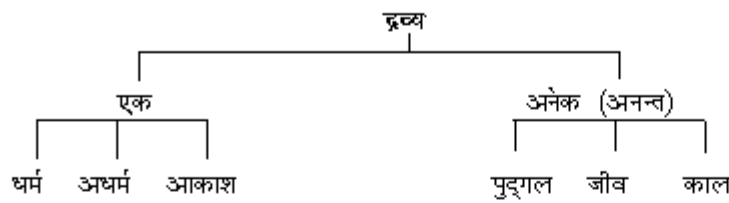
द्रव्यलोक का तात्पर्य है—द्रव्य की अपेक्षा से लोक की व्याख्या। जिसे जैनदर्शन 'द्रव्य' की संज्ञा देता है, वह अन्य दर्शनों में या विज्ञान में मूल पदार्थ या ultimate substance के रूप में जाना जाता है। सभी दर्शन भिन्न-भिन्न रूप से विश्व के द्रव्यों की संख्या बताते हैं। अद्वैतवादी दर्शन के अनुसार केवल एक ही द्रव्य—मूल पदार्थ—विश्व में अस्तित्व रखता है। द्वैतवादी या बहुवादी मूल पदार्थों की संख्या दो या अधिक स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन के अनुसार सारा लोक पंच अस्तिकाय या षड्-द्रव्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

विज्ञान ने विश्व के मूल पदार्थों को जो तत्त्व या element के रूप में माना है, वस्तुतः वे सारे elements एक ही मूल पदार्थ—जड़ (Matter) या भौतिक द्रव्य (Physical substance) जिसे जैनदर्शन ने पुद्गल कहा है—के रूप में माने हैं। अब तो विज्ञान ने यह स्वीकार कर लिया है कि ये तत्त्व या element एक-दूसरे में बदले जा सकते हैं। रेडियो-धर्मा तत्त्व अपनी रेडियो-क्रिया के कारण बदलते रहते हैं; जिससे यूरेनियम या प्लेटिनम आदि अंततोगत्ता सीसे (Lead) के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार विज्ञान की दृष्टि से ये सारे तत्त्व जिनकी संख्या प्राकृतिक रूप में 92 हैं तथा कृत्रिम या मानवकृत रूप में 103 हैं मूलतः स्वतंत्र द्रव्य नहीं हैं, अपितु एक ही भौतिक द्रव्य के नाना रूप हैं। हमारे दृश्य जगत् के सारे पदार्थ इन्हीं मूल तत्वों के संयोगों से बने हैं। अतः कहा जा सकता है कि भौतिक जगत् में एक भौतिक द्रव्य (Physical substance) ही मूल द्रव्य है। इसे ही जैनदर्शन ने पुद्गल-द्रव्य कहा है। पुद्गल-द्रव्य की विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे। जैनदर्शन के अनुसार द्रव्यलोक का स्वरूप इस प्रकार है:



संख्या की दृष्टि से

छह द्रव्यों में संख्या की दृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक-एक द्रव्य हैं; पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल अनन्त द्रव्य हैं।



4.4.2 क्षेत्रलोक

लोक के स्वरूप को समझने का दूसरा दृष्टिकोण है—क्षेत्र या आकाश—जिसे विज्ञान स्पेस (Space) के रूप में स्वीकार करता है। पंचास्तिकाय रूप या षड् द्रव्य रूप लोक का क्षेत्र कितना है? उसका आकार क्या है? उसका परिमाण (volume) कितना है? क्या वह ससीम है या असीम?—आदि-आदि प्रश्नों के उत्तर क्षेत्रलोक की व्याख्या में हमें प्राप्त हो सकते हैं।

द्रव्य लोक के अंतर्गत आकाशास्तिकाय को एक द्रव्य के रूप में बताया गया था। यह आकाशास्तिकाय या संक्षेप में आकाश द्रव्य की अपेक्षा से एक और अखण्ड द्रव्य है। जैनदर्शन के अनुसार आकाश नामक द्रव्य सर्वत्र है—कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ आकाश न हो। इसलिए क्षेत्र की दृष्टि से इसे अनन्त और असीम बताया गया है। यह सर्वव्यापी है, एक है, अखण्ड है, अंत-रहित है; इसका अपना वास्तविक अस्तित्व है।

समस्त आकाश-द्रव्य अन्य द्रव्यों के द्वारा अवगाहित नहीं है; अतः एक होने पर भी, अन्य द्रव्यों के अस्तित्व और अनस्तित्व के कारण वह दो भागों में विभाजित हो जाता है:—

1. लोकाकाश
2. अलोकाकाश¹

आकाश का वह भाग, जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन पांच द्रव्यों द्वारा अवगाहित है, वह लोकाकाश है। शेष भाग, जहाँ आकाश के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं होता, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश एक अखण्ड सान्त और ससीम है। उसकी सीमा से परे अलोकाकाश एक और अखण्ड है तथा असीम—अनन्त तक फैला हुआ है। ससीम लोक चारों ओर से अनन्त अलोक से घिरा हुआ है।

जब महावीर को उनके प्रमुख शिष्य गौतम द्वारा पूछा गया कि ‘भगवन! अलोक का संस्थान (आकार) कैसा है?’ भगवान महावीर ने उत्तर दिया, ‘हे गौतम! शुषिर (खाली) गोले में रही हुई पोलाई जैसा उसका आकार है।’² अर्थात् अलोक एक विशाल गोले के समान है, जिसकी त्रिज्या अनन्त है। (देखें, चित्र-1)

इस कथन से यही अर्थ निकलता है कि धर्म, अधर्म आदि पांच द्रव्यों को धारण करने वाला यह विश्व (लोकाकाश) अनन्त आकाश-समुद्र में एक द्वीप के समान है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि आकाश—लोक और अलोक—एक और अखण्ड द्रव्य है। अन्य द्रव्यों में अस्तित्व के कारण ही हम आकाश के दो विभाग करते हैं।

4.5 लोक का आकार क्या है?

अनन्त-असीम अखण्ड आकाश के मध्य में सीमित क्षेत्र में लोक है, इस सान्त-ससीम लोक का एक निश्चित आकार माना गया है। इस लोक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक द्रव्य पूरे लोकाकाश में

¹ गोयमा! दुविहे आगासे पण्णत्ते तंजहा—लोयागासे य अलोयागासे या। (भगवती सूत्र, 2.138)

² क. अलोएणं भंते! किंसंठिए पण्णत्ते?

गोयमा! झुसिरगोलसंठिए पण्णत्ते। (भगवती सूत्र, 11.99)

ख. स भात्यलोकाकाशेन परीतोऽतिगरीयसा।

गोलकं मध्यशुषिरं महान्तमनुकुर्वता ॥ (लोकप्रकाशः 2.26)

व्याप्त हैं। इन दोनों द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य भी आकाश की तरह ही द्रव्य की अपेक्षा से एक, अखण्ड, स्वतंत्र वास्तविक अस्तित्व वाला है। क्षेत्र की अपेक्षा इनका परिमाण सान्त-ससीम है।

जो धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का आकार है, वही लोक का आकार बन जाता है। दूसरे शब्दों में, जिस आकार से धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाश में स्थित है, उसी आकार से 'लोक' स्थित है। जिज्ञासु शिष्य गौतम के विश्व के आकार के सम्बन्ध में प्रश्न और सर्वज्ञ भगवान् महावीर के उत्तर इस प्रकार रहे हैं: गौतम—भगवन! इस लोक का क्या आकार है?

भगवान्—गौतम! यह लोक सुप्रतिष्ठक आकार वाला है। अर्थात् नीचे से विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त और ऊपर में विशाल—नीचे पर्यंक संस्थान वाला, मध्य में वरवज्र के आकार और ऊपर में मृदंग के आकार से संस्थित है।³

सुप्रतिष्ठक आकार का अर्थ है—त्रिशरावसम्पुटाकार। एक शिकोरा (शराव) उल्टा, उस पर एक शिकोरा सीधा, फिर उस पर एक उल्टा रखने से जो आकार बनता है, उसे त्रिशरावसम्पुटाकार कहते हैं। इस प्रकार से बने आकार में नीचे चौड़ाई अधिक और मध्य में कम हो जाती है। पुनः ऊपर चौड़ाई अधिक होती है और अन्त में कम हो जाती है। सामान्य मनुष्य को लोक का आकार समझाने के लिए विविध पदार्थों की उपमा दी गई है। अधोलोक पर्यङ्क, के सदृश तप के सदृश और वेत्तासन के सदृश संस्थान वाला⁴ कहा गया है। तप का अर्थ है—उड्डपक अर्थात् नौका। तात्पर्य है—उलटे शिकोरा जैसा आकार। पर्यङ्क, वेत्तासन और तप (उड्डपक) का विस्तार नीचे अधिक और ऊपर कम होता है; इसलिए अधोलोक को इनकी उपमा दी गई है। इस प्रकार मध्यलोक को वरवज्र, झल्लरी⁵ और ऊर्ध्व (खड़े किए हुए) मृदंग के ऊर्ध्व भाग के समान आकार का⁶ कहा गया है; क्योंकि मध्यलोक के विस्तार की अपेक्षा से उसका उत्प्रेष बहुत कम है। 'ऊर्ध्व लोक' को ऊर्ध्व मृदंग के आकार का⁷ बताया गया है; क्योंकि मृदंग बीच में अधिक चौड़ा और ऊपर-नीचे कम चौड़ा होता है। अन्यत्र सम्प्र लोक का आकार पुरुष-संस्थान भी बतलाया गया है। दोनों हाथ कटि तट पर रखकर जैसे कोई पुरुष वैशाख संस्थान की तरह (पैर चौड़े रखकर) खड़ा हो, वैसा ही सर्वथा यह लोक है।⁸

इस प्रकार विविध उपमाओं के द्वारा आकार स्पष्ट किया गया है। लोक के 'आयतन' का विवेचन गणितीय होने से लोक का आकार कहाँ किस प्रकार का है, इसकी स्पष्ट कल्पना गणितीय विवेचन के द्वारा हो सकती है।

4.6 गणितीय विवेचन

उपमाओं के द्वारा आकृति का विवेचन केवल स्थूल दृष्टि से हमें लोकाकृति का आभास कराता है। गणित की भाषा में प्रस्तुत लोकाकृति के विवेचन से हमें उसके सही-सही आकार का ज्ञान हो सकता है। आगमों में गणितीय दृष्टि से जो सूचनाएं हैं, वे स्पष्ट एवं पर्याप्त न होने से हमें इस विषय का ज्ञान उत्तरकालीन ग्रन्थों के आधार पर करना होगा। दिगम्बर-परम्परा के महान् गणितज्ञ बीरसेनाचार्य द्वारा 'ध्वला' तथा यतिवृषभाचार्य कृत तिलोयपण्णत्ती में हमें इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट जानकारी मिलती है। उसी के

³ भगवती, 7/3—'किंसंठिए णं भवे! लोए पण्णत्ते?'
'गोयमा! सुपहङ्गसंठिए लोए पण्णत्ते—हेट्टा विच्छिण्णे, मञ्जे संखित्ते, ठप्पिं विसाले; अहे पलियंकसंठिए, मञ्जे वरवरविग्गहिए, ठप्पिं उड्डमुहंगाकारसंठिए।'

⁴ अधोलोचखत्तलोए णं भवे! किंसंठिए पण्णत्ते?
गोयमा! तप्पागारसंठिए पण्णत्ते—वह्नी, 11/95

⁵ हेट्टिमलोयायारो वेत्तासणंसण्णिहो सहावेण!—तिलोयपण्णत्ती, 1-137
⁶ तिरिलोयखेत्तलोए णं भवे किंसंठिए पण्णत्ते?
गोयमा! झल्लरिसंठिए पण्णत्ते। —भगवती सूत्र, 11/96

हेट्टु मञ्जे ठवरि वेत्तासण-झल्लरी-मुहंगणिहो।—जम्बूद्वीवपण्णत्ति-संगहो, 11-106
⁷ मच्चिह्ममलोयायारो ठब्भियमुअसारिच्छो।—तिलोयपण्णत्ती, 1-137

⁸ उड्डमलोयखेत्तलोयपुच्छा—उड्डमुहंगाकारसंठिए पण्णत्ते।—भगवती सूत्र, 11/97
ठवरिमलोयायारो ठब्भियखेण ह्मं सरिसत्तो। —तिलोयपण्णत्ती, 1-148

⁹ नरं वैशाखसंस्थानस्थितपादं कटीतटे।

न्यस्तहस्तद्वयं सर्वदिक्षु लोकोऽनुगच्छति।—लोकप्रकाश, 12-3

आधार पर हम यहां लोकाकृति का गणितीय विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। इसे समझने के लिए केवल सामान्य गणित का ज्ञान अपेक्षित है। समग्र लोक का आयतन (volume) 343 घन-रज्जु माना गया है।⁷

एक रज्जु के असंख्यात योजन होते हैं। (देखें चित्र नं. 2) तिलोयपण्णत्ती (1/140-200) के अनुसार 'लोक के तीन आयामों में से (ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई) प्रथम आयाम अर्थात् ऊँचाई 14 रज्जु है।

दूसरा आयाम (अर्थात् चौड़ाई) सर्वत्र 7 रज्जु है। तीसरा आयाम (अर्थात् लम्बाई) सारे लोक में समान नहीं है। लोक के विभिन्न स्थानों पर लोक की लम्बाई भिन्न-भिन्न है। उसको समझने के लिए लोक के (ऊँचाई के प्रमाण से) दो विभागों की कल्पना करनी चाहिए। अर्थात् लोक के दो भाग करने चाहिए, जिसमें से प्रत्येक भाग की ऊँचाई 7 रज्जु हो। इन दो भागों में से, प्रथम अधस्तन भाग (अधोलोक) नीचे (आधार पर) 7 रज्जु है और ऊपर क्रमशः घटता-घटता 1 रज्जु।' इस प्रकार अधोलोक का आकार 'समलम्बचतुर्भुजाधार समपार्श्व' के सदृश होता है, जिसकी ऊँचाई 7 रज्जु, चौड़ाई सर्वत्र 7 रज्जु और लम्बाई नीचे आधार पर 7 रज्जु और ऊपर 1 रज्जु है। (देखें चित्र नं. 3) इस प्रकार की आकृति वाले किसी भी घनाकार का घनफल गणित की विधि¹ से निकालने पर यह घनफल 196 घन रज्जु होता है।

ऊर्ध्व लोक की ऊँचाई 7 रज्जु है, चौड़ाई सर्वत्र 7 रज्जु है और लम्बाई नीचे 1 रज्जु, मध्य में 5 रज्जु तथा ऊपर 1 रज्जु है (देखें चित्र नं. 2) इस प्रकार की घनाकृति का घनफल 147 घन रज्जु होता है।²

4.7 लोकाकृति की समीक्षा

जैसे हमने ऊपर देखा, ध्वलाकार वीरसेनाचार्य गणितीय प्रतिभा के बनी थे। इसी आधार पर उन्होंने लोक के एक आयाम को सर्वत्र 7 रज्जु मानकर 343 घन रज्जु वाले लोक की एक गणित-सम्मत आकृति प्रस्तुत की। इस संदर्भ में श्वेताम्बर परम्परा का यह मत है कि लोक की लम्बाई-चौड़ाई सर्वत्र समान है अर्थात् ऊर्ध्व लोक के अंत में एक रज्जु, मध्य में पाँच रज्जु तथा अधोलोक के अंत में सात रज्जु। इस प्रकार का लोक 343 घन रज्जु आयतन (घनफल) वाला हो, तो उसका आकार कैसा होगा? इस विषय में आगमों में कोई स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है। उत्तरकालीन श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह तो जानकारी मिलती है कि अधोलोक का घनफल 196 रज्जु तथा ऊर्ध्व लोक का 147 घनरज्जु है, किन्तु यह घनफल किस आकृति में होता है, इस विषय में कोई गणित-सिद्ध विवरण नहीं है।

आधुनिक गणित की विधियों (Integral calculus) द्वारा लोकाकृति का संभावनात्मकरूप निकाला जा सकता है, जिसके अनुसार लोक के किनारे की रेखाएं 'वक्राकार' बनती हैं।³ (देखें चित्र नं. 8)

4.8 लोक कितना बड़ा है?

लोक का सम्पूर्ण घनफल 343 घन रज्जु के आधार पर लोक के परिमाण को हम जान सकते हैं। 'रज्जु' जैनदर्शन का पाणिभाषक शब्द है। एक रज्जु के असंख्यात योजन होते हैं। 'असंख्यात' का मान निश्चित करने के लिए जो परिभाषाएं दी गई हैं, उनमें गणना किए जाने पर भी उसका अंकीकरण सुनिश्चित करना जटिल कार्य है, जिसके लिए साधारण दृष्टान्तों से लोक के परिमाण को समझाया गया है। **भगवती सूत्र** के अनुसार लोकाकाश सान्त और ससीम है; अतः उसका निश्चित 'आयतन' है। 'यह लोक कितना बड़ा

⁷ 2 फूट लम्बी, 2 फूट चौड़ी, 2 फूट ऊँची घनाकार वस्तु का आयतन $2 \times 2 \times 2 = 8$ घनफूट होता है। इसी प्रकार लोकाकृति का घनाकार बनाने पर आयतन $7 \times 7 \times 7 = 343$ घन-रज्जु होता है।

⁸ रज्जु जैन-खगोल-शास्त्र का नाप है, जिसके विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन आगे किया जाएगा।

¹ इस प्रकार के आकार वाले घन का घनफल निकालने के लिए पहले समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल निकालकर, उसको ऊँचाई से गुणन करना चाहिए। (चित्र नं. 4) समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल—दो समानान्तर भुजाओं की लम्बाई क्रमशः 7 रज्जु और 1 रज्जु है और लम्ब की लम्बाई 7 रज्जु है। (देखें चित्र नं. 5) अतः

क्षेत्रफल = $[0.5(7+1) \times 7] = 28$ वर्ग रज्जु

इसलिए घनफल = $28 \times 7 = 196$ घन रज्जु

इस प्रकार अधोलोक का घनफल 196 घन रज्जु है।

² ऊर्ध्व लोक दो समान समलम्ब चतुर्भुजाधारसमपार्श्व का बना हुआ है। (चित्र नं. 6, 7)

³ देखें विश्व प्रहेलिका, परिशिष्ट-4

है?"⁴ गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने कहा—'गौतम! यह लोक बहुत बड़ा है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और अथो दिशाओं में असंख्यात योजन का लम्बा-चौड़ा कहा गया है।' इसी भाव का स्पष्टीकरण एक काल्पनिक उदाहरण द्वारा किया गया है।⁵

प्रत्येक समपार्श्व का घनफल = समलम्ब-चतुर्भुज का क्षेत्रफल ग ऊँचाई
यहाँ पर समलम्ब-चतुर्भुज की दो समानान्तर भुजाएँ 1 रज्जु हैं तथा ऊँचाई 3.5 रज्जु हैं (देखें चित्र नं.10)
अतः समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल = $(0.5(5+1) \times 3.5) = 10.5$ वर्ग इंच रज्जु अतः प्रत्येक

समलम्ब-चतुर्भुज समपार्श्व का घनफल = $10.5 \times 7 = 73.5$ घन रज्जु

अतः समग्र ऊर्ध्व लोक का घनफल = $2 (73.5) = 147$ घन रज्जु

इस प्रकार अधोलोक और ऊर्ध्व लोक दोनों का घनफल मिलाने पर पूरे लोक का घनफल 343 घन-रज्जु होता है।

इस दृष्टान्त में देवों की 'शीघ्रगति' के आधार पर लोक का विशाल परिमाण समझाया गया है। जैनदर्शन के अनुसार 1,00,000 योजन व्यास और 3,16,227 योजन 3 कोस 128 अनुष्य। अंगुल और कुछ अधिक परिधि वाले जम्बूद्वीप के मध्य में 1 लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है।

समतल भूमि से नीचे इसकी ऊँचाई 1000 योजन और 99000 योजन समतल भूमि से ऊपर है। इस पर्वत के ऊपर 40 योजन ऊँची चूलिका है। अब कल्पना की जाती है कि जम्बूद्वीप की परिधि पर चार दिक्कुमारियाँ (देवियाँ) अपनी-अपनी दिशाओं में बाहर की ओर मुख करके खड़ी हैं और चार बलिपिण्डों को उन-उन दिशाओं में एक साथ फेंकती हैं (चित्र नं. 9)। चूलिका के ऊपर छः देव खड़े हैं। उनमें से कोई एक देव अपनी शीघ्र गति से नीचे आकर पृथ्वी पर पड़ने से पहले ही उन चारों बलि पिण्डों को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार की शीघ्र गति से चलने वाले वे छः देव लोक का अंत पाने के लिए चलते हैं। तिर्यक्-लोक,² जो 1 रज्जु लम्बा-चौड़ा है, के मध्य में मेरु पर्वत है।

छः देव क्रमशः मेरु से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व और अधो दिशा में गति करते हैं। उसी समय एक हजार वर्ष के आयुष्य वाले एक बालक का जन्म हुआ। उसके माता-पिता का आयुष्य समाप्त हो गया। बाद में उसका आयुष्य भी समाप्त हो गया। तत्पश्चात् उसकी हजार-हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढ़ियाँ बीत गईं। तब तक भी वे देव लोक के अंत तक नहीं पहुँच सके। उसके बाद जब उनके नाम-गोत्र भी नष्ट हो गए, देव लोक के अंत को नहीं पा सके। किन्तु उस समय तक उन्होंने जो अंतर तय किया, वह शेष रहे भाग से अधिक था। तय किये हुए मार्ग से असंख्यातवां भाग केवल बाकी रह गया है।³

⁴ के महालए णं भवे! लोए पण्णत्ते?

गोयमा! महत्तिमहालए लोए पण्णत्ते, पुरत्थिमेणं असंखेज्जाओ जोयणकोढाकोडीओ, दाहिणेणं असंखेज्जाओ जोयणकोढाकोडीओ एवं पच्चत्थिमेणवि एवं उत्तराणवि, एवं ठह्दंपि, अहे असंखेज्जाओ जोयणकोढाकोडीओ आयामाविक्खंभेणं। (भगवतीसूत्र, 12, 130)

⁵ भगवतीसूत्र, 11/109

¹ परिधि का यह मूल्य व्यास को 10 के वर्गमूल द्वारा गुणाने निकाला गया है। युक्लिडीय भूमिति के नियमानुसार परिधि व्यास से ग गुणी होती है जहाँ II का मूल्य करीब 3.142 ... होता है। यह लिया गया मूल्य इस मूल्य से अधिक है। युक्लिडीयतर भूमितियों में II का मूल्य 3.142 ... से अधिक अथवा कम भी हो सकता है।

² तिर्यक् लोक समग्र लोक के मध्य में है। वस्तुतः तिर्यक्-लोक के ऊपर का भाग (ऊर्ध्व लोक) सात रज्जु से कुछ कम है, जबकि नीचे का भाग (अधो लोक) सात रज्जु से कुछ अधिक है।

³ छः देव तिर्यक्-लोक के मध्य से अपनी यात्रा आरंभ करते हैं। पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशाओं में चलने वाले देवों के अंत तक जाने में 0.5 रज्जु की दूरी तय करनी पड़ेगी, जबकि ऊँची (ऊर्ध्व) दिशा में चलने वाले देव को 'सात रज्जु से कुछ कम' और अधो दिशा में चलने वाले देव को 'सात रज्जु से कुछ अधिक' अंतर तय करना होगा। इस प्रकार सभी देव एक समान दूरी तय नहीं करेंगे। किन्तु समान समय में और समान वेग से चलने वाले, ये समान दूरी तय कर पायेंगे। अतः बताये गये समय में सभी का तय किया हुआ मार्ग के असंख्यात गुणा अधिक है, यह बात कैसे हो सकती है? इस तर्क का समाधान नवांगी टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने इस प्रकार किया है कि यदि लोक का आकार वस्तुतः जिस प्रकार है, उस प्रकार न मानकर घनचतुरस्रकाकार (Cube) के रूप में मान लिया जाये तो उसके मध्य से सभी दिशाओं में समान अंतर रह जायेगा। (देखें भगवती सूत्र वृत्ति, 11/109)

इस शास्त्रीय उदाहरण के द्वारा लोक का आयतन कितना बड़ा है, इसकी एक झांकी मिलती है। किन्तु इसमें दिये गये गणितीय तथ्य पूर्ण नहीं होने से 'लोक-आयतन' का यथार्थ गणितीय निरूपण इस दृष्टान्त के द्वारा नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस दृष्टान्त के पूर्ण गणितीय विवेचन में दो बातों का ज्ञान आवश्यक है:

1. देव जिस गति से चलते हैं, उस गति का यथार्थ मूल्य;
2. जितने समय में वे लोक का अधिकतर मार्ग पार कर लेते हैं, उसका यथार्थ मूल्य।

प्रथम आवश्यकता की पूर्ति के लिए बलि-पिण्डों की नीचे गिरने की गति का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु यह इसलिए संभव नहीं है कि 'गुरुत्व' सम्बन्धी उन स्थलों के नियम ज्ञात नहीं हैं। दूसरी आवश्यकता की पूर्ति भी नहीं हो सकती; क्योंकि 'नाम-गोत्र के नष्ट' होने का कोई निश्चित काल नहीं बताया गया है। इस प्रकार यद्यपि उक्त दृष्टान्त से लोक के आयतन के यथार्थ मूल्य की जानकारी हमें नहीं हो सकती है, फिर भी लोक की अति-विशालता का अनुमान तो हो ही सकता है।

'अलोकाकाश कितना बड़ा है? इसको समझने के लिए उक्त दृष्टान्त से समानता रखने वाला अन्य दृष्टान्त दिया गया है।'¹

यहां पर आठ दिक्कुमारियां चार दिशाओं में और विदिशाओं में (पूर्व-उत्तर, उत्तर-पश्चिम, पश्चिम-दक्षिण, दक्षिण-पूर्व) बलि-पिण्डों को फेंकती हैं और चूलिका पर खड़ा हुआ देव इन सबको पृथ्वी पर पड़ने से पूर्व ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार की शीघ्र गति वाले दश देव अलोक के अंत को पाने के लिए चलते हैं।²

ये देव पूर्वोक्त दृष्टान्त में बताये गये समय में अलोक का जितना भाग तय करते हैं, उससे बाकी का भाग अनन्त गुणा अधिक है। अर्थात् केवल अनन्तवां भाग ही वे तय कर पाते हैं। इस दृष्टान्त से अलोकाकाश किस प्रकार अनन्त-असीम है, इसका अनुमान हो सकता है।

4.9 'रज्जु' का गणितीय स्वरूप

1 रज्जु के असंख्यात योजन बताये गए हैं। गणितीय आधारों पर उसके अंकीकरण के कई प्रयत्न हुए हैं। एक परिभाषा है—'20,57,152 योजन प्रतिक्षण की गति से निरन्तर चलने वाला देव छह महीनों में जितनी दूरी तय कर लेता है, वह एक रज्जु है।'³

इस परिभाषा के आधार पर अपनी पुस्तक *Cosmology: Old and New* में प्रो. जी. आर. जैन ने 1 रज्जु के माप निकाला है, जिसमें 1 क्षण को 0.540000 मिनट तथा 1 योजन=4000 मील मानकर 1 रज्जु का मान—195997041254400000000 मील निकाला है, जिसे गणित की भाषा में— 1.15×10^{21} मील लगभग लिखा जाता है।⁴

इसमें संशोधन करते हुए सुनिश्री महेन्द्र कुमार ने अपने ग्रन्थ 'विश्व-प्रहेलिका' में दो विकल्प प्रस्तुत किए हैं:

1. $1 \text{ रज्जु} = 10^{16}$ मील लगभग
2. $1 \text{ रज्जु} = 10^{26}$ मील लगभग

उपर्युक्त समग्र विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन दर्शन में लोक का एक सुनिश्चित आकार माना गया है, जिसे सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशरावसम्पुटाकार की संज्ञा दी जाती है, तथा यह लोक विशालता की दृष्टि से भी सुनिश्चित परिमाण वाला है, जिसका मान गणितीय दृष्टि से बहुत बड़े घातांक की संख्या वाला है।

¹ देखें, भगवतीसूत्र, 11/110

² यह असंभव कल्पना है, क्योंकि वस्तुतः अलोक में गति हो ही नहीं सकती।

³ यह परिभाषा जर्मन विद्वान् ग्लैसनहाफ ने अपनी पुस्तक 'Der Jainismus' में दी है। उन्होंने सी.टी. कोलब्रुक के शोध-कार्य के आधार पर यह परिभाषा दी है।

⁴ गणित की भाषा में 10 के ऊपर जो अंक लिखा जाता है, उसे घातांक (Raise to the power) कहा जाता है। जैसे— 100 को 10^2 लिखा जाता है। घातांक जितने शून्य 1 पर लगाने से वह संख्या प्राप्त होती है। 10^{16} का तात्पर्य है 1 पर 16 शून्य।

4.10 सारांश

हमने द्रव्य लोक और क्षेत्रलोक की चर्चा इस पाठ में की है। काललोक और भावलोक की चर्चा हम यथास्थान आगे के पाठों में करेंगे। हमने जाना कि जैनदर्शन में लोकवाद का समग्र सिद्धान्त बहुत ही व्यवस्थित, गणितीय, वैज्ञानिक तथा तर्कगम्य रूप में प्रस्तुत है।

4.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन में प्रतिपादित लोक के स्वरूप को विस्तार से बताएं।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. क्या लोक में षड्द्रव्य से अधिक नहीं हो सकते? क्यों?
2. लोक के आयतन की गणितीय व्याख्या प्रस्तुत करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक वाक्य में दें:

1. लोक का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ क्या है?
2. अधर्मास्तिकाय का कार्य क्या है?
3. लोक और अलोक में कौन बड़ा है?
4. पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य में प्राचीन सिद्धान्त कौन-सा है?
5. ऊर्ध्व लोक का घनफल कितना है?

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

6. आचार्य ने लिखा है कि ये पांच अस्तिकाय अपने-अपने अस्तित्व में नियत हैं।
7. काल-द्रव्य अस्तिकाय
8. लोक प्रकार का कहा है।
9. द्रव्य संख्या की दृष्टि से एक-एक है।
10. विज्ञान की दृष्टि से प्राकृतिक रूप में तत्त्व हैं।

इकाई-5 : धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय

संरचना

- 5.0 प्रस्तावना
- 5.1 उद्देश्य
- 5.2 धर्मास्तिकाय : अधर्मास्तिकाय
- 5.3 धर्मास्तिका : एक शब्द : अनेक अर्थ
- 5.4 धर्मास्तिकाय का स्वरूप
- 5.5 उपादान और निमित्त
- 5.6 अधर्मास्तिकाय की स्वरूप मीमांसा
- 5.7 अस्तित्व का आधार
- 5.8 दोनों द्रव्यों का महत्व
- 5.9 धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य का यौक्तिक आधार
- 5.10 सारांश
- 5.11 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

पिछले पाठों में हम लोक के स्वरूप एवं पांच अस्तिकायों की अवधारणाओं को स्पष्ट कर चुके हैं। अब आगे के पाठों में पांच अस्तिकायों के प्रत्येक घटक के विषय में विस्तार से जानने की कोशिश करेंगे। प्रस्तुत पाठ में पहले दो द्रव्यों-धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय के स्वरूप, विशेष गुण आदि की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की जा रही है।

5.1 उद्देश्य - इसके अध्ययन से धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय की विस्तृत जानकारी कर सकेंगे।

5.2 धर्मास्तिकाय : अधर्मास्तिकाय

यद्यपि इन दोनों द्रव्यों में अनेक समानताएं हैं एवं उनकी चर्चा एक साथ की जा सकती है, फिर भी प्रारंभ में इनके नामकरण एवं स्वरूप को अलग-अलग समझ कर आगे हम दोनों की एक साथ चर्चा करेंगे।

5.3 धर्मास्तिकाय: एक शब्द : अनेक अर्थ

पांच अस्तिकाय द्रव्यों में सबसे पहला द्रव्य है—धर्मास्तिकाय। धर्म शब्द कई अर्थों में व्यवहृत होता है। आत्मशुद्धि साधन धर्म—आत्मशुद्धि का साधन धर्म है। वस्तु के स्वभाव/गुण को भी धर्म कहते हैं। लौकिक कर्तव्य भी इसका एक अर्थ है। पर प्रस्तुत संदर्भ में यह इन सब से सर्वथा भिन्न अर्थ में व्यवहृत हुआ है। यहां इसका वाच्यार्थ है—गतिसहायो धर्म—गमनप्रवृत्तानां जीवपुद्गलानां गतौ उदासीनभावेन अनन्यसहायकं द्रव्यं धर्मास्तिकायः, यथा—मत्स्यानां जलम्। गति में सहायक होने वाले द्रव्य को धर्म कहते हैं। गति में सहायक द्रव्य का अबूरा नाम धर्म है। पूरा नाम धर्मास्तिकाय है। प्रश्न है, अबूरा नाम क्यों! अबूरा नाम इसलिए कि इसमें हमारी सुविधा है।

5.4 धर्मास्तिकाय का स्वरूप

गति सहायक द्रव्य का नाम धर्म (धर्मास्तिकाय) है। आप पूछेंगे, धर्म किसकी गति में सहायक होता है, 'किसकी' का कोई प्रश्न ही नहीं है। जीव और पुद्गल दोनों की ही सभी प्रकार की गतिक्रिया-सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन तक में यह सहयोगी है। हम चलते हैं, सोते हैं, बैठते हैं, हाथ हिलाते हैं, आंख बंद करते हैं, खोलते हैं, खाते हैं, पीते हैं, श्वासोच्छ्वास लेते हैं—इन सब क्रियाओं में यह द्रव्य सहायक है। इसी प्रकार की गति क्रियाओं में यह निमित्त भूत है।

5.5 उपादान और निमित्त

हम जानते हैं कि कारण दो प्रकार के होते हैं—उपादान और निमित्त। किसी भी चीज के निर्माण में ये दोनों कारण जरूरी हैं। निमित्त कारणों के मिलने पर भी उपादान कारण के अभाव में जिस प्रकार वस्तु नहीं बनती, ठीक उसी प्रकार उपादान कारण की उपस्थिति के बावजूद भी निमित्त कारणों के अभाव में कार्य सिद्ध नहीं होता। मिट्टी का घड़ा बनता है। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। मिट्टी के बिना घड़े की कल्पना ही नहीं की जा सकती। पर मिट्टी से घड़ा तब तक नहीं बनेगा, जब तक निमित्त कारणों के रूप में चाक, अग्नि, कुशल कुम्हार आदि नहीं मिलेंगे। दोनों कारणों के योग से ही कोई वस्तु निर्मित होती है।

यद्यपि गति में उपादान कारण तो जीव या पुद्गल स्वयं ही है, पर निमित्त कारण के रूप में धर्मास्तिकाय का अपना अलग महत्त्व है। (और भी अनेक निमित्त कारण हो सकते हैं, पर मुख्य कारण यही है।) धर्मास्तिकाय के अभाव में जीव या पुद्गल किसी भी प्रकार की गतिक्रिया करने में असमर्थ है। मछली में गति करने की शक्ति होती है। पर पानी के अभाव में वह गति नहीं कर सकती। दूध में चलने की शक्ति है, पर पटरी के अभाव में वह चल नहीं सकती। ठीक यही बात धर्मास्तिकाय के सम्बन्ध में जाननी चाहिये। प्राणी और पुद्गल में गति करने की शक्ति है। पर वे गतिक्रिया तभी कर सकते हैं, जब उन्हें धर्मास्तिकाय का अनिवार्य रूप से सहयोग प्राप्त हो।

इस संदर्भ में एक बात और समझनी आवश्यक है। यद्यपि धर्मास्तिकाय के सहयोग से ही कोई पदार्थ गतिक्रिया कर सकता है, पर वह किसी को गति करने के लिए प्रेरित नहीं करता। हां, कोई उसका सहयोग ले तो वह इनकार भी नहीं करता। मध्यस्थ भाव से वह सहयोगी बनता है। इसलिए धर्मास्तिकाय को जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी के रूप में माना गया है।

5.6 अधर्मास्तिकाय की स्वरूप-मीमांसा

स्थिति-सहायक द्रव्य

दूसरा अस्तिकाय द्रव्य है—‘अधर्म’।

स्थिति सहायोऽधर्मः। स्थित्यसाधारणसहायोऽधर्मः।

स्थानगतानां जीवपुद्गलानां स्थितौ उदासीनभावेन अनन्यसहायकं द्रव्यं अधर्मास्तिकायः, यथा-पथिकानां छाया।

जीवपुद्गलानां गतिस्थित्यन्यथानुपपत्तः, वाय्वादीनां सहायकत्वेऽनवस्थादिदोषप्रसंगाच्च धर्माधर्मयोः सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्। एतयोर्भावादेव अलोके जीवपुद्गलादीनामभावः। (जैन सिद्धान्त दीपिका 1/5)

जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक होने वाले द्रव्य को ‘अधर्म’ कहते हैं। जिस प्रकार ‘धर्म’ जीव व पुद्गलों की गति में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी है, उसी प्रकार ‘अधर्म’ जीव पुद्गलों की स्थिति में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी द्रव्य है। प्रश्न पैदा होता है, गति में तो दूसरे के सहयोग की अपेक्षा की बात समझ में आती है, पर स्थिति—ठहरने में दूसरे के सहयोग की बात का क्या तात्पर्य है? हां, जिस प्रकार गतिकार्य में सहयोग अपेक्षित है, उसी प्रकार की स्थिति में भी अनिवार्य रूप से सहयोग अपेक्षित है। एक व्यक्ति चलते-चलते थक गया। वह विश्राम करना चाहता है। लेकिन चारों तरफ धूप-ही-धूप है। इसलिए वह ठहर नहीं सकता। चलता ही जाता है। चलते-चलते मार्ग में कहीं छाया आ जाती है। छाया आते ही वह ठहर जाता है। यद्यपि ठहरने में उपादान कारण मूल होता है। पर निमित्त कारणों का भी कम महत्त्व नहीं है। रोटी बनाने के लिए आटा उपादान कारण है। उसके अभाव में रोटी की कल्पना भी नहीं की जा सकती। पर केवल आटे से तो रोटी नहीं बनती। उसके लिए चूल्हा, तवा, बेलन, चकला ... बहुत-सी चीजें निमित्त कारण के रूप में विद्यमान होनी जरूरी हैं। ‘अधर्म’ को भी हमें इसी रूप में समझना चाहिये। यद्यपि स्थिति में उपादान कारण तो जीव या पुद्गल स्वयं है, पर निमित्त कारण के रूप में पथिक के लिए छाया की तरह ‘अधर्म’ सहयोगी है। जीव व पुद्गलों की स्थिति उसके बिना कदापि संभव नहीं है। इसलिए ‘अधर्म’ को जीव पुद्गलों की स्थिति में मध्यस्थ भाव से अनन्य सहयोगी माना गया है।

5.7 अस्तित्व का आधार

हमारे सामने यह विवशता है कि हम 'धर्म' और 'अधर्म' को आंखों से देख नहीं सकते। क्योंकि ये अमूर्त द्रव्य हैं। फिर भी हमें इसके अस्तित्व का विश्वास करना चाहिये। आगम-साहित्य में पृष्ठ के पृष्ठ इनके विवेचन से भरे पड़े हैं। आगमों के प्रवचनकार केवलज्ञानी थे। उन्होंने अपने आत्मज्ञान के द्वारा जो भी देखा, वही संसार को बताया। तीर्थकरों की वाणी की यथार्थता में आज संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रही है। अतः 'धर्म' और 'अधर्म' के अस्तित्व को नकारने का कोई कारण नहीं है।

'धर्म' और 'अधर्म' यद्यपि हमें दिखाई नहीं देते फिर भी उन्हें अस्वीकार न करने का एक कारण यह भी है कि उनके गुण हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं। गुणी के बिना गुण का कोई अस्तित्व नहीं होता। इस दृष्टि से तब 'धर्म' और 'अधर्म' के गुण हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं तो उनके अस्तित्व को स्वीकार करना ही होगा। एक व्यक्ति हमें दिखाई नहीं देता, पर उसकी आवाज सुनाई देती है। ऐसी स्थिति में क्या हम उस व्यक्ति के अस्तित्व को नकार सकेंगे। कभी नहीं। इसलिए दिखना या न दिखना वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए अनिवार्य शर्त नहीं हो सकती।

आगमकार कहते हैं, 'धर्म' और 'अधर्म' के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा जीव तथा पुद्गलों की गति और स्थिति नहीं हो सकती। कहा जा सकता है कि गति में तो वायु, पानी आदि भी सहयोगी हैं, फिर 'धर्म' को सहयोगी क्यों माना जाए? यहां प्रतिप्रश्न पैदा होगा, चूंकि वायु स्वयं गतिशील है, अतः वायु की गति में कौन सहयोगी है? यदि कहा जाए कि 'सूक्ष्म वायु' तो पुनः प्रश्न होगा कि 'सूक्ष्म वायु' की गति में सहयोगी कौन? इस प्रकार हम चलते ही जाएं, पर कहीं अन्त नहीं होगा और ऐसा करने से 'अनवस्था दोष' आ जाएगा। इसलिए हमें कोई न कोई ऐसे द्रव्य स्वीकार करना होगा, जो स्वयं स्थिर होकर दूसरों को गति दे। आपको ख्याल होना चाहिये कि गतिशील पदार्थ कभी भी दूसरों को गति प्रदान नहीं कर सकता। स्थिर पदार्थ ही दूसरों को गति प्रदान कर सकता है। पटरी रेलगाड़ी को गति प्रदान करती है, पर यह स्वयं स्थिर होती है। यदि वह स्वयं गतिशील बन जाए तो गाड़ी की कैसी गति होगी, इसे बताने की अपेक्षा नहीं। इसलिए लोक के सभी जीव व पुद्गलों की गति में 'धर्म' के अस्तित्व को मानना ही होगा। इसी प्रकार जीव और पुद्गलों की स्थिति में 'अधर्म' के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। ('धर्म' और 'अधर्म' स्वयं अगतिशील द्रव्य हैं)

लोक में 'धर्म' और 'अधर्म' दोनों सर्वत्र व्याप्त हैं। अलोक में केवल आकाश ही है। जीव और पुद्गलों का वहां सर्वथा अभाव है। पूछा जा सकता है, ऐसा क्यों? इसका समाधान यही है कि अलोक में 'धर्म' व 'अधर्म' नहीं हैं और 'धर्म' एवं 'अधर्म' के अभाव में वहां गति व स्थिति नहीं है। पर ऐसी स्थिति में अलोक होता ही नहीं। यह कथन उचित नहीं है। वह अलोक इसीलिए तो है कि वहां आकाश के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

5.8 दोनों द्रव्यों का महत्त्व

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में जहां धर्म, अधर्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक दृष्टि से कमशः आत्मा को विशुद्ध और मलिन बनाने वाले तत्त्वों के रूप में किया गया है, वहां तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics) में इनका अर्थ बिल्कुल भिन्न है। धर्मास्तिकाय या धर्म-द्रव्य की परिभाषा है—जो द्रव्य लोक में गतिशील सभी द्रव्यों (जीव और पुद्गलों) की गति में अनन्य सहायक होता है, वह धर्मद्रव्य है। दूसरे शब्दों में वह गति का अनिवार्य माध्यम (medium) है, उसके बिना किसी भी प्रकार की गति (motion) सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक शब्दावली में इसे 'गति-माध्यम' (medium of motion) कहा जा सकता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय की परिभाषा है—जो द्रव्य लोक में स्थितिशील सभी द्रव्यों (जीव और पुद्गलों) की स्थिति (स्थिर रहना या अ-गति) में अनन्य सहायक होता है, वह अधर्म-द्रव्य है। इसके बिना किसी भी प्रकार की स्थिति (स्थिर रहना) सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक शब्दावली में इसे 'स्थिति-माध्यम' (medium of rest) कहा जा सकता है।

यहां यह ध्यान रखना होगा कि धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य दोनों उदासीन सहायक हैं। न धर्म-द्रव्य किसी भी द्रव्य को गति में प्रवृत्त करता है और न अधर्म-द्रव्य किसी को स्थिति में प्रवृत्त करता है। यदि कोई जीव या पुद्गल गति या स्थिति करता है, तो ये कमशः उसमें सहायक बनते हैं। जैसे मछलियों की गति में जल सहायक होता है या पथिकों को विश्राम करने के लिए वृक्षा की छाया सहायक होती है, वैसे धर्म-अधर्म द्रव्य समस्त गतिस्थिति में अनन्य सहायक होते हैं। गति और स्थिति दोनों सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है।

धर्म-अधर्म की तार्किक मीमांसा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। वह इस प्रकार है—

द्रव्य की दृष्टि से—ये दोनों द्रव्य एक, अखण्ड, स्वतंत्र, वस्तुनिष्ठ सत् (objective reality) हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से—ये दोनों समस्त लोक में व्याप्त समरूप सातत्यक (homogeneous continuum) के रूप में हैं। इनका अस्तित्व केवल लोक-आकाश तक सीमित है; अलोक-आकाश में इनका अभाव है। लोक-आकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश इनके हैं। संख्या की दृष्टि से ये प्रदेश असंख्यात हैं।

काल की दृष्टि से—इनका अस्तित्व अनादि (beginningless) और अचल (endless) है अर्थात् शाश्वत (eternal) है।

भाव अर्थात् स्वरूप की दृष्टि से—ये अमूर्त (वर्ण आदि गुणों से रहित) अभौतिक और चैतन्य-रहित (अजीव) तथ स्वयं अगतिशील हैं।

गुण (या लक्षण) की दृष्टि से—धर्म-द्रव्य गति-सहायक तथा अधर्म-द्रव्य स्थिति-सहायक है।

इन द्रव्यों के विषय में गौतम की जिज्ञासा का समाधान भगवान् महावीर ने इस प्रकार किया था—

गौतम—हे भगवन्! धर्मास्तिकाय (गति-सहायक द्रव्य) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवन्—हे गौतम! धर्मास्तिकाय न होता तो गमनागमन कैसे होता? शब्दों की तरंगें कैसे फैलती? आंखों का उन्मेष कैसे होता? मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाएं कैसे होती? यह विश्व अचल ही होता। विश्व के सभी चल-भाव धर्मास्तिकाय की सहायता से ही होते हैं। 'गति' में सहायता करना धर्मास्तिकाय का लक्षण है।

धम्मत्थिकाएणं भंते! जीवाणं किं पवत्तंति?

गोयमा! धम्मत्थिकाएणं जीवाणं आगमणगमण भासुप्पेस मणजोगा वडजोग, कायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तन्ति, गइलक्खणे धम्मत्थिकाए।

अधर्मास्तिकाय के विषय में—(भगवती सूत्र, 13-4-481)

गौतम—भगवन्! अधर्मास्तिकाय (स्थिति-सहायक द्रव्य) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! अधर्मास्तिकाय नहीं होता तो सब प्रकार के स्थिर भाव—खड़ा रहना, बैठना, सोना, मन को एकाग्र करना, मौन करना, शरीर को निस्पन्द बनाना, आंखों का निमेष होना आदि—ये कैसे सम्भव होते? यह विश्व ही गतिमान होता। जो स्थिर है, उन सबका आलम्बन अधर्मास्तिकाय है। स्थिति में सहायता करना अधर्मास्तिकाय का लक्षण है।

अहम्मत्थिकाएणं जीवाणं किं पवत्तंति?

गोयमा! अहम्मत्थिकाएणं जीवाणं ठाणनिसीयणतुयट्ठण मणस्स य एगत्तीभावकरणता जे यावन्ने तहप्पगारा थिरा भावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तन्ति, ठाणलक्खणेणं अहम्मत्थिकाए। (भगवती सूत्र 13-481)

सिद्धसेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतंत्र द्रव्यत्व को आवश्यक नहीं मानते। वे इन्हें द्रव्य के पर्याय-मात्र मानते हैं।

दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन के सिवाय किसी भी दर्शन ने इन दो द्रव्यों के अस्तित्व की कोई चर्चा नहीं की है। वैज्ञानिक जगत् में न्यूटन ने ईश्वर नामक गति-माध्यम (medium of motion) को स्वीकार किया था, पर उसका स्वरूप अभौतिक नहीं था। न्यूटन-कालीन भौतिक विज्ञान, जिसे प्राचीन (classical) कहा जाता है, में प्रकाश-तरंगों के प्रसार के माध्यम के रूप में ईश्वर का अस्तित्व माना गया था। ईश्वर एक ऐसा भौतिक

तत्त्व माना गया है जो समग्र आकाश में व्याप्त है और जो प्रकाश-तरंगों के प्रसार में उसी तरह सहायक होता है, जिस तरह समुद्र की तरंगों के प्रसार में पानी अथवा ध्वनि-तरंगों के प्रसार में हवा होती है। बाद में जब भ्रमणशील पृथ्वी के साथ गतिशील ईश्वर का प्रकाश के वेग पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे मापने के लिए माइकलसन और मोर्ले ने अतिसूक्ष्मग्राही यंत्रों द्वारा प्रयोग किया, तो पता चला कि ईश्वर का कोई प्रभाव प्रकाश की गति पर नहीं पड़ता है। इस प्रयोग के परिणामों के आधार पर बाद में आपेक्षिकता के सिद्धान्त में आइन्सटीन ने ईश्वर नामक भौतिक गति-माध्यम के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। आधुनिक भौतिक विज्ञान में अब इस 'ईश्वर' का अस्तित्व समाप्त हो गया है। पर इससे अभौतिक ईश्वर (गति-माध्यम) में अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक सर आर्थर एडिंग्टन ने ईश्वर-सम्बन्धी एक नया सिद्धान्त उपस्थित किया है। उनके अभिमत में आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने भौतिक ईश्वर का अस्तित्व मिटा दिया है, किन्तु तब भी अभौतिक ईश्वर का अस्तित्व तो सम्भव हो सकता है। एडिंग्टन ने आकाश और ईश्वर में अविच्छिन्न सम्बन्ध की कल्पना की है और माना है कि आकाश, ईश्वर और क्षेत्र तीनों ही एक हैं।

धन और ऋण ईश्वर

छः द्रव्यों में से प्रथम दो द्रव्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को हम क्रमशः धन ईश्वर (पॉजिटिव ईश्वर) और ऋण ईश्वर (नैगेटिव ईश्वर) कह सकते हैं। ये दोनों तत्त्व धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित विश्व-सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धर्मास्तिकाय वह तत्त्व है, जो लोक में सभी पदार्थों की सभी प्रकार की गति में आसाधारण रूप से सहाय्य करता है। कहा भी है—गतिसहायो धर्मः। (जैन सिद्धान्त दीपिका 1.4)

दूसरे शब्दों में वह गति का आसाधारण माध्यम (मीडियम) है। अधर्मास्तिकाय का लक्षण है—सब पदार्थों की स्थिति में—अगति में आसाधारण रूप से सहाय्य करना। स्थितिसहायोऽधर्मः। (जैन सिद्धान्त दीपिका 1.5)

केवल 'ईश्वर' शब्द 'गति के माध्यम' के लिए प्रयुक्त होता है। गति और स्थिति को यदि हम अभिसमयानुसार 'धन' और 'ऋण' मान लें, तो धर्मास्तिकाय को धन ईश्वर और अधर्मास्तिकाय को ऋण ईश्वर की संज्ञा दी जा सकती है।

ये दोनों ईश्वर द्रव्यों की दृष्टि से एक अखण्ड और स्वतंत्र वास्तविक द्रव्य हैं। क्षेत्र की दृष्टि से ये केवल लोकाकाश में व्याप्त हैं, अलोकाकाश में दोनों का अस्तित्व नहीं माना गया है। अतः जितनी लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या है, उतनी ही इनके प्रदेशों की संख्या है—अर्थात् 'असंख्यात' है। काल की दृष्टि से ये अनादि और अनन्त हैं अर्थात् शाश्वत हैं। स्वरूप की दृष्टि से ये अभौतिक हैं; अमूर्त हैं; अगतिशील हैं; चैतन्य रहित हैं।

आकाश द्रव्य का अस्तित्व अधिकांश दर्शन और विज्ञान निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं, जबकि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व केवल जैन दर्शन ही स्वीकार करता है। जैन आगमों में इनके लिए तर्क पर आधारित प्रमाण दिये गये हैं।

5.9 धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य का यौक्तिक आधार

धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टियाँ हैं—

1. गति-स्थिति-निमित्तक द्रव्य, 2. लोक-अलोक की विभाजक शक्ति।

कार्य-कारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए दो प्रकार के कारण आवश्यक हैं—उपादान और निमित्त। उपादान कारण वह है, जो स्वयं कार्यरूप में परिणत हो जाए तथा निमित्त कारण वह है, जो कार्य के निष्पन्न होने में सहायक हो। यदि किसी पदार्थ की गति होती है, तो उसमें उपादान कारण तो वह स्वयं है। किन्तु निमित्त कारण क्या है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए हमें कोई ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है, जिसकी सहायता पदार्थ की गति में अनिवार्य हो। यदि हवा आदि को निमित्त कारण माना जाए, तो यह एक नया प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि उनकी (हवा आदि की) गति में कौनसा निमित्त कारण है? यदि इसी प्रकार किसी अन्य द्रव्य को निमित्त माना जाए, तो ऐसे कारणों की परम्परा

चलती ही जाती है और 'अनवस्था दोष' (Regresus ad infinitum) की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए ऐसे पदार्थों की आवश्यकता हो जाती है, जो स्वयं गतिमान न हों।

यदि पृथ्वी, जल आदि स्थिर द्रव्यों को निमित्त कारण के रूप में माना जाता है, तो भी यह युक्त नहीं होता है, क्योंकि ये पदार्थ समस्त लोकव्यापी नहीं हैं। यह आवश्यक है कि गति-माध्यम के रूप में जिस पदार्थ को माना जाता है, वह सर्वव्यापी हो। इस प्रकार किसी ऐसे द्रव्य की कल्पना करनी पड़ती है, जो—1. स्वयं गतिशून्य हो, 2. समस्त लोक में व्याप्त हो, अलोक में न हो, 3. दूसरे पदार्थों की गति में सहायक हो।

1. प्रज्ञापना, पद 1, वृत्ति;

धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात्।

नालोकः कश्चिन् स्यान्न च सम्मतमेतदर्थानाम्॥1॥

तस्माद् धर्माधर्मौ, अवगाढो व्याप्य लोकखं सर्वम्।

एवं हि परिच्छिन्नः, सिद्ध्यति लोकस्तद् विभुत्वात्॥2॥

ऐसा द्रव्य धर्मास्तिकाय ही है। यहां यदि धर्मास्तिकाय का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार न करके आकाश द्रव्य को ही इन लक्षणों से युक्त माना जाए, तो भी एक बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। क्योंकि यदि आकाश द्रव्य ही पदार्थों की गति में सहायक हो, तो आकाश असीम और अनन्त होने के कारण गतिमान पदार्थों की गति भी अनन्त आकाश में शक्य हो जाती है—उनकी गति अबाधित हो जाती है। परिणामस्वरूप अनन्त आत्माएं और अनन्त जड़ पदार्थ अनन्त आकाश में निरंकुशतया गति करने लग जाते हैं और उनका परस्पर संयोग होना और व्यवस्थित, शान्त और निर्वासित विश्व के रूप में लोकाकाश का होना, असंभव हो जाता है किन्तु इस विश्व का रूप व्यवस्थित है। विश्व एक क्रमबद्ध संसार के रूप में दिखाई देता है, न कि अव्यवस्थित ढेर की तरह। ये तथ्य हमें इस निर्णय पर ले जाते हैं कि विश्व की व्यवस्था का आधार किसी स्वतंत्र नियम पर है। परिणामस्वरूप हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि पदार्थों की गति-अगति में सहायक आकाश नहीं, अपितु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक स्वतंत्र द्रव्य है।

लोक-अलोक की व्यवस्था पर दृष्टि डालें तब भी इसके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। आचार्य मलयगिरी ने इसका अस्तित्व सिद्ध करते हुए लिखा है—“इनके बिना लोक-अलोक की व्यवस्था नहीं होती”।

लोक है इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि यह इन्द्रिय-गोचर है। अलोक इन्द्रियातीत है, इसलिए उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न उठता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर अलोक का अस्तित्व अपने आप मान्य हो जाता है। तर्कशास्त्र का नियम है कि “जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है, जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है वह अलोक है।”

जिसमें जीव आदि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है और जहां केवल आकाश ही आकाश होता है, वह अलोक है। अलोक में जीव, पुद्गल नहीं होते। इसके कारण वहां धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव है। इसलिए ये (धर्म-अधर्म) लोक, अलोक के विभाजक बनते हैं। “आकाश लोक और अलोक दोनों में तुल्य है, इसीलिए धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न होता तो उनके विभाग का आधार ही क्या रहे।”

जिस प्रकार गति-स्थिति के निमित्त के रूप में धर्म और अधर्म द्रव्यों की उपधारणा (पोस्च्युलेशन) आवश्यक है, उसी प्रकार लोक-अलोक के विभाजन में भी इनको माने बिना तर्क-सम्मत समाधान नहीं मिलता। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है: ‘लोक सीमित है और उससे आगे अलोक-आकाश असीम है। इसलिए पदार्थों की और प्राणियों की व्यवस्थित रूपरेखा को बनाए रखने के लिए आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व होना चाहिये। यदि गति और अगति का माध्यम आकाश ही है, तो फिर अलोक-आकाश का अस्तित्व ही नहीं रहेगा और लोक-व्यवस्था का भी लोप हो जाएगा।’ लोक और अलोक का विभाजन एक शाश्वत तथ्य है; अतः इसके विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होने चाहिये। कृत्रिम वस्तु से शाश्वत आकाश का विभाजन नहीं हो सकता; अतः ऊपर बताये गये छः द्रव्यों में से ही विभाजक तत्त्व हो सकते हैं। यदि हम

आकाश को ही विभाजक माने तो यह उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि आकाश स्वयं विभज्यमान है, अतः वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता। यदि काल को विभाजक तत्त्व माना जाए तो भी तर्क-संगत नहीं होता, क्योंकि काल वस्तुतः (निश्चय दृष्टि से) तो जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। यह केवल औपचारिक द्रव्य है। व्यावहारिक काल लोक के सीमित क्षेत्र में ही विद्यमान है, जबकि नैश्चयिक काल लोक और अलोक दोनों में है। जीव और पुद्गल गतिशील द्रव्य है; अतः ये विभाजक तत्त्व के योग्य नहीं हैं। इस प्रकार छः द्रव्यों से मैं केवल दो द्रव्य शेष रह जाते हैं, जो लोक-अलोक का विभाजन कर सकें। अतः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दो द्रव्य ही आकाश का विभाजन करते हैं। जहां-जहां ये दो विद्यमान हैं, वहां-वहां जीव और पुद्गल गति करते हैं और स्थिर रहते हैं। जहां इनका अस्तित्व नहीं है, वहां किसी भी द्रव्य की गति और स्थिति सम्भव नहीं है। इस प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाजन हो जाता है। इसलिए कहा गया है—“धर्म और अधर्म को लोक और अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या बने?”

तम्हा धम्माधम्मा, लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता।

इयरहागासे तुल्ले, लोगालोगेत्ति को भेओ।।

—न्यायाकार

जैन दर्शन के मर्मज्ञ डॉ. महेन्द्रकुमार जैन इसे सरलता के साथ समझाते हुए लिखते हैं कि अनन्त आकाश में लोक के अमुक आकार को निश्चित करने के लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा किसी वास्तविक आधार पर निश्चित हो, जिसके कारण जीव और पुद्गलों का गमन वही तक हो सके, बाहर नहीं। आकाश एक अमूर्त, अखण्ड और अनन्त प्रदेशी द्रव्य है। उसकी अपनी सब जगह एक सामान्य सत्ता है। अतः उसके अमुक प्रदेशों तक पुद्गल और जीवों का गमन हो और आगे नहीं, यह नियन्त्रण स्वयं अखण्ड आकाश द्रव्य नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें प्रदेशभेद होकर भी स्वभाव भेद नहीं है। जीव और पुद्गल स्वयं गति स्वभाव वाले हैं, अतः यदि वे गति करते हैं तो स्वयं रुकने का प्रश्न ही नहीं है; इसलिए जैन आचार्यों ने लोक और अलोक के विभाग के लिए लोकवर्ती आकाश के बराबर एक अमूर्तिक, निष्क्रिय और अखण्ड धर्मद्रव्य माना है, जो गतिशील जीव और पुद्गलों को गमन करने में साधारण कारण होता है। यह किसी भी द्रव्य को प्रेरणा करके नहीं चलता; किन्तु जो स्वयं गति करते हैं, उनको माध्यम बनकर सहाय देता है। इसका अस्तित्व लोक के भीतर तो साधारण है पर लोक की सीमाओं पर नियन्त्रक के रूप में है। सीमाओं पर पता चलता है कि धर्मद्रव्य भी कोई अस्तित्वशाली द्रव्य है; जिसके कारण समस्त जीव और पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक समाप्त करने को विवश है, उससे आगे नहीं जा सकते।

जिस प्रकार गति के लिए एक साधारण कारण धर्मद्रव्य अपेक्षित है, उसी तरह जीव और पुद्गलों की स्थिति के लिए भी एक साधारण कारण होना चाहिये और वह है—अधर्म द्रव्य यह भी लोकाकाश के बराबर है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से—रहित अमूर्तिक है; निष्क्रिय है और उत्पाद-व्यय रूप से परिणमन करते हुए भी नित्य है। अपने स्वाभाविक सन्तुलन रखने वाले अनन्त अगुरुलघु गुणों से उत्पाद-व्यय करता हुआ, ठहरने वाले जीव-पुद्गलों की स्थिति में साधारण कारण होता है इसके अस्तित्व का पता भी लोक की सीमाओं पर ही चलता है। जब आगे धर्मद्रव्य न होने के कारण जीव और पुद्गल द्रव्य गति नहीं कर सकते तब स्थिति के लिए इसकी सहकारिता अपेक्षित होती है। ये दोनों द्रव्य स्वयं गति नहीं करते; किन्तु गमन करने वाले और ठहरने वाले जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में साधारण निमित्त होते हैं। लोक और अलोक का विभाग ही इनके सद्भाव का अचूक प्रमाण है।

यदि आकाश को ही स्थिति का कारण मानते हैं, तो आकाश तो लोक में भी मौजूद है। वह चूँकि अखण्ड द्रव्य है, अतः यदि वह लोक के बाहर के पदार्थों की स्थिति में कारण नहीं हो सकता; जो लोक के भीतर भी इसकी कारणता नहीं बन सकती। इसलिए स्थिति के साधारण कारण के रूप में इसमें अधर्मद्रव्य का पृथक् अस्तित्व है।

ये धर्म और अधर्म द्रव्य, पुण्य और पाप के पर्यायवाची नहीं हैं—स्वतंत्र द्रव्य हैं। इनके असंख्यात प्रदेश हैं; अतः बहुप्रदेशी होने के कारण इन्हें ‘अस्तिकाय’ कहते हैं और इसलिए इनका ‘धर्मास्तिकाय’ और

‘अधर्मास्तिकाय’ के रूप में निर्देश होता है इनका सदा शुद्ध परिणमन होता है। द्रव्य के मूल परिणामी-स्वभाव के अनुसार पूर्व पर्याय को छोड़ने और नई पर्याय को धारण करने का क्रम अपने प्रवाही अस्तित्व को बनाये रखते हुए अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चालू रहेगा।

5.10 सारांश

इस प्रकार धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय गति-स्थिति-निमित्तक और लोक-अलोक-विभाजक द्रव्यों के रूप में स्वीकार किए गए हैं। उक्त सम्प्र विवेचन को संक्षिप्त में इस प्रकार कहा जा सकता है : धर्मास्तिकाय (धन ईश्वर), अधर्मास्तिकाय (ऋण ईश्वर), आकाश, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन छः द्रव्यों से बना हुआ यह लोक परिमित है। इस लोक से परे आकाश-द्रव्य का अनन्त समुद्र है, जिसमें ईश्वरों के अभाव के कारण कोई भी जड़ पदार्थ या जीव गति करने में और ठहरने में समर्थ नहीं है।

5.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य के स्वरूप एवं महत्व को विस्तार से समझाइए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. धर्मद्रव्य एवं अधर्मद्रव्य के यौक्तिक आधार को स्पष्ट कीजिए।
2. धर्म, अधर्म की विभिन्न दृष्टियों से स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें और सही उत्तर लिखें।

1. गति में सहायक द्रव्य है।
2. स्थिति में सहायक द्रव्य है ।
3. आत्मशुद्धि साधन ।
4. दो कारण होते हैं ।
5. धर्म, अधर्म स्वयं द्रव्य है।
6. धर्म, और अधर्म शाश्वत/अशाश्वत हैं।
7. धर्म, अधर्म जीव/अजीव हैं।
8. धर्म, अधर्म भौतिक/अभौतिक हैं।
9. ईश्वर नामक भौतिक गति माध्यम को अस्वीकारा है आइन्स्टीन/न्यूटन।
10. लोक, अलोक का विभाजक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. पंचास्तिकाय
2. द्रव्यानुयोग तर्कणा
3. जैन सिद्धान्त दीपिका
4. बृहद् द्रव्य संग्रह
5. जैन दर्शन एवं विज्ञान
6. जैन दर्शन मनन मीमांसा

संवर्ग-3 : आकाश, काल
इकाई-6 : आकाशास्तिकाय

संरचना

- 6.0 प्रस्तावना
- 6.1 उद्देश्य
- 6.2 जैन दर्शन में आकाश का स्वरूप
 - 6.2.1 आकाश का लक्षण
 - 6.2.2 आकाश कहां है?
- 6.3 अन्य भारतीय दर्शनों में आकाश सिद्धान्त
 - 6.3.1 आकाश और दिक्
 - 6.3.2 आकाश और शब्द
 - 6.3.3 सांख्य दर्शन में आकाश
 - 6.3.4 बौद्ध परम्परा में आकाश का स्वरूप
 - 6.3.5 यूनानी दार्शनिक
 - 6.3.6 प्लूतो
 - 6.3.7 अरस्तू
 - 6.3.8 डेकार्टस
 - 6.3.9 लाइबनीज
 - 6.3.10 काण्ट
- 6.4 पाश्चात्य दर्शन और जैन दर्शन में आकाश सिद्धान्त की तुलना
- 6.5 विज्ञान के क्षेत्र में आकाश की अवधारणा
 - 6.5.1 वैज्ञानिक दृष्टिकोण : आपेक्षिकता के सिद्धान्त से पूर्व
 - 6.5.2 आपेक्षिकता के सिद्धान्त का आविष्कार
 - 6.5.3 आपेक्षिकता के सिद्धान्त के बाद : आकाश और काल
- 6.6 जैन दर्शन और विज्ञान की तुलना
 - 6.6.1 न्यूटन और जैन दर्शन
 - 6.6.2 आपेक्षिकता का सिद्धान्त और जैन दर्शन
- 6.7 सारांश
- 6.8 अभ्यास प्रश्नावली

6.0 प्रस्तावना

पिछले पाठों में हमने लोक के घटक के रूप में पांच अस्तिकायों की सामान्य रूप से चर्चा की थी। तीसरा अस्तिकाय-आकाशास्तिकाय का विस्तृत विवेचन हम प्रस्तुत पाठ में करने जा रहे हैं।

विश्व शब्द की विस्तृत व्याख्या में सभी वास्तविक द्रव्यों का समावेश हो जाता है। उनमें आकाश (Space) नामक तत्त्व प्राचीन काल से अब तक दर्शन जगत् एवं विज्ञान जगत् दोनों में बहुत ही रहस्यमय रहा है। सामान्य इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर पदार्थों द्वारा किया जाने वाला स्थान का अवगाहन अनुभव किया जा सकता है। यही आकाश नामक तत्त्व के अस्तित्व का आधार बनता है, किन्तु आकाश नामक तत्त्व वस्तुतः क्या है? उसका वास्तविक अस्तित्व है या नहीं? यदि है तो क्या वह भौतिक स्वरूप वाला तत्त्व है या उसका अभौतिक अस्तित्व है? ज्ञाता-सापेक्ष अस्तित्व के रूप में ही विद्यमान है अथवा ज्ञाता-निरपेक्ष वास्तविकता है? इन प्रश्नों पर भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों ने जहां विस्तृत विवेचन अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है, वहां वैज्ञानिक जगत् में भी न्यूटन, आइन्स्टीन आदि वैज्ञानिकों द्वारा आकाश के स्वरूप को न

केवल वैज्ञानिक दृष्टि से अपितु दार्शनिक दृष्टि से भी विश्लेषित किया गया है। इन सब का तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही रोचक एवं तत्त्व स्वरूप को समझने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

6.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में पहले हम जैन दर्शन के आकाश सम्बन्धी मन्तव्य को विस्तार से जानने की कोशिश करेंगे तथा तत्पश्चात् संक्षेप में तुलनात्मक रूप में उसकी मीमांसा करेंगे।

6.2 जैन दर्शन में आकाश का स्वरूप

पूर्व पाठों में विवेचित पंचास्तिकाय अथवा षड्द्रव्यों में तीसरे द्रव्य के रूप में आकाशास्तिकाय या आकाश द्रव्य का उल्लेख किया गया था। इस द्रव्य का समग्र स्वरूप यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

6.2.1 आकाश का लक्षण

आचार्य श्री तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका (1/6) में आकाश का लक्षण बताते हुये आकाश की परिभाषा दी है जो इस प्रकार है—

“अवगाहलक्षण आकाशः।

अवगाहः—अवकाशः, आश्रयः स एव लक्षणं यस्य स आकाशास्तिकायः।”

अर्थात्—अवगाह देने वाले द्रव्य को आकाश कहते हैं।

अवगाह का अर्थ है अवकाश या आश्रय। आकाश अवगाह लक्षण वाला है। भगवती सूत्र में इसी बात को प्रतिपादित करते हुये कहा गया है—‘अवगाह लक्षणं आकाशास्तिकाय’ भगवती सूत्र (13/58)। तत्त्वार्थ सूत्र में भी आकाशस्यावगाहः (5/18) इस सूत्र द्वारा आकाश का यही लक्षण बताया गया है। इसका संवादी प्रमाण उत्तराख्ययन में भी मिलता है—भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्षणं—सब द्रव्यों को अवकाश देने वाला आकाश है।

‘आकाश’ को सभी दर्शन और दार्शनिक मानते हैं। कोई भी ऐसा दर्शन या मत नहीं है, जो आकाश के अस्तित्व को नकारता हो। यद्यपि आंखों से हम ‘आकाश’ को देख नहीं सकते, क्योंकि यह अमूर्त द्रव्य है, फिर भी ‘आकाश’ का अस्तित्व जाना जा सकता है। अवगाह एक ऐसा लक्षण है, जो ‘आकाश’ के अस्तित्व को प्रकट करता है। अवगाह का अर्थ है—अवकाश/आश्रय। यदि ‘आकाश’ नहीं हो तो हम कहाँ ठहरें? संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थों को आश्रय देने वाला तत्त्व ‘आकाश’ ही है।

6.2.2 आकाश कहाँ है?

आप पूछेंगे ‘आकाश’ कहाँ है? मैं पूछता हूँ, ‘आकाश’ कहाँ नहीं है? और यह प्रतिप्रश्न ही पूर्व प्रश्न का उत्तर है। क्योंकि ‘कहाँ’ है?—यह प्रश्न तभी पूछा जा सकता है, जब पदार्थ कहीं हो और कहीं न हो। पर जो चीज सर्वत्र व्याप्त हो, उसके लिये यह प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता। ‘आकाश’ समूचे लोक और अलोक में व्याप्त है। ‘आकाश’ को नीला कहा जाता है। पर यह साहित्य की भाषा है, आगम की नहीं। आगम की भाषा में ‘आकाश’ अरूपी है। फिर वह नीला कैसे हो सकता है? हमें जो ‘आकाश’ नीला दिखाई देता है उसका कारण दूरी है। निकट जाने पर वह नीला नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि दिखाई देने वाला वस्तुतः ‘आकाश’ नहीं, अपितु परमाणु-पिण्ड है।

अमूर्त द्रव्य इन्द्रिय-ज्ञान का साक्षात् विषय नहीं बनता। उसकी स्वीकृति उसके लक्षण के आधार पर होती है। जैसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अस्तित्व को क्रमशः उनके गति-सहायकता तथा स्थिति-सहायकता नामक लक्षणों से स्वीकार किया गया है, वैसे ही पदार्थों को आश्रय देने वाले द्रव्य के रूप में आकाशास्तिकाय को स्वीकार किया गया है।

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर को गणधर गौतम द्वारा पूछा गया—“हे भगवन्! आकाश तत्त्व के द्वारा जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?”

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—“गौतम! आकाशास्तिकाय जीव और अजीव द्रव्यों के लिए भाजनभूत है।” इसका तात्पर्य है कि आकाश नहीं होता तो ये जीव और अजीव कहाँ होते? यह धर्मास्तिकाय और

अधर्मास्तिकाय किसमें व्याप्त होते, काल कहां बरतता? पुद्गल का रंगमंच कहां बनता? आकाश के बिना विश्व निराधार ही होता।

इस प्रकार आकाश का गुण अवगाहन है। वह स्वयं अनालम्ब है, किन्तु शेष सब द्रव्यों का आलम्बन है। स्वरूप की दृष्टि से सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं, किन्तु क्षेत्र या आयतन की दृष्टि से वे आकाश प्रतिष्ठित होते हैं। इसलिए इसे सब द्रव्यों का भाजन कहते हैं।

आकाश द्रव्य अन्य समस्त द्रव्यों—जीव तथा अजीव को स्थान देता है। यह अवगाहन का साधारण अथवा निष्क्रिय कारण है, प्रेरक या सक्रिय कारण नहीं है। जैसे धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य जीव-पुद्गलों की गति-स्थिति में प्रेरक कारण नहीं बनते, वैसे ही आकाश भी अन्य द्रव्यों को स्थान देने के लिए प्रेरक नहीं बनता। जीव और पुद्गल अपने-अपने उपादान के कारण आकाश में अवगाहन करते रहते हैं, आकाश केवल अवगाहन में निमित्त बनता है।

अन्य सभी द्रव्य आकाश में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु आकाश स्वयं स्वप्रतिष्ठित है। आकाश को आश्रय देने के लिए अन्य किसी द्रव्य की अपेक्षा नहीं है, ऐसी अपेक्षा मानने पर तो अनवस्था दोष आ जायेगा।

आकाश में जीव, पुद्गल आदि सभी द्रव्य युगपत् अवकाश पाये हुए हैं। यद्यपि पुद्गल आदि द्रव्यों में भी परस्पर हीनाधिक रूप में एक दूसरे को अवकाश देना देखा जाता है, फिर भी समस्त द्रव्यों को एक साथ अवकाश देने वाला आकाश ही हो सकता है। पृथ्वी आदि अन्य पदार्थों का भाजन होने पर भी बिना आकाश के वह टिक नहीं सकती। अतः आकाश को ही एक सर्व सामान्य आवृण्वता के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है।

जल आदि पुद्गल द्रव्य अपने में जो अन्य पुद्गलादि द्रव्यों को अवकाश या स्थान देते हैं, वह उनके तरल परिणमन और शिथिल बन्ध के कारण बनता है। अतः जलादि के भीतर रहने वाला आकाश ही अवकाश देने वाला सिद्ध होता है।

यह चर्चा हम कर चुके हैं (इकाई 2, पाठ 4) कि इस आकाश से ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का गति और स्थिति रूप काम नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि यदि आकाश ही पुद्गलादि द्रव्यों की गति और स्थिति में निमित्त हो जाय तो लोक और अलोक का विभाग ही नहीं बन सकेगा, और मुक्त जीव, जो लोकान्त में ठहरते हैं, वे सदा अनन्त आकाश में ऊपर की ओर उड़ते रहेंगे। अतः आकाश को गमन और स्थिति में साधारण कारण नहीं माना जा सकता।

यह आकाश भी अन्य द्रव्यों की भांति 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस सामान्य द्रव्य लक्षण से युक्त है और इसमें प्रतिक्षण अपने अगुरुलघु गुण के कारण पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अतः यह भी परिणामीनित्य है।

वैज्ञानिक न्यूटन ने प्रकाश की गति के लिए जिस ईश्वर रूप माध्यम की कल्पना की थी, वह आकाश नहीं था। वह तो एक सूक्ष्म परिणमन करने वाला लोकव्यापी पुद्गल-स्कन्ध ही है; क्योंकि मूर्त-द्रव्यों की गति का अंतरंग आधार अमूर्त पदार्थ नहीं हो सकता। आकाश के अनन्त प्रदेश इसलिए माने जाते हैं कि जो आकाश का भाग काशी में है, वही पटना आदि में नहीं है, अन्यथा काशी और पटना एक ही क्षेत्र में आ जायेंगे।

जैन तत्त्व-मीमांसा की इकाई-1 के पाठ-1 में हम लोकाकाश और अलोकाकाश की चर्चा कर चुके हैं। उस चर्चा से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय का अस्तित्व केवल लोकाकाश तक ही सीमित है। जबकि अलोकाकाश इन सभी द्रव्यों से शून्य है। यद्यपि आकाश एक, अखण्ड और सातत्य (Continuity) सहित है, फिर भी अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण ही औपचारिक दृष्टि से लोकाकाश और अलोकाकाश को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अवगाह-लक्षण समूचे आकाश का अपना आन्तरिक (Implicit) गुण या धर्म है, अतः अलोकाकाश भी अवगाह लक्षण से रहित नहीं है। तात्पर्य यह हुआ कि अलोकाकाश अवगाह-लक्षण युक्त होने से उसमें अन्य द्रव्यों को अवगाह या आश्रय देने की क्षमता अपने आप में विद्यमान है। यह दूसरी बात है कि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अभाव के कारण अलोकाकाश में पुद्गल और जीव की न गति

संभव है और न स्थिति। इसका अर्थ यह नहीं कि अलोकाकाश अवगाह लक्षण से रहित है, क्योंकि मूलतः सारा आकाश द्रव्य एक ही है। उसमें अवगाह-लक्षण एक रूप में सर्वत्र विद्यमान है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो अलोकाकाश तो अन्य द्रव्यों को अवगाह देने की क्षमता रखता है, पर अन्य द्रव्य उसमें आश्रय लेने की क्षमता नहीं रखते।

आकाशास्तिकाय के स्कन्ध, देश, प्रदेश की चर्चा भी हम जैन तत्त्व मीमांसा के इकाई-1 पाठ-2 में कर चुके हैं तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा से आकाशास्तिकाय के स्वरूप की विवेचना भी विस्तार से की जा चुकी है। यह स्पष्ट हो चुका है कि—

1. **द्रव्य की दृष्टि से**—आकाश एक और अखण्ड द्रव्य है, जिसकी रचना में सातत्य है।
2. **क्षेत्र की दृष्टि से**—आकाश लोकालोक-प्रमाण है अर्थात् असीम और अनन्त विस्तार वाला है। यह सर्वव्यापी है और इसके प्रदेशों की संख्या अनन्त है।
3. **काल की दृष्टि से**—आकाश अनादि और अनन्त है अर्थात् शाश्वत है।
4. **भाव की दृष्टि से**—आकाश अमूर्त है क्योंकि वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से रहित है। आकाश अभौतिक और अचेतन है। गति-रहित होने से अगतिशील है।
5. **गुण की दृष्टि से**—आकाश अवगाहन-गुण वाला है—अन्य द्रव्यों को आश्रय प्रदान करता है।

6.3 अन्य भारतीय दर्शनों में आकाश-सिद्धान्त

6.3.1 आकाश और दिक् (Direction)

दिशाएं क्या हैं?

‘आकाश’ को कोई जाने या न जाने, पर दिशाओं को तो सभी जानते हैं। जैन आगमों में चार, दश और अठारह दिशाओं का वर्णन प्राप्त है। इनमें मुख्य चार ही हैं—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर। इनको पहचानने का सीधा-सा तरीका है—सूर्य उदय हो, उस ओर मुंहकर खड़े होने पर सामने की ओर पूर्व, पीठ की ओर पश्चिम, दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बाये हाथ की ओर उत्तर होता है। प्रश्न है, दिशाएं क्या हैं? क्या वे स्वतंत्र द्रव्य हैं? नहीं, वे स्वतंत्र द्रव्य नहीं हैं, किन्तु आकाश के ही विभिन्न विभाग हैं।

जहां जैन दर्शन में आकाश को ही मूल द्रव्य माना गया है, दिक् को कोई स्वतंत्र द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, वहां कुछ दार्शनिक आकाश और दिक् को पृथक् द्रव्य मानते हैं। कुछ दिक् को आकाश से पृथक् नहीं मानते। कणाद ने दिक् को नौ द्रव्यों में से एक माना है। (वैशेषिक सूत्र, 2/2/10)

न्याय और वैशेषिक जिसका गुण शब्द है उसे आकाश और जो बाह्य जगत् को देशस्थ करता है उसे दिक् मानते हैं। न्यायकारिकावली (46, 47) के अनुसार दूरत्व और सामीप्य तथा क्षेत्रीय परत्व और अपरत्व की वृद्धि का जो हेतु है, वह दिक् है। वह एक और नित्य है। उपाधि-भेद से उसके पूर्व, पश्चिम आदि विभाग होते हैं।

कणाद सूत्र (2/2/13) के अनुसार इनका भेद कार्य-विशेष से होता है। यदि वह शब्द की निष्पत्ति का कारण बनता है, तो आकाश कहलाता है और यदि वह बाह्य-जगत् के अर्थों के देशस्थ होने का कारण बनता है, तो दिक् कहलाता है।

जैन दर्शन के अनुसार आकाश स्वतंत्र द्रव्य है। दिक् उसी का काल्पनिक विभाग है। आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है, वह दिक् कहलाता है।

दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति तिर्यक् लोक से होती है।

दिशा का प्रारम्भ आकाश के दो प्रदेशों से शुरू होता है और उनमें दो-दो प्रदेशों की वृद्धि होते-होते वे असंख्य प्रदेशात्मक बन जाती हैं। अनुदिशा केवल एक-देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधः दिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशों से होता है, फिर उनमें वृद्धि नहीं होती। (आचारंग निर्युक्ति गा. 42, 44) यह दिशा का आगमिक स्वरूप है।

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्व और जिस ओर सूर्यास्त होता है, वह पश्चिम तथा दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बाएं हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। इन्हें ताप-दिशा कहा जाता है। (आचारंग निर्युक्ति गा. 47, 48)

निमित्त कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुंह किये होता है वह पूर्व, उसका पृष्ठ भाग पश्चिम, दोनों पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हें प्रज्ञापक-दिशा कहा जाता है। (आचारंग निर्युक्ति गा. 51)

पं. महेन्द्रकुमार जी ने लिखा है—“आकाश के प्रदेशों में सूर्योदय की अपेक्षा पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं की कल्पना की जाती है। दिशा कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। आकाश के प्रदेशों की पंक्तियां सब तरफ कपड़े में तन्तु की तरह श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस नाप से आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। यदि पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार होने के कारण दिशा को एक स्वतंत्र द्रव्य माना जाता है, तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश आदि व्यवहारों से ‘देश द्रव्य’ भी स्वतंत्र मानना पड़ेगा। फिर प्रान्त, जिला, तहसील आदि बहुत से स्वतंत्र द्रव्यों की कल्पना करनी पड़ेगी।”

6.3.2 आकाश और शब्द

आकाश का गुण शब्द नहीं है। शब्द पुद्गलों के संघात और भेद का कार्य है। विज्ञान ने भी शब्द (Sound) को भौतिक (पौद्गलिक) ऊर्जा के रूप में स्वीकार किया है, जो तरंग के रूप में प्रसारित होती है।

पं. महेन्द्रकुमार जी के शब्दों में—“आकाश में शब्द गुण की कल्पना भी आज के वैज्ञानिक प्रयोगों ने असत्य सिद्ध कर दी है। यह तो मोटी-सी बात है कि जो शब्द पौद्गलिक इन्द्रियों से गृहीत होता है, पुद्गलों से टकराता है, पुद्गलों से रोका जाता है, पुद्गलों को रोकता है, पुद्गलों में भरा जाता है, वह पौद्गलिक ही हो सकता है। अतः शब्द गुण के आधार के रूप में आकाश का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। न ‘पुद्गल द्रव्य’ का ही परिणमन आकाश हो सकता है; क्योंकि एक ही द्रव्य के मूर्त और अमूर्त, व्यापक और अव्यापक आदि दो विरुद्ध परिणमन नहीं हो सकते।”

6.3.3 सांख्य दर्शन में आकाश

पं. महेन्द्रकुमारजी लिखते हैं—“सांख्य एक प्रकृति तत्त्व मानकर उसी के पृथिवी आदि भूत तथा आकाश ये दोनों परिणमन मानते हैं। परन्तु विचारणीय बात यह है कि एक प्रकृति का घट, पट, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि अनेक रूपों भौतिक कार्यों के आकार में ही परिणमन करना युक्ति और अनुभव दोनों से विरुद्ध है, क्योंकि संसार के अनन्त रूपों भौतिक कार्यों की अपनी पृथक् सत्ता देखी जाती है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का सादृश्य देखकर इन सबको एकजातीय या समानजातीय तो कहा जा सकता है, पर एक नहीं। किंचित् समानता होने के कारण कार्यों का एक कारण से उत्पन्न होना भी आवश्यक नहीं है। भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले सैकड़ों घट-पटादि कार्य कुछ-न-कुछ जड़त्व आदि के रूप में समानता रखते ही हैं। फिर मूर्तिक और अमूर्तिक, रूपी और अरूपी, व्यापक और अव्यापक, सक्रिय और निष्क्रिय आदि रूप से विरुद्ध धर्मवाले पृथिवी आदि और आकाश को एक प्रकृति का परिणमन मानना ब्रह्मवाद की माया में ही एक अंश से समा जाना है। ब्रह्मवाद कुछ आगे बढ़कर चेतन और अचेतन सभी पदार्थों को एक ब्रह्म को विवर्त मानता है और सांख्य समस्त जड़ों की एक जड़ प्रकृति को पर्याय।

“यदि त्रिगुणात्मकत्व का अन्वय होने से सब एक त्रिगुणात्मक कारण से समुत्पन्न है तो आत्मत्व का अन्वय सभी आत्मों में पाया जाता है, और सत्ता का अन्वय सभी चेतन और अचेतन पदार्थ में पाया जाता है; तो इन सबको भी एक ‘अद्वैत-सत्’ कारण से उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, जो कि प्रतीति और वैज्ञानिक प्रयोग दोनों से विरुद्ध है। अपने-अपने विभिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले स्वतंत्र जड़-चेतन और मूर्त-अमूर्त आदि विविध पदार्थों में अनेक प्रकार के पर-अपर सामान्यों का सादृश्य देखा जाता है, पर इतने मात्र से सब एक नहीं हो सकते। अतः आकाश प्रकृति की पर्याय न होकर एक स्वतंत्र द्रव्य है, जो अमूर्त, निष्क्रिय, सर्वव्यापक और अनन्त है।”

6.3.4 बौद्ध-परम्परा में आकाश का स्वरूप

पं. महेन्द्रकुमारजी के अनुसार—“बौद्ध परम्परा में आकाश को ‘असंस्कृत’ धर्मे में गिनाया है और उसका वर्णन ‘अनावृति’ (आवरणाभाव) रूप से किया है। (अभिधर्मकोश, 1/15) यह किसी को आवरण नहीं करता और न किसी से आवृत होता है। संस्कृत का अर्थ जिसमें उत्पादादि धर्म पाये जाएँ किन्तु सर्वक्षणिकवादी बौद्ध का आकाश को ‘असंस्कृत’ अर्थात् ‘उत्पादादि धर्म से रहित मानना’ कुछ समझ में नहीं आता। इसका वर्णन भले ही अनावृति रूप से किया जाय, पर वह भावात्मक पदार्थ है, यह वैभाषिकों के विवेचन से सिद्ध होता है। कोई भी भावात्मक पदार्थ बौद्ध के मत से उत्पादादि शून्य कैसे हो सकता है? यह तो हो सकता है कि उसमें होने वाले उत्पादादि का हम वर्णन न कर सकें, पर स्वरूपभूत उत्पादादि से इन्कार नहीं किया जा सकता और न केवल वह आवरणभाव रूप ही माना जा सकता है। ‘अभिधम्मसंग्रह (1/28)’ में आकाश धातु को परिच्छेदरूप माना है। वह चार महाभूतों की तरह निष्पन्न नहीं होता; किन्तु अन्य पृथ्वी आदि धातुओं के परिच्छेद-दर्शन मात्र से इसका ज्ञान होता है, इसलिए इसे परिच्छेदरूप कहते हैं; पर आकाश केवल परिच्छेदरूप नहीं हो सकता; क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है। अतः वह उत्पादादि लक्षणों से युक्त एक संस्कृत पदार्थ है।

पाश्चात्य दर्शन में आकाश

6.3.5 यूनानी दार्शनिक

प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने अणुवाद के स्थापन में ‘आकाश’ तत्त्व के स्वरूप का चिन्तन किया है। उन्होंने अणुओं का और आकाश का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार किया है। ‘अणुओं की गति रिक्त आकाश में, जो अणुओं के बीच में अस्तित्ववान् है, होती है।’ यह अणुवादियों की स्पष्ट धारणा थी। उन्होंने भौतिक तत्त्व (Matter) और आकाश तत्त्व का, भिन्न-भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व माना। उनके मत में आकाश असत् नहीं है, किन्तु एक वास्तविक तत्त्व है, जो कि एक आधार के रूप में है, जिसमें भौतिक तत्त्व को रहने का स्थान मिलता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं माना गया कि आकाश और कोई-न-कोई भौतिक पदार्थ के द्वारा अवगाहित हो ही, अर्थात् शून्य आकाश (Void) का अस्तित्व भी वास्तविक है। यूनान के एक अन्य दार्शनिक परमेनिडस (ई.पू. 450) ने शून्य आकाश को असत् बताया था और इसके विरोध में अणुवादी दार्शनिकों ने यह तर्क रखा कि शून्य आकाश को स्वीकार किए बिना किसी भी पदार्थ की गति सम्भव नहीं हो सकती।

6.3.6 प्लुतो

अणुवादी दार्शनिकों के पश्चात् आकाश के विषय में प्लुतो ने टाइमेयस (Timaeus) में उल्लेखनीय चिन्तन किया है। आकाश को ‘कोरा’ (Chora) नामक एक तत्त्व माना है, जो सभी भौतिक पदार्थों के लिए एक साधारण तत्त्व है। यदि भौतिक पदार्थों के रंग, भार आदि अन्य सभी गुण उनसे पृथक् कर दिये जायें, तो भी ‘कोरा’ तत्त्व उनमें सामान्य रूप से रह जायेगा। ‘कोरा’ तत्त्व का अस्तित्व सदैव भौतिक पदार्थों के साथ जुड़ा हुआ होता है, स्वतंत्र रूप में उनका कोई अस्तित्व नहीं माना गया।

6.3.7 अरस्तू

वास्तविकतावादी होने के कारण अरस्तू ने अन्य पदार्थों की तरह आकाश (और काल) तत्त्व को भी विश्व का वास्तविक तत्त्व माने हैं और यह भी स्वीकार किया है कि उनका अस्तित्व ज्ञाता के ऊपर आधारित नहीं है। आकाश को एक अगतिशील वर्तन के रूप में माना है, जिसमें विविध प्रकार के पदार्थों को आश्रय मिलता है।

अरस्तू के दर्शन पर आधारित स्कोलास्टिसीज (Scholasticism) के व्याख्याकार जेम्स मेकविलियम्स ने ‘आकाश’ के बारे में लिखा है कि “आकाश एक अभौतिक विस्तार है जो पदार्थों के लिए आधार के रूप में होता है। अतः ऐसे आकाश की उत्पत्ति केवल मन से होती है, किन्तु इसका आधार बाह्य वास्तविकता में है।” (कोस्मोलोजी पृ. 100) इस प्रकार से आकाश को ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता माना गया है। इस मत ने आकाश के तीन प्रकार बताए हैं—

1. वास्तविक आकाश (Real space)—पदार्थों द्वारा अवगाहित आकाश।
2. शक्य आकाश (Possible space)—पदार्थों द्वारा अवगाहित आकाश।
3. निरपेक्ष आकाश (Absolute space)—उक्त दोनों आकाशों के साथ मिलने से होने वाला आकाश।

तीसरे प्रकार के आकाश में समग्र आकाश का समावेश हो जाता है। प्रथम में 'निरपेक्ष आकाश' का केवल वह भाग है, जो पदार्थों के द्वारा अवगाहित हो। द्वितीय में 'निरपेक्ष आकाश' का वह भाग है, जो शून्य हो। 'वास्तविक आकाश' पदार्थों की सीमा तक सीमित है। विश्व में जहां कहीं भी पदार्थों का अभाव है, वहां 'शक्य आकाश' है। 'निरपेक्ष आकाश' की सीमाएं नहीं हैं—वह अनिश्चित रूप से विस्तृत है। 'शक्य आकाश' द्वारा अवगाहित आकाश की बाहरी अन्तिम सीमा से परे असीम रूप से व्याप्त है।

6.3.8 डेकार्टस

दार्शनिक डेकार्टस ने विस्तार (Extension) को भौतिक पदार्थों का ही मूलभूत गुण माना। पदार्थ (Substance) और गुण का जो संबंध है, वही संबंध विस्तार और भौतिक पदार्थों का है। अतः जहां पर भौतिक पदार्थ है, वहां पर ही विस्तार है, अर्थात् 'आकाश' है। जहां भौतिक पदार्थ नहीं है, वहां आकाश नहीं है। किन्तु आकाश सर्वत्र होने के कारण, भौतिक पदार्थों का अस्तित्व भी सर्वत्र है, ऐसा डेकार्टस का मानना था।

डेकार्टस के समकालीन एक अन्य फ्रेंच दार्शनिक पीयरी गेसेण्डी ने डेकार्टस की इस मान्यता कि 'शून्य आकाश का अस्तित्व नहीं हो सकता', को गलत बताया और प्राचीन यूनानी अणुवादी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित निरूपण को 'अणुओं की गति शून्य आकाश में होती है' को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। गेसेण्डी के इन विचारों को न्यूटन ने अपनाया और विज्ञान-जगत् में 'आकाश' के विषय में प्रथम सिद्धान्त आया, जिसकी चर्चा वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण के अन्तर्गत करना अधिक उपयुक्त होगा।

6.3.9 लाइबनीज

पाश्चात्य दार्शनिक एवं गणितज्ञ लाइबनीज के विचार जिनमें मौलिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण इसलिए हैं कि बीसवीं सदी में आइन्स्टीन के आकाश और काल संबंधी सिद्धान्त उन तीन सौ वर्ष पुराने मन्त्रव्यों से अत्यधिक मात्रा में सद्गता रखते हैं। लाइबनीज की मान्यता के अनुसार आकाश तत्त्व स्वयं में कोई स्वतंत्र वास्तविकता नहीं है, जैसे कि न्यूटन ने माना है। लाइबनीज के शब्दों में "सह-अस्तित्वमान (युगपत् अस्तित्व वाले) पदार्थों का क्रम (Order) 'आकाश' है।" इस प्रकार आकाश स्वयं में न तो पदार्थ है और न पदार्थों का गुण है, किन्तु पदार्थों का क्रम है। 'निरपेक्ष आकाश' जैसा कोई तत्त्व हो ही नहीं सकता; क्योंकि 'क्रम' स्वयं सापेक्षता का सूचक है।

6.3.10 काण्ट

लाइबनीज के पश्चात् दार्शनिकों में प्रमुखतम दार्शनिक काण्ट ने आकाश (और काल) के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। काण्ट के अनुसार आकाश हमारे अनुभव-प्राक् (A priori) अंतः-दर्शन की उपज है।

"आकाश की कल्पना अनन्त 'ज्ञात-राशि' के रूप में है, जो कि आकाश के भिन्न-भिन्न भागों को अपने में समाए हुए है। अतः आकाश कोई कल्पना नहीं है, अंतः-दर्शन की अनुभूति है।"

6.4 पाश्चात्य दर्शन और जैन दर्शन में आकाश-सिद्धान्त की तुलना

जहां डेकार्टस, लाइबनीज, स्कोलास्टिक दार्शनिक, काण्ट आदि आकाश को कोई स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार नहीं करते, वहां प्लुतो, अरस्तू, गेसेण्डी आदि आकाश को एक स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में मानते हैं। जैन दर्शन भी आकाश को एक 'अस्तिकाय' मानता है। इस प्रकार आकाश की वास्तविकता के विषय में जैन दर्शन का दृष्टिकोण दूसरे पक्ष के साथ में सादृश्य रखता है।

आकाश की शून्याशून्यता को लेकर भी दो पक्ष बन जाते हैं—एक पक्ष में शून्य आकाश (वेक्यूम) का अस्तित्व भी वास्तविक माना गया है; जबकि दूसरे पक्ष में पदार्थों के अभाव में आकाश का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। प्रथम पक्ष में स्कोलास्टिक दार्शनिक, काण्ट, गेसेण्डी आदि दार्शनिक हैं, तो दूसरे पक्ष में डेकार्टस, लाइबनीज, प्लुतो, अरस्तू आदि हैं। जैन दर्शन सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रथम पक्ष के साथ ही सादृश्य रखता है। अलोकाकाश सम्पूर्णतः रिक्त है, फिर भी वास्तविक है। वास्तविकता की दृष्टि से तो सम्पूर्ण लोकाकाश पदार्थों से व्याप्त है, फिर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से शून्यता की सम्भावना की जा सकती है।

आकाश के स्वरूप के विषय में प्रमुखतया तीन विचारधाराएं बनती हैं—1. आकाश केवल ज्ञाता-सापेक्ष तत्त्व है अथवा प्राग्-अनुभव अंतः-दर्शन की उपज ही है। 2. आकाश भौतिक पदार्थों से जुड़ा हुआ या उनका ही गुण रूप या क्रम रूप तत्त्व है। 3. आकाश ज्ञाता (आत्मा) और भूत से सर्वथा भिन्न एक स्वतंत्र वास्तविकता है।

इन तीनों विकल्पों में से प्रथम विकल्प को स्वीकार करने वाले हैं—काण्ट। स्कॉलास्टिक दार्शनिकों के अनुसार आकाश की कल्पना हम इसलिए करते हैं कि वास्तविक पदार्थों के विस्तार को देखते ही हमें यह अनुभव होता है कि इसका कोई-न-कोई आधार होना चाहिए। अतः आकाश स्वयं में कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है; अपितु केवल हमारे मस्तिष्क की ही उपज है। किन्तु उनकी यह धारणा तर्क-संगत नहीं होती; क्योंकि कि वास्तविक पदार्थों का आधार यदि वास्तविक नहीं होता है, तो काल्पनिक आश्रय के द्वारा उनका टिकाव कैसे हो सकता है? अतः यह मानना ही पड़ता है कि आकाश का वास्तविक अस्तित्व है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि शून्य आकाश का अस्तित्व भी शक्य है तथा आकाश स्व-अवस्थित और शाश्वत है। किन्तु वे मानते हैं कि ये सभी गुण हमारे द्वारा ही कल्पित हैं। यदि इनको हम वास्तविक मान लें, तो ईश्वर और आकाश में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। (कोस्मोलोजी, पृ. 101) यह मान्यता तर्क-संगत नहीं है। ईश्वर की सर्व-व्यापकता की कल्पना स्वयं ही सर्वमान्य नहीं है; अतः आकाश को वास्तविक मानने में कोई दोष नहीं है।

काण्ट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की 'आकाश केवल एक प्राग्-अनुभव अंतः-दर्शन की उपज है' तर्क के आधार पर खरा नहीं उतरता। अब आधुनिक विज्ञान में युक्तिवित्तीय भूमिति के आविष्कार के बाद तो काण्ट की इस मान्यता का प्रत्यक्षतः खण्डन हो जाता है। काण्ट की विचारधारा में और जैन दर्शन की विचारधारा में केवल यही साम्य है कि दोनों ने शून्य आकाश के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

दूसरी विचारधारा आकाश को भौतिक पदार्थ से संबन्धित मानती है। जैसे-प्लूतो ने 'कोरा' तत्त्व को माना है तथा अरस्तू ने भी भौतिक पदार्थ के अभाव में आकाश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। इस मान्यता को भी जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। यदि आकाश का वास्तविक अस्तित्व होता है, तो वह भूत से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र होना चाहिए, क्योंकि आकाश अनन्त है और भौतिक विश्व सान्त है।

आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानना भी उपयुक्त नहीं है; जैसे डेकार्टस ने माना है। 'स्थान पाना' अथवा 'स्थान रोकना' भौतिक पदार्थ का गुण है, परन्तु जिसमें स्थान पाया जाता है, वह तो उससे भिन्न ही है। एक ही स्थान में अनेक पदार्थों का आश्रित होना और एक ही पदार्थ का कालान्तर में अनेक स्थानों में आश्रित होना 'आश्रय' देने वाले तत्त्व को आश्रित तत्त्व से भिन्न सिद्ध कर देता है। जैन दर्शन के अनुसार तो आकाशास्तिकाय के एक 'प्रदेश पर अनन्त भौतिक परमाणुओं का आश्रय होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त आकाश अमूर्त है, जबकि भौतिक पदार्थ वर्णादि गुण सहित हैं और मूर्त हैं। तब अमूर्त आकाश मूर्त पदार्थ का गुण कैसे बन सकता है?

6.5 विज्ञान के क्षेत्र में आकाश की अवधारणा

6.5.1 वैज्ञानिक दृष्टिकोण : आपेक्षिकता के सिद्धान्त से पूर्व

आइन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त (Theory of Relativity) से पूर्व वैज्ञानिक जगत् में 'आकाश और काल' संबंधी एक सर्वमान्य सिद्धान्त था, जो कि सर आइजक न्यूटन द्वारा सर्वप्रथम दिया गया था। दार्शनिक रोसेण्डी के आकाश संबंधी विचारों से प्रभावित होकर न्यूटन ने इस सिद्धान्त की स्थापना की थी। अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक 'प्रिंसिपिया' (Principia) में 'आकाश' और 'काल' का विवेचन करते हुए न्यूटन ने लिखा है—“निरपेक्ष आकाश, अपने स्वभाव और बाह्य किसी वस्तु की अपेक्षा बिना, सदा एक-सा और स्थिर रहता है” और काल के संबंध में, “निरपेक्ष, वास्तविक और गणितीय काल अपने आप और स्वभावतः किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा बिना सदा समान रूप से बहता है।” न्यूटन की इन व्याख्याओं से स्पष्ट हो जाता है

कि न्यूटन ने आकाश और काल को स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविक तत्त्व माना है। इनका अस्तित्व न तो ज्ञाता पर निर्भर है और न अन्य भौतिक पदार्थों पर, जिनको वे आश्रय देते हैं अथवा संबन्धित करते हैं।

न्यूटन के अनुसार आकाश एक अगतिशील (स्थिर) आधार के रूप में है तथा उसमें पृथ्वी और अन्य आकाशीय पिण्ड रहे हुए हैं। यह (आकाश) असीम विस्तार वाला है। चाहे वह किसी द्रष्टा (अथवा ज्ञाता) के द्वारा देखा जाय (अथवा अनुभव किया जाय) या नहीं और चाहे वह कोई पदार्थ द्वारा अवगाहित हो अथवा नहीं, इनकी अपेक्षा बिना स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में है और सदा से अस्तित्व में था। जो कुछ भी विश्व में हो रहा है, वह आकाश में हो रहा है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ आकाश में ही कहीं-न-कहीं रहा हुआ है और उसमें ही वह अपना स्थान परिवर्तन कर सकता है। न्यूटन के अनुसार आकाश की रचना में सातत्य है; अर्थात् आकाश 'एक और अखण्ड' तत्त्व है। सर्वत्र एकरूप है, अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थों द्वारा अवगाहित होने पर भी उनके गुणों में परिवर्तन नहीं आता है।

6.5.2 आपेक्षिकता के सिद्धान्त का आविष्कार

न्यूटन के 'निरपेक्ष आकाश' के सिद्धान्त से भौतिक विज्ञान में उपस्थित होने वाली समस्याओं का हल निकालने का प्रयत्न अठाहरवीं और उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिकों द्वारा किया गया। इन समस्याओं में 'प्रकाश-तरंगों' के प्रसार की समस्या मुख्य थी। प्रकाश तरंग के रूप में प्रसारित होता है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त था, किन्तु इसका प्रसार शून्य आकाश में किस माध्यम से होता है—यह प्रश्न उपस्थित होने पर वैज्ञानिकों को किसी एक ऐसे माध्यम की कल्पना करनी पड़ी, जो कि प्रकाश-तरंगों के प्रसार में सहायक हो। इस माध्यम को 'ईथर' कहा गया और माना गया कि ईथर एक ऐसा भौतिक तत्त्व है, जो कि सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त है और जो प्रकाश-तरंगों के प्रसार में उसी तरह सहायक होता है जिस तरह समुद्र की तरंगों के प्रसार में पानी होता है, अथवा ध्वनि की तरंगों के प्रसार में हवा होती है।

इस प्रकार के ईथर-तत्त्व की कल्पना के बाद यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि जब गतिशील पदार्थ गति करते हैं, तब ईथर, जो कि सर्वत्र व्याप्त है, की क्या स्थिति होती है? यदि वह भी पदार्थ की गति से प्रभावित होता है, तो उसमें से गुजरने वाली प्रकाश-तरंगों पर भी उसका प्रभाव होना चाहिए। इस बात की सत्यता को परखने के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग किए गये, जिसमें माइकलसन (Michelson) और मोर्ले (Morley) द्वारा किया गया प्रयोग (1881 ई.) उल्लेखनीय है। इस प्रयोग में गतिमान पृथ्वी के ईथर में गुजरने से, ईथर पर क्या प्रभाव होता है, इसका प्रकाश-किरणों के द्वारा परीक्षण किया गया।

यदि वस्तुतः ईथर-तत्त्व पृथ्वी की गति से प्रभावित होता है (अर्थात् पृथ्वी की गति से ईथर प्रवाह भी गति करने लगता है), तो प्रकाश की गति पर ईथर का प्रभाव होना जरूरी है और यह यन्त्रों द्वारा नापा जा सकता है। ईथर का अस्तित्व प्रायोगिक आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। माइकलसन और मोर्ले के प्रयोगों से प्रकाश की गति पर पड़ने वाला ईथर का प्रभाव किसी भी रूप में सामने न आया। इसके परिणाम-स्वरूप ईथर के अस्तित्व के विषय में दो विकल्प रह गये—1. ईथर तत्त्व है और इस पर पृथ्वी की गति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् पृथ्वी स्थिर है। 2. ईथर नाम का कोई तत्त्व नहीं है।

प्रथम विकल्प को स्वीकार करने का अर्थ होता है—पृथ्वी की गति को अस्वीकार करना, जो वैज्ञानिकों के लिए असम्भव-सी बात थी। फिर भी दूसरी ओर ईथर को नहीं मानने से प्रकाश की तरंग-रूप में प्रसारण-क्रिया को नहीं समझाया जा सकता।

इस प्रकार जब कोई समाधान नहीं निकल रहा था, तब ई. 1905 में अल्बर्ट आइन्स्टीन ने 'आपेक्षिकता का सिद्धान्त' (Theory of Relativity) प्रस्तुत कर 'ईथर' की कल्पना को तिलांजलि दी। 'आकाश' को एक निरपेक्ष गतिशून्य तत्त्व न मानकर आइन्स्टीन ने बताया कि 'किसी भी प्रकार के प्रयोग से यह जानना अशक्य है कि अमुक पदार्थ की गति निरपेक्षतया क्या है?' इससे यह निष्कर्ष निकला कि विश्व में कोई भी पदार्थ निरपेक्षतया स्थिर नहीं रह सकता। पदार्थों की गति और स्थिति आपेक्षिक है। इसको 'विशिष्ट आपेक्षिकता का सिद्धान्त' (Special Theory of Relativity) कहते हैं।

उक्त सिद्धांत के स्थापन में आइन्स्टीन ने इस परिकल्पना का आधार लिया कि प्रकाश की गति सदा अचल रहती है। किसी पदार्थ की निरपेक्ष गति क्या है—यह प्रकाश की गति की सहायता से अथवा अन्य किसी भी तरीकों से जानना अशक्य हो जाता है। दूसरी ओर प्रकाश की गति को सदा एकरूप और अचल मानने से ‘ईथर’ का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है; क्योंकि यदि ईथर अस्तित्व में होता, तो उसकी गति का प्रभाव अवश्य प्रकाश की गति पर पड़ना चाहिए था।

दूसरा तथ्य जो सामने आया, वह यह था कि प्रकाश की गति का वेग उत्कृष्टतम वेग है। विश्व में सबसे अधिक वेग किसी भी पदार्थ का होना संभव नहीं है। प्रकाश का वेग एक निश्चित और परिमित ‘अचर’ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी पदार्थ की स्थिति के निरीक्षण में लगने वाला काल चाहे कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, एक सीमा से कम नहीं हो सकता।

6.5.3 आपेक्षिकता के सिद्धांत के बाद : आकाश और काल

आइन्स्टीन के ‘आपेक्षिकता’ के सिद्धांत ने भौतिक विज्ञान में अनेक बृहत् परिवर्तन ला दिए। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन ‘आकाश’ और ‘काल’ की धारणा संबंधी थे। सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक मिन्काउस्की (Minkowski) ने ‘आपेक्षिकता के सिद्धांत’ का गणितीय प्रतिपादन जिस रूप में किया, उससे यह तथ्य निकला कि विश्व ‘आकाश-काल की एक सम्मिलित चतुर्वैमितिक सततता’ (Four-dimensional continuum of space and time) के रूप में है। आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार आकाश की तीन विमितियां (Dimensions) और काल की एक विमिति मिलकर एक चतुर्वैमितिक अखण्डता का निर्माण करती है और हमारे वास्तविक जगत् में होने वाली सभी घटनाएं इस चतुर्वैमितिक सततता की विविध अवस्थाओं के रूप में सामने आती हैं।

वैज्ञानिक हाइजन्स ने समझाया है—“जब हम भूत शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसमें घटित सभी घटनाओं का ज्ञान करने के लिए हम समर्थ हैं, वे घटनाएं घट चुकी हैं। इसी प्रकार से जब हम ‘भविष्य’ का प्रयोग करते हैं, तो अर्थ होता है कि वे सभी घटनाएं, जो अब तक घटित नहीं हुई हैं, ‘भविष्य’ की हैं, जिनको हम प्रभावित करने में समर्थ हैं ... इन परिभाषाओं का हमारे दैनन्दिन के शब्द-व्यवहार से सीधा संबंध है। अतः इस अर्थ में यदि हम इन शब्दों (‘भूत’ और ‘भविष्य’) का उपयोग करते हैं, तो बहुत सारे प्रयोगों के परिणामस्वरूप यह बताया जा सकता है कि ‘भविष्य’ और ‘भूत’ की घटनाएं द्रष्टा की गतिमान अवस्था अथवा अन्य गुण-धर्मों से बिल्कुल ही निरपेक्ष हैं। यह बात न्यूटन की यान्त्रिकी (Mechanics) में तथा आइन्स्टीन के ‘आपेक्षिकता के सिद्धांत’ में भी सत्य मानी जाती है। किन्तु दोनों में यह फर्क रह जाता है। पुरानी मान्यता में हम यह मान लेते हैं कि ‘भविष्य’ और ‘भूत’ के बीच में एक अतिसूक्ष्म (अनन्ततया सूक्ष्म) कालान्तर है, जिसको हम वर्तमान क्षण कहते हैं। परन्तु आपेक्षिकता के सिद्धांत में यह बात नहीं है। यहां पर भविष्य और भूत के बीच जो कालान्तर है, वह परिमित है और उसका दैर्घ्य द्रष्टा के स्थान पर आधार रखता है।”

एक व्यावहारिक उदाहरण से उक्त मन्तव्य का महत्व समझा जा सकता है। ‘अ’ स्थान पर द्रष्टा है और ‘ब’ स्थान पर घटना घटती है। ब को पृथ्वी से 50 प्रकाश-वर्ष दूर का तारा मान लिया जाए और अ को पृथ्वी पर स्थित, दूर-बीक्षणयन्त्र द्वारा निरीक्षण करता हुआ द्रष्टा माना जाए। प्रकाश की गति एक सैकण्ड में लगभग 186,000 मील है। इस गति से चलने वाली प्रकाश-किरण जितना अन्तर एक वर्ष में काटती है, उसको 1 प्रकाश-वर्ष कहते हैं। 1 प्रकाश-वर्ष = 5.88×10^{12} मील लगभग होते हैं। मान लो कि ब पर कोई विस्फोट होता हुआ द्रष्टा को दिखाई दिया। साधारण भाषा में हम कहेंगे कि मनुष्य की देखने की घटना और तारा पर विस्फोट की घटना एक ही क्षण में होती है। अर्थात् ये दोनों घटनाएं ‘युगपत्’ (Simultaneous) हैं। किन्तु वस्तुतः क्या ये घटनाएं युगपत् हैं? नहीं। क्योंकि तारा पृथ्वी से 50 प्रकाश-वर्ष दूर है अर्थात् प्रकाश को तारा और पृथ्वी की बीच की दूरी तय करने में 50 वर्ष लगते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जो विस्फोट ‘अब’ देखा गया, वह वस्तुतः 50 वर्ष पहले हो चुका था। इस प्रकार ‘युगपत्’ शब्द निरपेक्ष नहीं रह पाया है, किन्तु दो

घटनाओं के बीच की दूरी पर आधारित हो जाता है। दूसरे शब्दों में आकाश और काल एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और विश्व में होने वाली घटनाओं पर दोनों का सम्मिलित प्रभाव होता है।

आइन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धांत में यह बताया गया कि गतिमान निकाय (System) में गति की दिशा में रही हुई आकाशीय विमिति में संकोच होता है, साथ ही साथ समय की विमिति में भी संकोच होता है। दूसरे शब्दों में इस तथ्य को इस प्रकार कहा जा सकता है—गतिमान निकाय में रही हुई नापने वाली छड़ की लम्बाई में हानि होती है और निकाय में स्थित घड़ी भीमे चलती है। इन परिवर्तनों का आधार गतिमान निकाय का वेग है। वेग के अनुपात में ये परिवर्तन होते हैं। ज्यों-ज्यों वेग बढ़ता है, त्यों-त्यों घड़ी की चाल अधिक शिथिल होती जाती है। यहां तक कि यदि वेग प्रकाश के वेग के समान हो जाए (यह केवल कल्पना की जा रही है), तो घड़ी ठप्प हो जायेगी। इसी प्रकार नापने वाली छड़ की लम्बाई भी घटती-घटती, अन्तिम दशा में 'शून्य' हो जाएगी अर्थात् छड़ की लम्बाई रहेगी ही नहीं। किन्तु यह असंभव है, क्योंकि प्रकाश के वेग को पाना अशक्य है।

आइन्स्टीन ने बताया कि प्रत्येक वस्तु का जड़त्व उसकी संहति पर आधारित है। इस जड़त्व के कारण आकाश में एक 'गुरुत्व-क्षेत्र' (Gravitational Field) की उत्पत्ति होती है। यह क्षेत्र पदार्थ की गति के क्षेत्र को निर्धारित करता है। प्रत्येक पदार्थ अपने आस-पास के आकाश में जिस गुरुत्व-क्षेत्र की उत्पत्ति करता है, वह 'वक्र' है। यथार्थ शब्दावली में—'पदार्थ की संहति आकाश-काल की चतुर्वैमितिक सततता में वक्रता लाती है।' पदार्थ की गति उस दिशा में होती है, जिस दिशा में आकाश वक्र बनता है।

'आपेक्षिकता के सिद्धांत' में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहां न्यूटन के वैज्ञानिक सिद्धांतों में आकाश, काल और भौतिक पदार्थ, सभी एक दूसरे से स्वतंत्र थे, वहां आइन्स्टीन के सिद्धांत में ये तीनों एक-दूसरे से संबन्धित हो गए हैं। विश्व 'आकाश-काल की संयुक्त चतुर्वैमितिक सततता' बन गया है और उसके गुण-धर्म उसमें समाहित भौतिक पदार्थ पर आधारित हो गए हैं। भौतिक-पदार्थों की गति एवं स्थिति का सीधा प्रभाव आकाश-काल की सततता पर पड़ता है।

6.5.4 आपेक्षिकता के सिद्धांत का दार्शनिक पक्ष

डॉ. अल्बर्ट आइन्स्टीन के अभिमतानुसार "जिस प्रकार रंग, आकार अथवा परिणाम हमारी चेतना से उत्पन्न विचार हैं, उसी प्रकार आकाश और काल भी हमारी आन्तरिक कल्पना के ही रूप हैं। जिन वस्तुओं को हम आकाश में देखते हैं, उनके 'क्रम' के अतिरिक्त आकाश की कोई वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता नहीं है। इसी प्रकार जिन घटनाओं के द्वारा हम काल को मापते हैं, उन घटनाओं के 'क्रम' के अतिरिक्त काल का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। 'आकाश' और 'काल' का स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व न होने पर भी, 'आकाश-काल की संयुक्त चतुर्वैमितिक सततता' वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का प्रतीक है, ऐसा माना गया है। सर जेम्स जीन्स के शब्दों में—“हम समग्र प्रकृति को इस ढांचे (चतुर्वैमितिक सततता) में व्यक्त कर सकते हैं, इसलिए यह वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करती है। किन्तु 'आकाश' और 'काल' में इसका विभागीकरण वस्तु-सापेक्ष नहीं है—वह तो ज्ञात-सापेक्ष ही है।” इन वैज्ञानिकों के अभिमत में 'आकाश' एक 'संदर्भ का ढांचा' है।

कुछ एक वैज्ञानिक इस निरूपण को स्वीकार नहीं करते। राइशनबाख ने अपनी पुस्तक (आकाश और काल का दर्शन) में 'आपेक्षिकता के सिद्धांत' के भौतिक पक्ष की चर्चा के साथ-साथ दार्शनिक पक्ष की चर्चा भी की है। इसमें राइशनबाख ने आकाश और काल का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व गणित और तर्क-शास्त्र के आधार से सिद्ध किया है। उन्होंने माना है कि 'वस्तु-सापेक्ष दृष्टि से तो आकाश की केवल तीन विमितियां हैं। बहु-वैमितिक आकाश गणितीय हो सकता है, परन्तु वास्तविक आकाश केवल त्रिवैमितिक है।' वास्तविक आकाश की तीन विमितियां हैं; यह निरूपण उतना ही वस्तु-सापेक्षात्मक है जितना कि यह निरूपण कि 'भौतिक पदार्थ की तीन अवस्थाएँ—ठोस, तरल और वायु—होती हैं; यह वस्तु-सापेक्ष विश्व के मूलभूत तथ्य का एक वर्णन है।'

राइशनबाख ने आपेक्षिकता के सिद्धांत को मान्य रखते हुए यह निरूपण किया है कि 'आकाश' और 'काल' का वस्तु-सापेक्ष स्वतंत्र अस्तित्व है। अपनी पुस्तक 'आकाश और काल का दर्शन' के अंत में 'आकाश और काल की वास्तविकता' शीर्षक के अन्तर्गत समग्र वैज्ञानिक व गणितीय विवेचन के निष्कर्ष में वे लिखते हैं—“अतः हम निम्न कथन को आकाश और काल संबंधी सबसे अधिक सामान्य विधान के रूप में लिख सकते हैं—‘सर्वत्र और सदा आकाश-काल की निर्देश-निकाय का अस्तित्व है।’ यह निष्कर्ष आकाश और काल के बीच की भेदरेखा को अच्छी तरह प्रमाणित करता है।”

अन्तिम निष्कर्ष के रूप में उन्होंने लिखा है—“इस समग्र चिन्तन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि आकाश के गुण-धर्म वस्तु-सापेक्ष हैं। जिन ज्ञान-मैमांसिक विश्लेषणों (Epistemological analyses) द्वारा हमने बहुत सारी समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया, उनका यह अकाद्य अभिमत है कि 'आकाश' और 'काल' वास्तविक हैं। ... दार्शनिकों ने अब तक आकाश और काल के केवल आदर्शवादी प्रतिपादन को ही ज्ञान-मैमांसिक विश्लेषण में शक्य माना है। किन्तु यह इसलिए हुआ है कि उन्होंने आकाश की गणितीय और वास्तविक समस्याओं के द्विपक्षीय स्वरूप की उपेक्षा की है। गणितीय आकाश काल्पनिक रचना है; अतः आदर्श है। भौतिक विज्ञान का कार्य है—इन गणितीय रचनाओं में से किसी एक को वास्तविकता के साथ जोड़ने का। इस कार्य की निष्पत्ति में भौतिक विज्ञान वास्तविकता के विषय में निरूपणात्मक कथनों का उच्चारण करता है और हमारा लक्ष्य है, इन कथनों के वस्तु-सापेक्ष मूल तत्त्व को, वर्णन की अनिश्चितता के कारण घुसे हुए ज्ञाता-सापेक्ष बाह्य तत्त्व से, विमुक्त करने का।” राइशनबाख के इस समग्र विवेचन का सारांश यही है कि वे 'आपेक्षिकता के सिद्धांत' को स्वीकार करते हैं, फिर भी 'आकाश' और 'काल' की 'वस्तु-सापेक्ष' वास्तविकता के निरूपण को हम सिद्धांत का फलिक प्रतिपादित करते हैं।

आकाश और काल की वास्तविकता के पक्ष में जिन वैज्ञानिकों का अभिमत है, उनमें प्रो. हेन्री मार्गेनौ का नाम भी उल्लेखनीय है। प्रो. मार्गेनौ के अनुसार—“कोई भी पदार्थ सापेक्ष होने से, अवास्तविक नहीं बन जाता। 'निरपेक्ष आकाश' की मान्यता को यद्यपि आपेक्षिकता का सिद्धांत स्वीकार नहीं करता, फिर भी उससे 'आकाश' की वास्तविकता का अस्वीकार नहीं होता है। आकाश भी एक 'कन्स्ट्रक्ट्स' माना गया है, जो प्रमाणित है और इसलिए वास्तविक भी है। मार्गेनौ मानते हैं कि 'आकाश' के भौमितिक गुण-धर्मों का वास्तविक जगत् के पदार्थ कहां तक अनुकरण करते हैं, इसमें संदिग्धता तो हो सकती है, परन्तु 'आकाश' की वास्तविकता तो असंदिग्ध है। उदाहरणार्थ कोई भी 'वास्तविक पदार्थ' पूर्णरूप में सरल रेखात्मक हो, ऐसा अनुभव में न भी आता हो, फिर भी वास्तविक सरल रेखा आकाश के दो बिन्दुओं के बीच अस्तित्व रखती है और वास्तविक बिन्दुओं का बना हुआ है।”

'आपेक्षिकता के सिद्धांत' के दार्शनिक पक्ष की इस चर्चा के निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि आकाश और काल के स्वरूप के विषय में 'आपेक्षिकता के सिद्धांत' के आधार पर अब तक सर्वमान्य निरूपण नहीं हो सका है। आकाश और काल वस्तु-सापेक्ष हैं अथवा ज्ञाता-सापेक्ष, यह दुविधा अब तक भी वैज्ञानिकों के सामने खड़ी है।

6.6 जैन दर्शन और विज्ञान की तुलना

6.6.1 न्यूटन और जैन दर्शन

न्यूटन द्वारा किया गया आकाश का निरूपण जैन दर्शन के आकाशास्तिकाय के साथ अत्यधिक सदृशता रखता है। दोनों विचारधाराओं में आकाश को एक स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उसको अगतिशील, एक, अखण्ड और शून्यता की क्षमता वाला स्वीकार किया गया है; फिर भी इनमें एक महत्वपूर्ण अन्तर रह जाता है। न्यूटनीय भौतिक विज्ञान ने आकाश के साथ भौतिक ईश्वर का अविच्छिन्न संबंध जोड़ कर गति की समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया, जबकि जैन दर्शन अभौतिक ईश्वर (धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य) के सिद्धांत से गतिस्थिति की समस्या का हल प्रस्तुत करता है। यही कारण था कि न्यूटन के सिद्धांतों ने नहीं सुलझने वाली एक ऐसी समस्या उत्पन्न कर दी, जिसके फलस्वरूप आपेक्षिकता के

सिद्धांत ने न्यूटन के भौतिक ईश्वर को तिलांजलि दे दी। जहां तक न्यूटन के आकाश की वास्तविकता-संबंधी निरूपण का प्रश्न है, उसकी तर्कसम्मतता अब भी अविच्छिन्न ही है। पश्चिम के सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रैंड रसल ने इसको स्वीकार करते हुए लिखा है—“न्यूटन का निरपेक्ष आकाश का सिद्धांत उस दुविधा को दूर करता है, जो ‘शून्य’ और ‘वास्तविकता’ के संबंध से उपस्थित होती है। तर्कशास्त्र के आधार पर इस सिद्धांत का खण्डन नहीं किया जा सकता। इस सिद्धांत की अस्वीकृति का मुख्य कारण यही है कि ‘निरपेक्ष आकाश’ को जानना कतई सम्भव नहीं है इसलिए प्रायोगिक विज्ञान में उसकी धारणा कोई अनिवार्य परिकल्पना नहीं बन सकती। इससे भी अधिक व्यावहारिक कारण यह है कि भौतिक विज्ञान की गाड़ी इसके बिना भी चल सकती है।” (हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ. 91) इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि न्यूटन का ‘निरपेक्ष आकाश’ अथवा जैन दर्शन का आकाशास्तिकाय का सिद्धांत तर्क की दृष्टि से अकाट्य है।

इस प्रकार प्राग्-आइन्स्टीनीय विज्ञान के क्षेत्र की आकाश संबंधी धारणा जैन दर्शन की विचारधारा के साथ दार्शनिक (तत्त्व-मैमांसिक) अपेक्षा से अधिक सादृश्य रखती है।

6.6.2 आपेक्षिकता का सिद्धांत और जैन दर्शन

आइन्स्टीन द्वारा दिये गये आपेक्षिकता के सिद्धांत के पश्चात् विज्ञान के क्षेत्र में जो नई क्रांति आई, उसका आकाश-काल की धारणाओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ा।

आकाश और काल के विषय में आपेक्षिकता के सिद्धांत के दो पहलू हो जाते हैं—1. आकाश और काल की सापेक्षता। 2. आकाश और काल की वास्तविकता।

आइन्स्टीन द्वारा प्रदत्त मूल आपेक्षिकता के सिद्धांत में कहा गया है—“किसी भी प्रकार के प्रयोग के द्वारा किसी भी गतिमान निकाय की निरपेक्ष गति का पता नहीं लगाया जा सकता।” इस सिद्धांत के आधार पर सामान्यतया यह तात्पर्य निकाला जाता है कि निरपेक्ष आकाश का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यदि यही तात्पर्य सही हो, तो जैन दर्शन का आकाशास्तिकाय का सिद्धांत आपेक्षिकता के सिद्धांत के साथ मेल नहीं खाता। किन्तु उक्त तात्पर्य निर्विवादतया मान्य नहीं है।

विश्व के प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक हाइसनबर्ग ने लिखा है—“ईश्वर नामक परिकल्पित द्रव्य, जो 19 वीं शताब्दी में मैक्सवेल के सिद्धांतों में महत्वपूर्ण स्थान रखता था, अब आपेक्षिकता के सिद्धांत द्वारा नामशेष कर दिया गया है। इसी बात को कभी-कभी इस प्रकार भी कहा जाता है कि ‘निरपेक्ष आकाश का सिद्धांत’ खण्डित हो चुका है। किन्तु ऐसे कथन को बहुत सावधानी के साथ स्वीकार करना चाहिए।” (फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ. 107)

आगे वे लिखते हैं—“आपेक्षिकता के सिद्धांत के आलोचकों का कहना है—‘निरपेक्ष आकाश और निरपेक्ष काल का अनस्तित्व विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धांत द्वारा किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता है। (उस सिद्धांत में तो) यही बताया गया है कि किसी भी सामान्य प्रयोग में वास्तविक आकाश और वास्तविक काल प्रत्यक्षतः भ्रम नहीं लेते, किन्तु यदि प्राकृतिक नियमों के इस पहलू को ध्यान में ले लिया जाये तथा गतिमान निर्देश-निकायों के लिए सही प्रतीत्यमान काल (मानों) का व्यवहार किया जाये, तो निरपेक्ष आकाश की धारणा के विरोध में कोई तर्क नहीं रह जाता। ऐसा भी सम्भवतः माना जा सकता है कि हमारी आकाशास्त्रा का गुरुत्व-केन्द्र (सेंटर ऑफ ग्रेविटी) निरपेक्ष आकाश में (कम से कम लगभग) स्थिर है।’ इससे आगे आपेक्षिकता के सिद्धांत के आलोचक यह भी कह सकते हैं—‘हम आशा कर सकते हैं कि भविष्य के नाप-तोल निरपेक्ष आकाश की स्पष्ट परिभाषा देने में समर्थ बना देंगे।... और इस प्रकार हम आपेक्षिकता के सिद्धांत का खण्डन कर सकेंगे।” (वही, पृ. 120) इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि आपेक्षिकता के सिद्धांत के आधार पर निरपेक्ष आकाश के अस्तित्व को स्वीकार न करना गलत सिद्ध हो सकता है।

प्रो. हेन्री मार्गेनौ भी इस बात को स्वीकार करते ही हैं कि निरपेक्ष आकाश एक संभावित कन्स्ट्रक्ट्स है—“निरपेक्ष आकाश को स्वीकार करने वाला अपनी विचारधारा को इस सरल तथ्य पर आधारित करता है कि त्रिवैधितिक आकाश की कल्पना वह तभी कर सकता है, जबकि वह आकाश पदार्थ-शून्य हो। इस प्रकार का आकाश एक सम्भावित कन्स्ट्रक्ट्स है और वह प्राथमिक प्रश्न के ढाँचे में ही निरपेक्ष है।” (दी नेचर ऑफ

फिजिकल रियलिटी, पृ. 105) इससे आगे उन्होंने यही बताया है कि इस प्रकार का आकाश उपयोगी न होने से वैज्ञानिक इसको स्वीकार नहीं करते, फिर भी इतना तो स्पष्ट रूप से स्वीकार्य हो ही जाता है कि निरपेक्ष आकाश का अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ है।

निरपेक्ष आकाश को जिस प्रकार से जैन दर्शन ने स्वीकार किया है, उसका खण्डन तो आपेक्षिकता के सिद्धांत द्वारा नहीं होता। भौतिक विज्ञान के प्रायोगिक क्षेत्र में इस प्रकार के निष्क्रिय तत्त्व की कोई आवश्यकता प्रतीत न होने से उसके अस्तित्व को मानना भी आवश्यक न समझा जाये। इसी बात को हम रसल के शब्दों में देख चुके हैं। अतः तार्किक क्षेत्र में निरपेक्ष आकाश की वास्तविकता तो अनिवार्य हो ही जाती है और यदि इसको वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते हैं, तो सम्भवतः विश्व-प्रहेलिका से सम्बन्धित अन्य पहलुओं के उत्तर वे नहीं दे सकते।

आपेक्षिकता के सिद्धांत का दूसरा पहलू है—आकाश और काल की वास्तविकता। आइन्स्टीन जहां आकाश और काल चेतन (ज्ञाता) द्वारा कल्पित तत्त्व ही मानते हैं, वहां राइशनबाख उसकी वास्तविकता को इन्कार नहीं करते। वैज्ञानिक शब्दावलि में आकाश, काल, आकाश काल की चतुर्वैमितिक सततता, गुरुत्व-क्षेत्र या आब्यूहीय क्षेत्र (मेकिट्रिकल फील्ड) तथा ईथर; इन शब्दों के द्वारा किन-किन तथ्यों का निरूपण हुआ है और जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों (आकाशास्तिकाय, काल, धर्म, अधर्म, द्रव्य) से ये कहाँ तक सम्बन्धित होते हैं? ये दो महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। आकाश शब्द का प्रयोग आइन्स्टीन केवल 'पदार्थ-क्रम' के अर्थ में करते हैं, जबकि राइशनबाख पदार्थ-क्रम के अतिरिक्त आकाश को एक स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में देखते हैं। जैन दर्शन में भी आकाशास्तिकाय को आश्रय देने वाला वास्तविक द्रव्य कहा है। यह धारणा आइन्स्टीन की आकाश की धारणा से नितान्त भिन्न है। यदि आइन्स्टीन की आकाश की धारणा को स्वीकार किया जाता है, तो उससे पदार्थों के आश्रय की समस्या नहीं सुलझती। अतः जहां तर्कशास्त्रीय भूमिका को लिया जाता है, वहां आइन्स्टीन की 'आकाश' संबंधी धारणा से काम नहीं चल सकता।

इसके अतिरिक्त भी आइन्स्टीन की दी हुई परिभाषा पर्याप्त नहीं है। पदार्थों के अभाव में भी सूक्ष्म मात्रा में वक्रता या क्षेत्र का अस्तित्व बना रहता है। एडिंग्टन ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—“उस प्रदेश में जहां किसी भी प्रकार का ज्ञात भौतिक पदार्थ या विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र का अभाव है, वहां पर भी एक निश्चित अल्प मात्रा में प्राकृतिक वक्रता होती है, जिसे सुख्यात रूप से विश्व-संबंधी अचल कहा जाता है। इस वक्रता का उत्तरदायी उस प्रदेश को रोकने वाला कोई तत्त्व है, जिसे चाहे हम आकाश कहें, क्षेत्र कहें या ईथर कहें।” (न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ. 47) एडिंग्टन ने 'ईथर' संबंधी एक नया सिद्धांत उपस्थित किया है। उनके अभिमत में आपेक्षिकता के सिद्धांत ने भौतिक ईथर का अस्तित्व मिटा दिया है, किन्तु तब भी अभौतिक ईथर का अस्तित्व तो संभव हो सकता है। एडिंग्टन ने आकाश और ईथर में अविच्छिन्न संबंध की कल्पना की है और माना है कि आकाश, ईथर और क्षेत्र तीनों ही एक हैं। (देखें, न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ. 38-41) इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह निश्चित है कि भौतिक पदार्थ के अभाव में भी कोई ऐसा तत्त्व रह जाता है, जिसे हमें स्वतंत्र वास्तविकता का ही रूप मान लेना पड़ेगा। जैन दर्शन का 'आकाशास्तिकाय' तो सम्भवतः इससे भी भिन्न रह जायेगा। हाँ, जिस रूप में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय की कल्पना की गई है, उससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि प्राकृतिक वक्रता के लिए उत्तरदायी हो। उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आकाशास्तिकाय नामक तत्त्व की जो धारणा जैन दर्शन में है, उसकी पूर्ति वैज्ञानिकों की आकाश, क्षेत्र या ईथर-संबंधी धारणा नहीं कर सकती।

न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम के स्थान में आइन्स्टीन ने वक्रता-सिद्धान्त की स्थापना की है। यह स्पष्ट है कि इस आकाश का अस्तित्व भौतिक पदार्थ या संहति से सम्बन्धित है। वहां पर भी 'संहति' का अस्तित्व होता है, उसके आस-पास इस क्षेत्र या आकाश की उत्पत्ति हो जाती है। यदि संहति को वहां से हटा लिया जाता है, तो वह क्षेत्र भी वहां से हट जाता है। दूसरे शब्दों में यह क्षेत्र उसी तरह संहति के साथ सम्बन्धित है, जैसे चुम्बक के साथ चुम्बकीय क्षेत्र होता है। इसके दार्शनिक प्रतिपादन में यही धारणा बन सकती है कि गुरुत्व-क्षेत्र भौतिक पदार्थ का ही एक अंग है, कोई स्वतंत्र वास्तविकता नहीं है। अतः

यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय या अधर्मास्तिकाय संहति द्वारा जनित इस गुरुत्व-क्षेत्र से बिल्कुल भिन्न तत्त्व होना चाहिए।

‘चतुर्वैमितिक आकाश-काल की सततता’ की धारणा विश्व चतुर्वैमितिक आकाश-काल की सततता है। (दी यूनिवर्स एण्ड डा. आइन्स्टीन, पृ. 76) विश्व पदार्थों से नहीं, घटनाओं से बना हुआ है और ये घटनाएं इस चतुर्वैमितिक आकाश-काल की सततता की ही विविध अवस्थाएं हैं। ‘जिस प्रकार सागर में तैरती मछली अपने आस-पास के पानी को आन्दोलित कर देती है, उसी तरह एक तारा, पुच्छलतारा या ज्योतिर्माला उस आकाश-काल की सततता में जिसमें होकर वे गति करते हैं, परिवर्तन ला देते हैं।’ (वही, पृ. 92) आकाश, काल और पदार्थ तीनों को एक दूसरे से सम्बन्धित स्वीकार करते हैं। उनका अभिमत है कि आकाश-काल की चतुर्वैमितिक सततता से यह तात्पर्य निकालना कि काल आकाश की ही एक विमिति है, गलत होगा। पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल को भिन्न मानकर चलने पर आपेक्षिकता के सिद्धांत के साथ कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। पुद्गलास्तिकाय के संहति, गति आदि गुणों का आकाशास्तिकाय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैन दर्शन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पौद्गलिक प्रभावों से उत्पन्न होने वाले गुरुत्व-क्षेत्र आदि भी पौद्गलिक होने चाहिए। अतः उनमें होने वाले परिवर्तन पुद्गल से ही सम्बन्धित हैं; इसका आकाश के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

बर्टेण्ड रसल ने लिखा है—‘इस तरह दो प्रकार के आकाश हो जाते हैं—एक तो ज्ञाता-सापेक्ष आकाश और दूसरा वस्तु-सापेक्ष आकाश। एक हमारे अनुभव द्वारा ज्ञात और दूसरा केवल अनुमानित या प्रकल्पित। किन्तु इस अपेक्षा से आकाश और विषय-ग्रहण के अन्य पहलुओं—जैसे रंग, शब्द आदि में कोई फर्क नहीं है। सब के सब अपने ज्ञाता-सापेक्ष रूप में तो अनुभव द्वारा ज्ञात होते हैं; सब के सब अपने वस्तु-सापेक्ष रूप में कार्यकारणवाद के द्वारा प्रकल्पित होते हैं। वर्ण, शब्द और गंध के हमारे ज्ञान से आकाश के हमारे ज्ञान को किसी भी कारण से भिन्न नहीं माना जा सकता।’ (हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलोसोफी, पृ. 744) रसल द्वारा प्रतिपादित इन दो प्रकार के आकाशों का अनुभव-ग्राह्य (पर्सपेक्चुअल) आकाश और धारणात्मक (कन्सेप्चुअल) आकाश कहा जाता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय को रसल के शब्दों में ‘धारणात्मक आकाश’ कहा जा सकता है जबकि वैज्ञानिकों का संबंध केवल अनुभव-ग्राह्य आकाश के साथ रहता है किन्तु धारणात्मक आकाश का अस्तित्व स्वीकार किये बिना आश्रय-आश्रित संबंध की पहली सुलझ नहीं सकती।

यदि आकाश सब पदार्थों को आश्रय देने वाला है, तो आकाश को कौन आश्रय देता है और यदि उसको आश्रय देने वाला और कोई है, तो फिर इस प्रकार चलने से अनवस्था दोष आ जायेगा। यह तर्क अति प्राचीन काल में पाश्चात्य दार्शनिक जीनो (Zeno) द्वारा उपस्थित किया गया था। इसका उत्तर जैन दर्शन द्वारा यही दिया जा सकता है कि भौतिक पदार्थ को आश्रय देने वाला तत्त्व मानने पर अनवस्था दोष आ सकता है। क्योंकि यह अनुभवगम्य है कि किसी भी प्रकार का भौतिक पदार्थ आश्रय के बिना टिक नहीं सकता। इसलिए हम आकाश नामक अभौतिक द्रव्य की धारणा करते हैं। आकाश की परिभाषा ही यह है कि ‘जो स्वयं तो स्व-आधारित है और दूसरे पदार्थों को आश्रय देने में समर्थ है।’ अतः आकाश को आधार देने वाले किसी भी अन्य द्रव्य की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है। इस प्रकार जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय के सिद्धांत का आपेक्षिकता के सिद्धांत के आधार पर तर्क-संगत खण्डन नहीं हो सकता।

आपेक्षिकता के सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण परिणाम है—आकाश-काल की विमितियों में संकुचन। लोरेन्ट्ज द्वारा दिये गये समीकरणों से पता चल जाता है कि किसी भी पदार्थ की गति के साथ आकाश-काल की विमितियां संकुचित होती हैं। गतिमान पदार्थ की लम्बाई गति की दिशा में संकुचित हो जाती है—इसी को आकाशीय विमिति में संकुचन माना गया है। अब यदि इस संकुचन को वास्तविक आकाश का ही संकुचन मान लिया जाये, तो यह गलत होगा। क्योंकि यह संकुचन भौतिक पदार्थ की ही एक अवस्था-परिवर्तन के फलस्वरूप है, न कि अभौतिक आकाश, जिसमें वह पदार्थ आश्रित है, के संकुचन के कारण।

काल-वैमिति का संकुचन कुछ दुरूहता उत्पन्न कर देता है, इसको समझने के लिए एक उदाहरण लिया जाये। एक तारा पृथ्वी से 40 प्रकाश वर्ष दूर है। अब यदि एक राकेट 240000 किलोमीटर प्रति सैकिण्ड की गति से वहां जाता है, तो उसे वहां पहुंचने में कितना समय लगेगा? आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार इसके दो उत्तर हैं—पृथ्वी-स्थित मनुष्य की अपेक्षा से तो तारे पर पहुंचने में 50 वर्ष लगेंगे। किन्तु जो मनुष्य उस राकेट में बैठे हुए हैं, उनके लिए फिट्जजेराल्ड के संकुचन नियमों के अनुसार काल-विमिति में संकुचन हो जायेगा। यह संकुचन 10:6 के अनुपात में होगा अर्थात् राकेट में बैठे हुए मनुष्य के लिए तारे तक पहुंचने में 30 वर्ष लगेंगे।

उक्त उदाहरण से काल की विमिति के संकुचन को समझा जा सकता है, किन्तु इसके दार्शनिक पक्ष में उलझन पैदा हो जाती है। एडिंग्टन के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'क्या आकाश-काल के संकुचन वास्तविक हैं?' तब इसके उत्तर में उन्होंने कहा था—“हम बहुधा ‘सत्य’ और ‘वास्तविक सत्य’ के बीच भेद करते हैं। उसी के आधार पर गतिमान निकाय का संकुचन भी ‘सत्य’ कहा जा सकता है पर ‘वास्तविक सत्य’ नहीं कहा जा सकता।” (न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ. 278) सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक के इस कथन से तो यही फलित होता है कि गति से जनित आकाश-काल के संकुचन नैश्चयिक दृष्टि से वास्तविक नहीं हैं। जैन दर्शन के दृष्टिकोण से उक्त संकुचन के प्रश्न को देखा जाये तो यही कहा जा सकता है कि भौतिक परिणतियां सापेक्ष हो सकती हैं, किन्तु नैश्चयिक आकाश-काल के मानों की निरपेक्षता एक वास्तविक तथ्य है।

‘आपेक्षिकता के सिद्धांत’ में आकाश और काल की परस्परपेक्षता का जो निरूपण किया गया है, वह निर्विवाद है। इसका आधार प्रकाश-गति की सीमितता है। यह एक तथ्य है कि हमारी इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह इस गति से तेज चलने वाले किसी भी साधन की सहायता से नहीं हो सकता; अतः घटना और द्रष्टा की (आकाशीय) दूरी के ऊपर युगपत्ता की परिभाषा आधारित हो जाती है। अतः किसी भी घटना के पूर्ण विवेचन में आकाश और काल दोनों जुड़े हुए रहते हैं, यह सिद्धांत निर्विवाद रूप से मान्य हो जाता है, किन्तु प्रकाश-गति की सीमितता का क्षेत्र कहां तक है? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है।

आपेक्षिकता का सिद्धांत इसी परिकल्पना पर आधारित है कि प्रकाश का वेग उत्कृष्टतम वेग है। इससे अधिक वेग किसी भी पदार्थ का नहीं हो सकता। जैन दर्शन में जीव और ‘पुद्गल’—दोनों को गतिमान माना है। जब जीव मृत्यु के बाद दूसरे जन्म को प्राप्त होता है या मुक्त दशा को प्राप्त होता है, तब तीव्र गति होती है। प्रकाश के वेग से भी अत्यधिक तेज गति हो सकती है। स्थानान्तर में जीव (मृत्यु और दूसरे जन्म के बीच) उत्कृष्टतम एक समय में 14 रज्जुओं का अन्तर भी तय कर सकता है। अतीन्द्रिय ज्ञान में भी आत्मा एक समय में 14 रज्जु दूर स्थित पदार्थों का ज्ञान कर लेती है।

यह तो जीव के उत्कृष्टतम वेग की शक्यता है। पुद्गल भी आश्चर्यजनक वेग से गति करने में समर्थ होते हैं। पुद्गल की चरम इकाई परमाणु है, जो एक समय में समग्र लोक की ऊंचाई (14 रज्जु) को पार कर सकता है। यह परमाणु की उत्कृष्टतम गति मानी गई है।

आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार तो यह वेग तभी सम्भव हो सकता है जब कि पदार्थ की संहति ‘शून्य’ हो। जैन दर्शन भी परमाणु को संहति-शून्य स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अनुसार ‘संहति’ पुद्गल का मूलभूत गुण नहीं है। अतः शून्य-संहति वाले पदार्थ का वेग यदि प्रकाश के वेग से भी अधिक हो जाये तो आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार भी अशक्य नहीं है। इस प्रकार प्रकाश का वेग ही उत्कृष्टतम वेग है, ऐसा कहना यथार्थ नहीं होगा।

6.7 सारांश

आकाश-काल और विश्व की गति-स्थिति-संबंधी समस्याओं को हल करने वाले जैन दर्शन के सिद्धांत आज के वैज्ञानिकों के सामने एक सम्यक् दार्शनिक अवधारणा उपस्थित करते हैं। यह सही अर्थ में अस्तित्व का दर्शन है। जैन दर्शन में निरूपित सिद्धांत का स्रोत तर्क नहीं, अपितु अंतःअनुभूति है, जिसमें तत्त्व से प्रत्यक्ष सम्पर्क बनता है। तर्क तो इन सिद्धांतों की एक कसौटी मात्र बन सकती है। प्रो. मार्गेनौ ने लिखा है—“यह निश्चित है कि वास्तविकता का कोई भी कारण (भौतिक अर्थ में) हो नहीं सकता।....ऐसे बिन्दु पर जाते ही

वैज्ञानिक छुट्टी ले लेता है और अस्तित्व का दार्शनिक सूत्रधार बन जाता है।” (दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ. 458)

6.8 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. आइन्स्टीन द्वारा आपेक्षिकता के सिद्धांत के आविष्कार के पश्चात् वैज्ञानिक क्षेत्र में आकाश के स्वरूप के विषय में जो नई अवधारणाएं प्रस्तुत हुईं, उनकी समीक्षा जैन दर्शन के आकाश-सिद्धांत के संदर्भ में विस्तार से करें।

2. लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. पाश्चात्य या आधुनिक दर्शनों में कौन-सा आकाश-सिद्धांत जैन दर्शन के निकट है—सकारण स्पष्ट करें।
2. जैन दर्शन के आकाश-सिद्धांत की विशेषताओं को स्पष्ट करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(क) रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. अन्य सभी द्रव्य आकाश में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु आकाश स्वयं है।
2. दर्शन ने दिशा को स्वतंत्र द्रव्य माना है।
3. बौद्ध दर्शन ने आकाश का वर्णन रूप से किया है।
4. के विचारों को न्यूटन ने अपनाया और विज्ञान-जगत में आकाश के विषय में प्रथम सिद्धांत आया।
5. एडिंग्टन ने ‘ईथर’ संबंधी एक नया सिद्धांत उपस्थित किया है। उनके अभिमत में आपेक्षिकता के सिद्धांत ने का अस्तित्व मिटा दिया है, किन्तु तब भी का अस्तित्व तो संभव हो सकता है।

(ख) निम्नलिखित कथन सही है या गलत—

1. प्रकाश की गति बदलती रहती है।
2. आइन्स्टीन के अनुसार आकाश का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व है।
3. परमाणु एक समय में 14 रज्जु की दूरी पार कर सकता है।
4. आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार विश्व त्रिवैमितिक सातत्य है।
5. न्यूटन का आकाश-सिद्धांत जैन दर्शन के आकाश-सिद्धांत का सर्वथा विरोधी है।



इकाई-7 : काल

संरचना

- 7.0 प्रस्तावना
- 7.1 उद्देश्य
- 7.2 जैन दर्शन में काल-सिद्धान्त
 - 7.2.1 श्वेताम्बर परम्परा में काल का स्वरूप
- 7.3 काल के उपकार
- 7.4 काल के विभाग
- 7.5 काल की सबसे छोटी इकाई समय
- 7.6 काल का अन्य मान
- 7.7 काल-मान-कोष्ठक
- 7.8 पुद्गल परावर्त
- 7.9 काल चक्र-सिद्धान्त
- 7.10 जैन दर्शन का दृष्टिकोण
- 7.11 वर्तमान युग
- 7.12 भारतीय दर्शनों में 'काल'
 - 7.12.1 वैशेषिक की मान्यता
 - 7.12.2 बौद्ध परम्परा में काल की समीक्षा
- 7.13 पाश्चात्य में काल का स्वरूप
 - 7.13.1 ग्रीक दार्शनिकों से लाइबनीज तक
 - 7.13.2 जैन दर्शन के साथ तुलना
- 7.14 विज्ञान के क्षेत्र में काल की अवधारणा
 - 7.14.1 न्यूटन की धारणा
 - 7.14.2 जैन दर्शन के साथ तुलना
 - 7.14.3 आपेक्षिकता के सिद्धान्त के पश्चात् काल की अवधारणा
- 7.15 जैन दर्शन के साथ तुलना
 - 7.15.1 आपेक्षिकता और काल
 - 7.15.2 कालचक्र और परिवर्तनशील विश्व
 - 7.15.3 काल के सूक्ष्मतम एवं स्थूलतम मान
- 7.16 सारांश
- 7.17 अभ्यास प्रश्नावली

7.0 प्रस्तावना

पिछले पाठ में हमने जैन दर्शन के आकाश-सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की थी। अब इस पाठ में हम जैन दर्शन में काल द्रव्य की अवधारणा को विस्तार से समझने की कोशिश करेंगे।

यह बात तो स्पष्ट हो चुकी है कि पांच अस्तिकायों में काल को नहीं गिना गया, किन्तु षड् द्रव्य के अन्तर्गत काल-द्रव्य का स्वीकरण किया गया है। यद्यपि काल के स्वरूप को लेकर जैन दार्शनिकों में मतभेद नहीं है, फिर भी किसी-न-किसी रूप में काल के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

दर्शन-जगत् में सर्वत्र आकाश और काल के संबंध में जो सामान्य विवेचन किया गया है, वह इन दोनों द्रव्यों के महत्त्व को उजागर करता है। आकाश (Space) और काल (Time) की अवधारणाएं वैज्ञानिक क्षेत्र में भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं। जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत आकाश और काल की अवधारणाएं न केवल दार्शनिक दृष्टि से अपितु वैज्ञानिक दृष्टि से भी बहुत अधिक ज्ञातव्य एवं उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, बशर्ते इनके विषय में उपलब्ध समग्र सामग्री सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषित की जाये। जहां तक 'काल' के सिद्धान्त का

संबंध है, कहा जा सकता है कि जैन दर्शन ने इसे जिस सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसका सम्पूर्ण विश्लेषण गणित की अतिसूक्ष्म एवं जटिल विधियों के द्वारा ही संभव है, फिर भी समझने के लिए हम उपमा या दृष्टांतों के द्वारा उसे व्याख्यायित कर सकते हैं।

7.1 उद्देश्य

काल क्या है? उसका लक्षण क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसके कितने भेद-प्रभेद हैं? उसके सूक्ष्म एवं विराट् परिणाम कितने हैं?—इस प्रकार के प्रश्नों के संदर्भ में हम इस पाठ में काल को समझने की कोशिश करेंगे।

7.2 जैन दर्शन में काल-सिद्धान्त

‘काल’ शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं, किन्तु जैन दर्शन की द्रव्य-मीमांसा में प्रयुक्त ‘काल’ शब्द का पर्यायवाची ‘समय’ है। वैसे ‘समय’ का पारिभाषिक अर्थ जैन दर्शन के अनुसार ‘काल’ का अविभाज्य अंश है। किन्तु सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त ‘समय’ शब्द ‘काल’ का ही सूचक है। जहां द्रव्यों की गणना आई है, वहां काल को भी गिना गया है। जहां अस्तिकायों का वर्णन है, वहां काल को नहीं गिना गया। श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा इस विषय में तो एकमत हैं ही कि ‘काल’ अस्तिकाय नहीं है।

‘काल’ को छोड़ कर शेष पांचों ही द्रव्यों के ‘प्रदेश’ होते हैं। केवल काल अप्रदेशी है। काल का केवल वर्तमान समय ही अस्तित्व में होता है। भूत समय तो व्यतीत हो चुका है—नष्ट हो चुका है और अनागत (भविष्य) समय अनुत्पन्न है। वर्तमान समय ‘एक’ होता है, इसलिए इसका तिर्यक्-प्रचय नहीं होता। तीनों विमिति में विस्तार होने से ‘तिर्यक्-प्रचय’ कहलाता है। केवल एक ही वैमित्तिक विस्तार ‘ऊर्ध्व-प्रचय’ कहलाता है। काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका स्कन्ध नहीं बनता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक्-प्रचय (तिरछा फैलाव) नहीं होता। काल का संबंध या तिर्यक्-प्रचय नहीं होता; इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। कालशक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेशवाला है। इसलिए इसके तिर्यक्-प्रचय नहीं होता। धर्म आदि पांचों द्रव्य के तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र की अपेक्षा से होता है और ऊर्ध्व-प्रचय काल की अपेक्षा से होता है। उनके प्रदेश-समूह होता है, इसलिए वे फैलते हैं और काल के निमित्त से उनमें पौर्वापर्य या क्रमानुगत प्रसार होता है। समयों का प्रचय जो है वही काल-द्रव्य का ऊर्ध्व-प्रचय है। काल स्वयं समय-रूप है। उसकी परिणति किसी दूसरे निमित्त की अपेक्षा से नहीं होती। केवल ऊर्ध्व-प्रचय वाला द्रव्य अस्तिकाय नहीं होता।

यद्यपि पुद्गल की तरह काल को हम देख तो नहीं सकते, पर न देखने मात्र से उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता।

7.2.1 श्वेताम्बर परम्परा में काल का स्वरूप

श्वेताम्बर परम्परा में आचार्यों ने काल के दो भेद कर दिए हैं—व्यावहारिक काल और नैश्चयिक काल। व्यावहारिक काल को केवल औपचारिक द्रव्य कहा गया है। जैन सिद्धान्त दीपिका में आचार्य श्री तुलसी ने लिखा है—“कालश्च।

जीवाजीवपर्यायत्वात् औपचारिक द्रव्यमसौ इत्यस्य पृथग् ग्रहणम्। क्षणवर्तित्वान्न च अस्तिकायः।

अर्थात् काल भी द्रव्य है।

काल जीव और अजीव का पर्याय होता है। अतः यह औपचारिक द्रव्य है। इस दृष्टि से इसका शेष पांच द्रव्यों से पृथक् प्रतिपादन किया गया है।

यह क्षणवर्ती होता है। इसका अतीत और भविष्य सत् नहीं होता इसलिए यह अस्तिकाय नहीं है।

तत्त्वार्थ सूत्र के श्वेताम्बर संस्करण में काल का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

“कालश्चेत्येके। 5/38।

सोऽनन्तसमयः। 5/39।”

अर्थात्—कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं।

वह अनन्त समयवाला है।

जब तत्त्वार्थ सूत्र के कर्त्ता उमास्वाति कहते हैं कि कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं तब उनका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि काल का स्वतन्त्र द्रव्यत्व सर्वसम्मत नहीं है। काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाले आचार्य के मत का निराकरण सूत्रकार ने नहीं किया, उसका उल्लेखमात्र कर दिया है। यहां सूत्रकार कहते हैं कि काल अनन्त पर्यायवाला है। काल के वर्तना आदि पर्यायों का कथन तो पहले हो चुका है। समयरूप पर्याय भी काल के ही हैं। वर्तमानकालीन समयपर्याय तो एक ही होता है, परन्तु अतीत, अनागत समय के पर्याय अनन्त होते हैं। इसलिए काल को अनन्त समय वाला कहा गया है। (तत्त्वार्थ सूत्र, पं. सुखलालजी कृत हिन्दी विवेचन, पृ. 145)

आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी ने इस परम्परा भेद का सामञ्जस्य इस प्रकार किया है—“श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्त्या वह जीव और अजीव की पर्याय है। जहां इसके जीव-अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है, वहां इसे द्रव्य भी कहा गया है। ये दोनों कथन विरोधी नहीं, किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि में यह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है—‘उपकारकं द्रव्यम्’। वर्तना आदि काल के उपकार हैं। इन्हीं के कारण यह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकारूप काल जीव-अजीव से भिन्न नहीं है, उन्हीं की पर्याय है। (जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ. 193)

इस प्रकार व्यावहारिक काल को ‘द्रव्य’ मानने का कारण यही है कि काल के कुछ एक उपकार अथवा लक्षण व्यवहार में अत्यन्त उपयोगी हैं और जो ‘उपकारक’ होता है, उसको द्रव्य कहा जा सकता है। जिन उपकारों के कारण काल ‘द्रव्य’ की कोटि में गिना जाता है, वे मुख्यतया पांच हैं: वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्वा।

नैश्चयिक काल अन्य द्रव्यों के परिवर्तन का हेतु है। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों में प्रत्येक समय में जो परिणमन होता रहता है—पर्याय बदलती रहती है, वह नैश्चयिक काल के निमित्त से है। दूसरे शब्दों में, नैश्चयिक काल को जीव और अजीव की पर्याय कहा गया है। इस अभिमत की पुष्टि आगम के इस कथन से की जाती है कि जब भगवान् महावीर से उन के शिष्य गौतम द्वारा प्रश्न पूछा गया—“हे भगवन्! काल किसको कहते हैं?” तब भगवान् महावीर ने उत्तर में कहा—“हे गौतम! जीव को भी और अजीव को भी।”

जो जिस द्रव्य की पर्याय है, वह उस द्रव्य के अन्तर्गत ही है; अतः जीव की पर्याय जीव है और अजीव की पर्याय अजीव। इस प्रकार नैश्चयिक काल जीव भी है और अजीव भी है। काल का निरूपण जब निश्चय नय की दृष्टि से होता है, तब वह ‘नैश्चयिक’ कहलाता है; अतः वास्तविक काल ‘नैश्चयिक काल’ ही माना गया है।

इस प्रकार निश्चय दृष्टि से काल द्रव्य न होकर जीव और अजीव की पर्याय है। जीव या अजीव जिन-जिन अवस्थाओं में परिवर्तित होते हैं, उनका कारण काल ही है।

इस सम्प्र विवेचन का सारांश यही है कि काल स्वयं में कोई स्वतन्त्र ‘वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता’ नहीं है, किन्तु ‘वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताओं’ का ही एक अंग—पर्याय है।

कुछ एक अन्य आचार्यों की मान्यता के अनुसार नैश्चयिक काल वास्तविक द्रव्य है, जबकि व्यावहारिक काल नैश्चयिक काल का पर्याय रूप है।

7.2.2 दिगम्बर परम्परा में काल का स्वरूप

दिगम्बर परम्परा में ‘काल’ के विषय में जो प्रतिपादन किया गया है, वह उक्त मन्तव्य से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। दिगम्बर आचार्यों ने यद्यपि काल के दो भेद—नैश्चयिक और व्यावहारिक काल स्वीकार किये हैं, फिर भी इनकी परिभाषाएं भिन्न प्रकार से की हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (ई. 10 वीं शताब्दी) काल के विषय में द्रव्य संग्रह में लिखते हैं—(गा. 21, 22)

“द्व्यपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।

परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्टो॥21॥

लोयायपदेसे इक्केक्के जे द्विया हु इक्केक्का।

रयणाणं रासीमिव ते कालणू असंखदब्बाणि॥22॥”

अर्थात् “जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप, परिणाम रूप देखा जाता है, वह तो व्यवहारिक काल है और ‘वर्तना लक्षण’ का धारक जो काल है, वह नैश्चयिक काल है। जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं, वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य हैं।”

नैश्चयिक काल, जो कि कालाणुओं के रूप में है, वास्तविक द्रव्य है और संख्या की अपेक्षा से—असंख्यात है, क्योंकि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। ये कालाणु एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं; इसीलिए काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं बनता। कालाणु रूप नैश्चयिक काल ‘वर्तना’ लक्षण के द्वारा जाना जाता है। प्रत्येक द्रव्य के समय-समय में होने वाले परिणमनों में उपादान कारण तो वे स्वयं ही होते हैं। किन्तु उन परिणमनों में निमित्त रूप से सहायक कालाणु होते हैं और उनकी इस सहायिका को ‘वर्तना’ कहते हैं।

पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्तना भण्यते। (बृहद्द्रव्यसंग्रह, वृत्तिः।)

कुछ एक आचार्यों के अनुसार द्रव्यों में होने वाले पर्याय रूप परिवर्तनों में भी प्रति-समय में जो द्रव्य के श्रौव्य की अनुभूति होती है, वह वर्तना है।

प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्गतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना। (तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5/21।)

इस वर्तना लक्षण का धारक जो कालाणु-द्रव्य है, वह नैश्चयिक काल है। तात्पर्य यही है कि कालाणु के निमित्त से द्रव्यों में परिवर्तन (पर्याय) होता है और साथ-साथ उनके अस्तित्व की भी भ्रुवता बनी रहती है। कालाणु स्वयं भी उत्पत्ति, विनाश और श्रौव्य रूप त्रिपुटी से युक्त माना गया है। वर्तमान ‘समय’ की उत्पत्ति होती है, अतीत समय का विनाश और इन दोनों के आधारभूत कालाणु भ्रुव रह जाते हैं। इस प्रकार जो द्रव्य की परिभाषा है—‘उत्पादव्ययश्रौव्ययुक्तं सत्’ (तत्त्वार्थसूत्र, 5-30)

वह कालाणु के लिए लागू होती है और परिणामरूप कालाणु वास्तविक द्रव्य माना गया है।

द्रव्यों में नवीन और प्राचीन आदि पर्यायों का समय, घड़ी, मुहूर्त आदि रूप स्थिति को ‘व्यावहारिक काल’ की संज्ञा दी गई है।

तस्य पर्याय संबंधिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थितिः सा व्यवहारकालसंज्ञा भवति, न च पर्याय इत्यभिप्रायः। (बृहद्द्रव्यसंग्रह, वृत्तिः।)

अर्थात् द्रव्य की पर्याय से संबंध रखने वाली जो समय, घटिका आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति ही ‘व्यवहार काल’ संज्ञा की धारक होती है, किन्तु जो द्रव्य की पर्याय है, वह ‘व्यवहार काल’ नहीं है। यह व्यावहारिक काल परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि लक्षणों से जाना जाता है; व्यावहारिक काल आदि और अन्त सहित होता है, जबकि नैश्चयिक काल (कालाणु) शाश्वत है—आदि-अन्त रहित है। व्यावहारिक काल स्वयं द्रव्य नहीं है।

इस प्रकार नैश्चयिक काल (जो स्वतंत्र द्रव्य है) के निमित्त से अन्य द्रव्यों में पर्यायरूप परिवर्तन होता है और इन पर्यायों की स्थिति से ‘व्यावहारिक काल’ जाना जाता है।

दिगम्बर-परम्परा में काल के स्वरूप को उपसंहार रूप में प्रस्तुत करते हुए पं. महेन्द्र कुमार ‘न्यायाचार्य’ लिखते हैं—समस्त द्रव्यों के उत्पाददिरूप परिणमन में सहकारी ‘कालद्रव्य’ होता है। इसका लक्षण है वर्तना। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है और समस्त लोकाकाश में घड़ी, घंटा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारों में निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्यों की तरह उत्पाद-व्यय-श्रौव्य लक्षण वाला है। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित होने के कारण अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेश पर एक-एक काल-द्रव्य अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्य की तरह वह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नहीं है; क्योंकि प्रत्येक आकाशप्रदेश पर समय भेद इसे अनेक द्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। लंका और कुरुक्षेत्र में दिन, रात आदि का पृथक्-पृथक् व्यवहार तत्तत्स्थानों के काल भेद के कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य मानने पर काल भेद नहीं हो सकता। द्रव्यों में परत्व-अपरत्व (लहरा-जेठा) आदि व्यवहार काल से ही होते हैं। पुरानापन-नयापन भी कालकृत ही है। अतीत, वर्तमान और भविष्य ये व्यवहार भी काल की क्रमिक पर्यायों से होता है। किसी भी पदार्थ के परिणमन को अतीत, वर्तमान या भविष्य कहना काल की अपेक्षा से ही हो सकता है।

इस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा में नैश्चयिक काल को केवल जीव और अजीव की पर्याय रूप माना गया है। दिगम्बर-परम्परा में नैश्चयिक काल को वस्तु-सापेक्ष स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है।

7.3 काल के अकार

काल अपने आप में अमूर्त है; किन्तु उसका अस्तित्व उसके प्रभावों के कारण ज्ञात होता है। आचार्य श्री तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका (1/23) में इनकी चर्चा करते हुए बताया है—

वर्तना-परिणाम-क्रिया-परत्वापरत्वादिभिलक्ष्यः।

वर्तमानत्वम्—वर्तना। पदार्थानां नानापरायेषु परिणतिः—परिणामः।

क्रिया—चक्रमणादिः। प्राग्भावित्वम्—परत्वम्। पश्चाद्भावित्वम्—अपरत्वम्।

अर्थात्—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व इनके द्वारा काल जाना जाता है।

वर्तमान रहने का नाम वर्तना है। पदार्थों का नाना रूपों में परिणमन होना परिणाम है। चक्रमण आदि करना क्रिया है पहले होना परत्व और बाद में होना अपरत्व है।

जैन दर्शन में काल को पहचानने के लिए पांच लक्षण बताए गए हैं—

1. वर्तना 2. परिणाम 3. क्रिया 4. परत्व 5. अपरत्व

1. वर्तना—‘वर्तना’ का अर्थ है—वर्तमान रहना—किसी भी पदार्थ के ‘वर्तमान रहने’ का अर्थ यही है कि उसका अस्तित्व कुछ ‘अवधि’ तक होता है। यह ‘अवधि’ शब्द काल का ही सूचक है। यद्यपि ‘काल’ किसी भी द्रव्य को अस्तित्व की अवस्थिति प्रदान नहीं करता, फिर भी जिस अवधि तक पदार्थ रहता है, वह काल के उन सब क्षणों की सूचक है, जिसमें पदार्थ का अस्तित्व बना रहता है। ‘वर्तना’ की तरह ‘परिणमन’ को भी ‘काल’ के बिना नहीं समझाया जा सकता।

वर्तमान में रहने का नाम ही—वर्तना है। यह वस्तु वर्तमान है, मौजूद है, इसे हम काल से ही जानते हैं। इसी प्रकार यह वस्तु अतीत में थी या भविष्य में होगी—यह भी काल के द्वारा ही जाना जाता है। क्योंकि अतीत की वस्तु भी कभी-न-कभी वर्तमान में अवश्य थी और भविष्य की वस्तु भी कभी-न-कभी वर्तमान में अवश्य रहेगी।

काल सबको चलाता है। एक-एक क्षण चलाता है। बच्चे को जवान और जवान को बूढ़ा बना देता है। काल के सिवाय संसार में और कोई दूसरी शक्ति नहीं, जो किसी को जवान या बूढ़ा बना सके। यह वर्तना है। इसके द्वारा काल को पहचाना जा सकता है।

2. परिणाम—परिणाम अर्थात् परिणति। हम संसार के पदार्थों में जितनी भी प्रकार की परिणतियां देखते हैं, वे सब काल के ही कारण हैं। बचपन जवानी में परिणत हो गया—यह काल के द्वारा ही होता है। अमुक अवस्था तक बालकपन, अमुक अवस्था तक कैशोर्य, अमुक अवस्था तक जवानी, अमुक अवस्था तक प्रौढ़ता ... । ये सब काल की ही परिणतियां हैं।

संसार के हर पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जो पदार्थ हमारे काम में आते हैं, उन्हीं में परिणति हो। जो पदार्थ हमारे काम नहीं आते हैं, उनमें भी परिणति होती रहती है। उदाहरणार्थ—एक कपड़े का थान आपने बक्से में रख दिया। कुछ वर्षों के पश्चात् उस कपड़े का रंग बदल गया। वह जीर्ण-शीर्ण हो गया। आप कहेंगे, हमने तो उसे काम में नहीं लिया। यह ठीक है कि आपने काम में नहीं लिया, पर काल ने तो काम में ले ही लिया। तात्पर्य यही है कि काल के कारण हर पदार्थ में प्रतिक्षण सहज परिवर्तन होता रहता है।

जब किसी पदार्थ में परिणमन होता है, तब उसकी कालावधि का सूचन हमें होता है। विज्ञान के अनुसार ‘रेडियोक्रिया’ (radioactivity) के द्वारा यूरेनियम्, रेडियम् आदि पदार्थ स्वाभाविक परिणमन के कारण अन्ततोगत्वा ‘सीसे’ (lead) के रूप में परिणमित हो जाते हैं। इसकी चर्चा हम ‘पुद्गल’ के अन्तर्गत करेंगे।

3. क्रिया—‘क्रिया’ में गति आदि का समावेश होता है। ‘गति’ का अर्थ है—आकाश प्रदेशों में क्रमशः स्थान-परिवर्तन करना। अतः किसी भी पदार्थ की गति में स्थान-परिवर्तन का विचार उसमें लगने वाले काल के साथ किया जाता है। इसी प्रकार, अन्य क्रियाओं में भी समय का व्यय होता है।

काल हमारी हर क्रिया में परम सहयोगी है। काल के अभाव में अन्य सभी निमित्त होने के बावजूद भी वह क्रिया नहीं हो पाती। इसलिए क्रिया में समय चाहे कम लगे या अधिक, पर यह निश्चित है कि समय अवश्य लगेगा। इसलिए क्रिया से हम काल को पहचान सकते हैं।

4, 5. परत्व और अपरत्व—परत्व का अर्थ है—पहले होना और ‘अपरत्व’ का अर्थ है—बाद में होना। अथवा ‘पुराना’ और ‘नया’। ‘अमुक वस्तु अमुक वस्तु से ‘पुरानी’ है’, ‘अमुक वस्तु अमुक वस्तु से नई है’—ये विचार भी ‘काल’ के बिना नहीं समझाये जा सकते। अमुक व्यक्ति बड़ा है और अमुक व्यक्ति छोटा है, यह पहले जनमा है और यह बाद में जनमा है—यह सब काल के कारण ही है। काल के अभाव में हम बड़े-छोटे का भेद नहीं जान सकते। इसलिए परत्व और अपरत्व—ये दोनों भी काल के लक्षण हैं। इनके द्वारा काल को हम जान सकते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यद्यपि काल को हम सीधे नहीं पकड़ सकते, पर ये पांच ऐसे लक्षण हैं या काल के उपकार हैं जिनसे स्पष्टरूप से हम काल को जान सकते हैं, उसके अस्तित्व को पहचान सकते हैं।

7.4 काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—प्रमाण-काल, यथायुनिर्वृत्ति-काल, मरण-काल और अद्धा-काल। (ठाण्; 4/134)

काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण-काल कहा जाता है।

जीवन और मृत्यु भी काल-सापेक्ष हैं, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुनिर्वृत्ति-काल और उसके अन्त को मरण-काल कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्र आदि की गति से संबंध रखनेवाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान-रूप अद्धा-काल ही है। शेष तीनों इसी के विशिष्ट रूप हैं।

अद्धाकाल व्यावहारिक और गणनात्मक है। भगवती 11/129 में बताया गया है कि ‘समय’ से लेकर ‘पुद्गल-परावर्त’ तक के सारे काल-मान ‘अद्धा-काल’ हैं। आचार्य श्री तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका (1/122) में इसका विवेचन इस प्रकार किया है—

“कालः समयादिः।

निमेषस्यासंख्येतमो भागः समयः कमलपत्रभेदाद्युदाहरणलक्ष्यः।

आदिशब्दात् आवलिकादयश्च। उक्तञ्च—

समयावलियमुहृत्ता, दिवसमहोत्ता पक्खमासा य।

संवच्छर जुगर्णलिया, सागरओसप्पिपरियट्ठा।।” (अनुयोगद्वार, 415)

अर्थात्—समय आदि को काल कहते हैं।

निमेष के असंख्यतम भाग को समय कहते हैं। समय की सूक्ष्मता जानने के लिए ‘कमल-पत्र-भेद’ और ‘जीर्ण-वस्त्र-फाड़ना’ ये दो उदाहरण हैं। आदि शब्द से आवलिका आदि का ग्रहण करना चाहिए।

काल के अवान्तर भेद निम्न प्रकार हैं— समय, आवलिका, मुहूर्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, सम्बत्सर, युग, पत्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पुद्गल-परावर्तन आदि।

जीव-अजीव की पर्याय रूप निश्चय काल लोकालोकव्यापी है, जबकि अद्धाकाल केवल मनुष्य-लोक में ही होता है; इसलिए मनुष्य-लोक को ‘समय-क्षेत्र’ कहा जाता है। सूर्य, चन्द्र आदि की गति के आधार से अद्धाकाल का माप किया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार लोक के मध्य भाग में तिर्यग् लोक अवस्थित है। उसमें असंख्य द्वीप समुद्र हैं। इनमें से केवल अढ़ाई द्वीप के क्षेत्र को ही समय क्षेत्र कहा गया है, क्योंकि सूर्य, चन्द्र आदि की गति केवल यहां तक ही सीमित है। इसके पश्चात् जो असंख्य द्वीप समुद्र हैं, उनमें इन आकाशीय पिण्डों की गति नहीं होती। अढ़ाई द्वीप में जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधिसमुद्र एवं पुष्कर द्वीप का प्रथम अर्धांश क्षेत्र समाविष्ट है। इस समग्र क्षेत्र का व्यास 45 लाख योजन है।

7.5 काल की सबसे छोटी इकाई समय

‘समय’ जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यह काल की सबसे छोटी इकाई है। यह काल का सूक्ष्मतम भाग होने से अविभाज्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आधा-समय, पाव-समय आदि विभाग नहीं

किये जा सकते। गणित की दृष्टि से समय को एक 'आवलिका' का असंख्यातवां हिस्सा बताया गया है, अनन्तवां नहीं। (इस 'असंख्यात' को भी जैन गणित की शब्दावली में 'जघन्य-युक्त-असंख्यात' की सुनिश्चित मान वाली संख्या-निषेध से अभिहित किया गया है।) व्यवहार में उसे एक निमेष का असंख्यातवां अंश बताकर इसके अतिसूक्ष्म परिमाण को समझाया गया है। एक बार आंख झपकने में लगने वाला समय 'निमेष' कहलाता है। इसकी सूक्ष्मता को समझाने के लिए दो उदाहरण दिए गए हैं—1. कमल-पत्र-भेद, 2. जीर्ण-वस्त्र-विदारण।

1. एक-दूसरे से सटे हुए कमल के सौ पत्तों को कोई बलवान व्यक्ति सूई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पत्ते साथ ही छिद गए, किन्तु यह होता नहीं। जिस समय पहला पत्ता छिदा उस समय दूसरा नहीं। इसी प्रकार सब का छेदन क्रमशः होता है।
2. एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र या साड़ी को इतनी शीघ्रता से फाड़ डालता है कि दर्शक को ऐसा लगता है मानो सारा वस्त्र एक साथ फाड़ डाला, किन्तु ऐसा नहीं होता। वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। जब तक ऊपर के तन्तु नहीं फटते तब तक नीचे के तन्तु नहीं फट सकते। अतः यह निश्चित है कि वस्त्र फटने में काल-भेद होता है।

तात्पर्य यह है कि वह अनेक तन्तुओं से बनता है। प्रत्येक तन्तु में अनेक रूएं होते हैं। उनमें भी ऊपर का रूआं पहले छिदता है, तब कहीं उसके नीचे का रूआं छिदता है। अतन्तु परमाणुओं के मिलन का नाम संघात है। अनन्त संघातों का एक समुदय और अनन्त समुदयों की एक समिति होती है। ऐसी अनन्त समितियों के संगठन से तन्तु के ऊपर का एक रूआं बनता है। इन सबका छेदन क्रमशः होता है। तन्तु के पहले रूएं के छेदन में जितना समय लगता है उसका अत्यन्त सूक्ष्म अंश यानी असंख्यातवां भाग समय कहलाता है।

7.6 काल के अन्य मान

'समय' से लेकर 'पुद्गल-परावर्त' तक के विभिन्न काल-मानों का उपयोग जैन दर्शन में विभिन्न संदर्भों में मिलता है। इसमें कुछ काल-मान 'संख्यात-काल' की श्रेणी में हैं, तो अन्य असंख्यात-काल या अनन्त-काल की श्रेणी में हैं। विशाल संख्यात-काल-मानों की एक लंबी सूची हमें जैन आगमों में उपलब्ध होती है (भगवती, 6/.....)। इस सूची के अनुसार सर्वाधिक दीर्घ संख्यात-काल-मान के वर्षों की संख्या को 'शीर्ष-प्रहेलिका' कहा गया है। 84 लाख वर्षों का एक पूर्वांग, 84 लाख पूर्वांगों का एक पूर्व ... इस प्रकार 28 बार 84 लाख से गुणित करने पर अन्त में शीर्ष-प्रहेलिका का मान प्राप्त होता है। यह मूल्य श्वेताम्बर-परम्परा की वालभ्य-वाचना के अनुसार है। माथुरी वाचना के अनुसार यह मूल्य 36 बार गुणित करने पर प्राप्त होता है। दिगम्बर-परम्परा में यह मान अन्य रूप में माना गया है। वालभ्य-वाचना के अनुसार यह संख्या 192 अंकों की है। इससे अधिक बड़ी संख्या का प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता।

असंख्यात काल-मानों की परिभाषा 'उपमा' द्वारा की जाती है। यद्यपि प्रचलित संख्याओं के द्वारा ये मान निर्दिष्ट नहीं किए जा सकते, फिर भी गणित की विधियों से प्रदत्त परिभाषा के आधार पर इनका बिलकुल सही मान व्याख्यायित किया जा सकता है। जैन दर्शन में प्रयुक्त 'असंख्यात' और 'अनन्त' शब्द गणित के पारिभाषिक शब्द हैं, जिनकी व्याख्या गणितीय विधियों द्वारा की जा सकती है। अस्तु, इतना तो समझना अपेक्षित है ही कि ये शब्द किन्हीं निश्चित मान या मूल्य के रूप में प्रयुक्त हैं। असंख्यात और अनन्त के भेदों के द्वारा इनके तात्पर्य या न्यूनाधिकत्व का बहुत ही सही-सही गणितीय विश्लेषण जैन गणित-साहित्य में हमें उपलब्ध होता है। (इनकी विस्तृत गणना विश्व-प्रहेलिका के परिशिष्ट में दी गई है।)

7.7 काल-मान-कोष्ठक

काल का अविभाज्य अंश	= एक समय
(जघन्य-युक्त) असंख्यात समय	= एक आवलिका
256 आवलिकाएं	= एक क्षुल्लक भव
	(सबसे छोटी आयु)
2223 ¹²²⁹ / ₃₇₇₃ आवलिकाएं	= एक उच्छ्वास या
	एक निःश्वास
4446 ²⁴⁵⁸ / ₃₇₇₃ आवलिकाएं	= एक प्राण

(क्षुल्लक भवों की अपेक्षा से साधिक 17 क्षुल्लक भवों का एक प्राण होता है।)

अथवा एक पूर्ण श्वासोच्छ्वास = एक प्राण

(यानी दो उच्छ्वास या दो निःश्वास)

7 प्राण = एक स्तोक

7 स्तोक = एक लव

$38\frac{1}{2}$ लव = एक घड़ी (= 24 मिनट)

77 लव = दो घड़ी। अथवा,

= 65536 क्षुल्लक भवा या,

= 16777216 आवलिका अथवा

= 3773 प्राण अथवा

एक मुहूर्त (48 मिनट)

30 मुहूर्त = एक दिन-रात (अहोरात्रि)

15 दिन = एक पक्ष

2 पक्ष = एक मास

2 मास = एक ऋतु

3 ऋतु = एक अयन

2 अयन = एक वर्ष

5 वर्ष = एक युग

संख्यात काल-मान

8400000 वर्ष = 1 पूर्वांग

8400000 पूर्वांग = 1 पूर्व

8400000 चूलिका = 1 शीर्षप्रहेलिकांग

8400000 शीर्षप्रहेलिकांग = 1 शीर्षप्रहेलिका

असंख्यात काल-मान

असंख्यात वर्षो = 1 पल्योपम

10 क्रोडाक्रोड पल्योपम = 1 सागरोपम

10 क्रोडाक्रोड सागरोपम = 1 उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी
= $\frac{1}{2}$ कालच्छ

20 क्रोडाक्रोड सागरोपम = 1 कालच्छ

पल्योपम

पल्योपम को समझाने के लिए जैन परम्परा में पल्य अर्थात् 'वेलनाकार (Cylindrical) खड्डा या कुंआ' की उपमा दी गई है। यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में इसका गणितीय विवेचन यत्किञ्चित् भिन्नता लिए हुए हैं, फिर भी उसका हार्द समान है। श्वेताम्बर-परम्परा में अनुयोगद्वारा सूत्र में दिये गये विवेचन के अनुसार—एक योजन व्यास (Diameter) वाला एक कुंआ है। इसकी ऊंचाई भी एक योजन है।

(1 योजन=4 कोस=8 मील होता है)। इस कुएं को नवजात उच्चरकुरु क्षेत्र के यौगलिक शिशु के केशों से अथवा उनके असंख्य खण्ड करके सम्पूर्ण रूप से (दूस-दूसकर) भरा जाता है। प्रति समय या सौ वर्ष में एक-एक केश या एक-एक केश खण्ड बाहर निकाला जाता है। जितने काल में वह कुंआ (पल्य) खाली हो जाता है उसे एक पल्योपम कहा जाता है। इस पल्योपम के चार प्रकार हैं—1. बादर उद्धार 2. सूक्ष्म उद्धार 3. बादर-अद्धा 4. सूक्ष्म अद्धा।

जब केशों को निकाला जाता है, तब 'बादर पल्योपम' कहलाता है और जब केश-खण्डों को निकाला जाता है तब 'सूक्ष्म पल्योपम' कहलाता है। जब प्रतिसमय निकाला जाता है, तब 'उद्धार पल्योपम' कहलाता है और प्रति सौ वर्षों से निकाला जाता है, तब 'अद्धा पल्योपम' कहलाता है। अतः

बादर उद्धार—केशों को प्रतिसमय निकालने पर जितने काल में पल्य खाली होता है, उतना काल।

सूक्ष्म अद्धा—केश खण्डों को प्रतिसमय निकालने पर पल्य के खाली होने का काल।

बादर अद्धा—केशों को प्रति सौ वर्ष बाद निकालने पर पल्य (कुएं) को खाली होने में लगने वाला कारण।

सूक्ष्म अद्धा—केशखण्डों को प्रति सौ वर्ष बाद निकालने पर पल्य को खाली होने में जितना काल लगे वह काल।

गणित के आधार पर कुएं में समाने वाले केशों की संख्या 3 पर 36 शून्य लगे उतनी होती है। (3×10^{36}) ।

सागरोपम

$10 \times 10000000 \times 10000000$ पल्योपमों का एक सागरोपम होता है। सागरोपम के भी सूक्ष्म, बादर, उद्धार और अद्धा—इस प्रकार चार भेद होते हैं। (1 सागरोपम= 10^{15} पल्योपम)

7.8 पुद्गल-परावर्त

प्रत्येक जीव अनादि काल से लोक में नए-नए स्थान में जन्म प्राप्त करता रहता है। पूरे लोक के समग्र प्रदेशों को जितने काल में वह अपने जन्म के द्वारा क्रमशः स्पर्श कर लेता है, वह काल 'क्षेत्र-पुद्गल-परावर्त' कहलाता है। इसी प्रकार लोक के समग्र पुद्गलों का क्रमशः स्पर्श कर लेता है, वह 'द्रव्य-पुद्गल-परावर्त' कहलाता है। एक पुद्गल-परावर्त में अनन्त काल-चक्र जितना समय बीत जाता है।

7.9 काल-चक्र—सिद्धान्त

जैन दर्शन के अनुसार विश्व शाश्वत है। यह तथ्य जैन आगमों में अनेक स्थलों में अनेक प्रकार से समझाया गया है। जब भगवान् महावीर को उनके विनीत शिष्य आर्यरोह द्वारा पूछा गया—“भगवन्! पहले लोक हुआ और बाद में अलोक? अथवा पहले अलोक हुआ और बाद में लोक?” तब भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—“रोह! लोक और अलोक—ये दोनों पहले से हैं और पीछे रहेंगे; अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमें पौर्वापर्य (पहले-पीछे का) क्रम नहीं है।” (भगवती, 1-6)

दूसरे शब्दों में यह विश्व भूतकाल में विद्यमान था, वर्तमान काल में विद्यमान है और भविष्य में विद्यमान रहेगा। वह न तो कभी बनाया गया और न कभी विनाश को प्राप्त होगा। काल की दृष्टि से यह आदि रहित और अन्त रहित है। (स च अनादिनिश्चिनः, केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो, न हतो ... । बृहद्रव्यसंग्रह, गा. 20 की श्री ब्रह्मदेव निर्मित वृत्ति, पृ. 51)।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। किसी भी विचार के विषय में वह एकान्तता को स्वीकार नहीं करता। इसलिए 'विश्व' को जहां एक ओर शाश्वत मान लिया गया, वहां दूसरी ओर परिवर्तनशील भी। 'परिणामी-नित्यत्ववाद' इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि प्रत्येक पदार्थ 'उत्पत्ति और नाश' रूप परिवर्तन के होते हुए भी अपना अस्तित्व रख लेता है। दूसरे शब्दों में विश्व के समस्त पदार्थ—जीव और अजीव—उत्पत्ति, नाश और भूतता की त्रिपुटी से युक्त हो जाते हैं। इस प्रकार विश्व शाश्वत भी है, अशाश्वत भी।

विश्व की शाश्वतता-अशाश्वतता का उक्त विवेचन समग्र विश्व की दृष्टि से विश्व के मध्य भाग में स्थित 'तिर्यग् लोक' के विशेष स्थानों के लिए 'अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल-चक्र' के सिद्धान्त को जैन दर्शन स्वीकार करता है। क्षेत्रलोक के विवेचन में यह बताया गया है कि समग्र लोक की ऊंचाई 14 रज्जु है। अधोलोक 7 रज्जु से कुछ अधिक ऊंचाई वाला है और ऊर्ध्व लोक 7 रज्जु से कुछ कम ऊंचाई वाला। इन दोनों के बीच में 1800 योजन की ऊंचाई और 1 रज्जु की लम्बाई-चौड़ाई वाला तिर्यग्-लोक है। तिर्यग्-लोक में वलयाकार से एक-दूसरे को परिवेष्टित करने वाले असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। इनमें जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि समुद्र और अर्धपुष्कर द्वीप—ये पांच वलय तिर्यग्-लोक के मध्य में हैं। उनको 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। समय-क्षेत्र में ही सूर्य-चन्द्रकृत व्यावहारिक काल होता है। समय-प्रवाह के साथ प्रकृति की कुछ प्रक्रियाओं में परिवर्तन भी होता रहता है। इन परिवर्तनों को समझाने के लिए 'अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल-चक्र' का सिद्धान्त है।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का अर्थ है-हास और विकास का एक सुदीर्घ काल-चक्र। एक काल-चक्र 20 कोटाकोटि सूक्ष्म अद्धा-सागरोपम काल में पूरा होता है।

इतना काल व्यतीत होने में असंख्य वर्ष बीत जाते हैं। दिगम्बर-परम्परा में एक काल-चक्र के वर्षों की संख्या का 'कल्प' नाम भी मिलता है। (देखें तिलोयपण्णत्ती, 4-316)। श्री जी. आर. जैन के अनुसार अर्ध-महाकल्प के 413, 452, 630, 302, 203, 177, 749, 512, 192 $\times 10^{50}$ वर्ष होते हैं। अर्थात् महाकल्प के 8.23×10^{76} वर्ष होते हैं। (देखें कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ. 231) किन्तु यह संख्या असंख्य वर्षों की अपेक्षा में अत्यन्त छोटी है। वस्तुतः तो दिगम्बर-परम्परा के अनुसार उत्कृष्ट संख्यात वर्ष का मान 'अचलात्म' है। अचलात्म के $84^{31} \times 10^{90}$ वर्ष होते हैं। जो कि, 4.5×10^{149} लगभग होते हैं।

7.10 जैन दर्शन का दृष्टिकोण

एक-एक काल-चक्र के दो भागों में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के काल-चक्रार्ध होते हैं। उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध में समय-क्षेत्र की प्रकृतिजन्य सभी प्रक्रियाएं क्रमशः निर्माण और विकास की ओर बढ़ती हैं और अन्त में प्राप्ति की चरम सीमा को प्राप्त होती हैं। इसके बाद अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध के प्रारम्भ होने पर वे प्रक्रियाएं पुनः ध्वंस और ह्रास की ओर चलती हैं और अन्त में वे विनाश की चरम मर्यादा तक पहुंचती हैं। अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध के अन्त तक प्रकृति की अवनति उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की परिभाषा करते हुए कहा गया है, "जिस काल-चक्रार्ध में सभी शुभ भाव क्रमशः क्षीण होते हैं और अशुभ भाव क्रमशः वृद्धिगत होते हैं, वह 'अवसर्पिणी' है। जिस काल-चक्रार्ध में सभी शुभ भाव क्रमशः वृद्धि को प्राप्त करते हैं और अशुभ भाव क्रमशः क्षीण होते हैं, वह उत्सर्पिणी है।"

यस्यां सर्वे शुभा भावाः क्षीयन्तेऽनुक्षणं क्रमात्।

अशुभाश्च प्रवर्धन्ते, सा भवत्यवसर्पिणी॥

शुभा भावा विवर्द्धन्ते क्रमाद्यस्यां प्रतिक्षण।

हीयन्ते चाशुभा भावा भवत्युत्सर्पिणीति सा॥ (लोकप्रकाश, 29-44, 45)

अवसर्पिणी काल में पुद्गलों में (परमाणु तथा परमाणु-समूहों में) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि की अपेक्षा से अनन्त गुण की हानि होती है।

अणंतेहिं वण्णपज्जेवेहिं गंधपज्जेवेहिं,

यावत्परिहायमाणेहिं ओसप्पिणी पट्ठिवज्जाई। (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, कालाधिकार।)

उत्सर्पिणी काल में इससे विपरीत होता है। उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी, इस प्रकार काल-चक्र चलता रहता है। अनादि भूत में अनन्त काल-चक्र व्यतीत हो गये और अनन्त भविष्य में अनन्त काल-चक्र व्यतीत होंगे।

दश कोटाकोटि अद्दा सागरोपम (अ. सा.) प्रमाण प्रत्येक काल-चक्रार्ध के छः खण्ड होते हैं, जिनको 'आरा' कहते हैं (देखें, चित्र)। काल-चक्र के आरों का नाम और काल-अवधि इस प्रकार है—

अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध

उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध

आरा क्रमांक	नाम	काल-अवधि	आरा क्रमांक	नाम	काल-अवधि
1	सुषमसुषमा	4×10^{14}	1	दुःषमदुःषमा	21000 वर्ष
2	सुषमा	3×10^{14}	2	दुःषमा	21000 वर्ष
3	दुःषमदुःषमा	2×10^{14}	3	दुःषमसुषमा	1×10^{14}
4	दुःषम सुषमा	1×10^{14}	4	सुषमदुःषमा	अद्दा सागरोपम 2×10^{14}
5		अद्दा सागरोपम 42000 वर्ष	5	सुषमा	3×10^{14}
6	दुःषमा दुःषमदुःषमा	21000 वर्ष	6	सुषमसुषमा	अद्दा सागरोपम 4×10^{14}
					अद्दा सागरोपम

अवसर्पिणी काल में समय बीतने के साथ-साथ मनुष्यों का आयुष्य, ऊँचाई और पृष्ठ-करंडक (पृष्ठ-अस्थि) की संख्या में हानि होती रहती है। अवसर्पिणी काल के प्रारंभ में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम होता है। बाद में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम से कुछ कम हो जाता है। उसी प्रकार क्रमशः घटते-घटते द्वितीय आरे के प्रारम्भ-काल में उत्कृष्ट आयुष्य दो पल्योपम हो जाता है। इसी प्रकार ऊँचाई और अस्थि-संख्या में भी क्रमशः हानि होती रहती है। निम्न कोष्ठक के द्वारा उन हानियों का प्रमाण स्पष्ट हो जाएगा—

प्रत्येक आरे के प्रारम्भ में आयुष्य आदि का मानः

आरा-क्रमांक	आयुष्य	ऊँचाई	पृष्ठ-अस्थि-संख्या
1	3 पल्योपम	6000 धनुष्य	256
2	2 पल्योपम	4000 धनुष्य	128
3	1 पल्योपम	2000 धनुष्य	64
4	1 क्रोड पूर्व	500 धनुष्य (दिगम्बर परम्परानुसार 525 धनुष्य)	40
5	130 वर्ष	7 हाथ	24
6	20 वर्ष	1 हाथ (दिगम्बर परम्परानुसार 3 से $3\frac{1}{2}$ हाथ)	12

उत्सर्पिणी काल में आयु, ऊँचाई पृष्ठ-अस्थि-संख्या आदि में क्रमशः वृद्धि होती है।

7.11 वर्तमान युग

वर्तमान में जो आरा चल रहा है, वह अवसर्पिणी काल का पाँचवाँ आरा है। इस आरे का प्रारम्भ श्रमण महावीर के निर्वाण के 3 वर्ष $8\frac{1}{2}$ मास पश्चात् हुआ था। भगवान् महावीर का निर्वाण ई.पू. 527 में हुआ था; अतः ई. पू. 524 में पाँचवें आरे का आरम्भ होता है। यह आरा 21000 वर्ष का है। ईस्वी सन् 20476 में इस आरे का अन्त होगा और छठे आरे का प्रारम्भ होगा। छठे आरे के प्रारम्भ में होने वाली स्थिति का वर्णन विस्तृत रूप से जैन साहित्य में मिलता है—“उस समय दुःख से लोगों में हाहाकार होगा। अत्यन्त कठोर स्पर्श वाला, मलिन, भूलि-युक्त पवन चलेगा। वह दुःसह व भय उत्पन्न करने वाला होगा। वर्तुलाकार वायु चलेगी, जिससे शूल आदि एकत्रित होगी। पुनः-पुनः भूलि उड़ने से दशों दिशाएं रजःसहित हो जाएंगी। भूलि से मलिन अन्धकार समूह के हो जाने से प्रकाश का आविर्भाव बहुत कठिनता से होगा। समय की रूक्षता से चन्द्रमा अधिक शीत होगा और सूर्य भी अधिक तपेगा। उस क्षेत्र में बार-बार बहुत अरस-विरस मेघ, क्षार मेघ, विद्युन्मेघ, अमनोज्ञ मेघ, प्रचण्ड वायु वाले मेघ बरसेंगे। उस समय भूमि अग्निभूत, मुर्मुरभूत, धस्मभूत हो जाएगी। पृथ्वी पर चलने वाले जीवों को बहुत कष्ट होगा। उस क्षेत्र के मनुष्य विकृत वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले होंगे तथा वे ऊंट की तरह वक्र चल चलने वाले शरीर के विषम संधि-बन्ध को धारण करने वाले, ऊँची-नीची विषम पसलियों तथा हड्डियों वाले और कुरूप होंगे। उत्कृष्ट 1 हाथ की अवगाहना (ऊँचाई) और 20 वर्ष की आयु होगी। बड़ी-बड़ी नदियों का विस्तार रथ के मार्ग जितना होगा। नदियों में पानी बहुत थोड़ा रहेगा। मनुष्य भी केवल बीज रूप ही बचेंगे। वे उन नदियों के किनारे बिलों में रहेंगे। सूर्योदय से 1 मुहूर्त पहले और सूर्यास्त से 1 मुहूर्त पश्चात् बिलों से बाहर निकलेंगे और मत्स्य आदि को उड़ा रेती में पकाकर खायेंगे।....”(भगवती सूत्र, 7-6)

इस प्रकार छठे आरे का प्रारम्भ होकर 21000 वर्ष तक यह स्थिति उत्तरोत्तर विषम बनती रहेगी। छठे आरे का अन्त होने पर अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध समाप्त हो जाएगा। उस समय हास अपनी चरम सीमा पर पहुंचेगा। इसके बाद पुनः उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध प्रारम्भ होगा। “जिससे प्रकृति का वातावरण पुनः सुधरने लगेगा। शुद्ध हवाएं चलेंगी, स्निग्ध मेघ बरसेंगे और अनुकूल तापमान होगा। सृष्टि बढ़ेगी, गांव और नगरों का पुनः निर्माण होगा।” (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, कालाधिकार) यह क्रमिक विकास उत्सर्पिणी के अन्त काल

में निर्माण के चरम शिखर पर पहुंचेगा। इस प्रकार एक काल-चक्र सम्पन्न होता है। प्रकृति के इतिहास में होने वाले इस अव्याय-परिवर्तन को लोक प्रलय और सृष्टि कहते हैं। जैन विचारधारा के अनुसार प्रलय का अर्थ 'आत्यन्तिक नाश' नहीं; वह ध्वंस (ह्रास) की अन्तिम मर्यादा है।

प्रस्तुत विषय के उपसंहार में यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन के अनुसार—

1. विश्व अस्तित्व की अपेक्षा से अनादि और अनन्त है।
2. इस शाश्वत विश्व में प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश रूप अनन्त परिणमन होते रहते हैं।
3. विश्व के विशेष क्षेत्रों (समय-क्षेत्र) में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल-चक्र का प्रवर्तन होता रहता है।

7.12.0 भारतीय दर्शनों में 'काल'

वैदिक दर्शनों में काल के संबंध में—नैश्चयिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं। नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं। (न्यायकारिकावली, 45: "जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।" वैशेषिकदर्शन, 2/2/6-10) योग, सांख्य आदि दर्शन काल का स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते। (सांख्यकौमुदी, 33) न्याय-दर्शन के अनुसार परत्व और अपरत्व आदि काल के लिंग हैं। (न्यायकारिका, 46: परापरत्वविर्हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।) वैशेषिक—पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र को काल के लिंग मानते हैं। (वैशेषिकसूत्र, 2/2/6)

7.12.1 वैशेषिक की मान्यता

पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने वैशेषिक मान्यता की समीक्षा करते हुए लिखा है—“वैशेषिक काल को एक और व्यापक द्रव्य मानते हैं, परन्तु नित्य और एक द्रव्य में जब स्वयं अतीतादि भेद नहीं हैं, तब उसके निमित्त से अन्य पदार्थों में अतीतादि भेद कैसे नापे जा सकते हैं? किसी भी द्रव्य का परिणमन किसी समय में ही तो होता है। बिना समय के उस परिणमन को अतीत अनागत या वर्तमान कैसे कहा जा सकता है? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आकाश-प्रदेश पर विभिन्न द्रव्यों के जो विलक्षण परिणमन हो रहे हैं, उनमें एक साधारण निमित्त काल है; जो (दिगम्बर जैन परम्परा में) अणुरूप है और जिसकी समय पर्यायों के समुदाय में हम घड़ी, घंटा आदि स्थूल काल का नाप बनाते हैं। अलोकाकाश में अतीतादि व्यवहार होता है, वह लोकाकाशवर्ती काल के कारण ही। चूँकि लोक और अलोकवर्ती आकाश, एक अखण्ड द्रव्य है, अतः लोकाकाश में होने वाला कोई भी परिणमन समूचे आकाश में ही होता है। काल एकप्रदेशी होने के कारण द्रव्य होकर भी 'अस्तिकाय' नहीं कहा जाता; क्योंकि बहुप्रदेशी द्रव्यों की ही 'अस्तिकाय' संज्ञा है।” (श्वेताम्बर जैन परम्परा में कुछ आचार्य काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते।)”

7.12.2 बौद्ध परम्परा में काल की समीक्षा

पं. महेन्द्रकुमार जी 'न्यायाचार्य' ने लिखा है—“बौद्ध परम्परा में काल केवल व्यवहार के लिए कल्पित होता है। यह कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्तिमात्र है। (अट्टशालिनी 1/3/16) किन्तु अतीत अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य काल के बिना नहीं हो सकते। जैसे कि बालक में शेर का उपचार मुख्य शेर के सङ्भाव में ही होता है, उसी तरह समस्त कालिक व्यवहार मुख्य काल द्रव्य के बिना नहीं बन सकते।

7.13.0 पश्चात्य दर्शन में काल का स्वरूप

7.13.1 ग्रीक दार्शनिकों से लाइबनीज तक

दार्शनिकों के चिन्तन में आकाश तत्त्व का निरूपण वास्तविकता की अपेक्षा से जिस प्रकार हुआ है, अधिकांशतया उससे सादृश्य रखने वाले विचार 'काल' तत्त्व के विषय में दिए गए हैं। एपिक्युरस ने काल को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्वीकार कर उसे वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता माना है। प्लुतो ने माना है कि “ईश्वर ने सृष्टि की रचना के साथ 'काल' को बनाया। काल और आकाश एक ही साथ अस्तित्व में आए। वास्तविक शाश्वतता के प्रतिबिम्ब के रूप में काल की रचना ईश्वर के द्वारा हुई थी।” (हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ. 166) इस प्रकार प्लुतो ने काल को एक काल्पनिक वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया है। जबकि अरस्तु के अनुसार—“पहले और पीछे की अपेक्षा से होने वाले परिवर्तन (अथवा गति) के माप

(अथवा गणना) को काल कहते हैं। (फिजिक्स, 4-2-220ए)” इस प्रकार अरस्तु ने काल की परिभाषा का आधार परिवर्तन अथवा गति माना है। उसके अनुसार काल अनुक्रमिक वर्तमान क्षणों से बनता है और काल-प्रवाह अस्थिर है। प्लूतो ने जहाँ काल को भी ईश्वर द्वारा रचित माना है, अरस्तु के अनुसार काल सदैव अस्तित्व में था और सदैव रहेगा।

ईसा की चौथी शताब्दी में हुए सेण्ट ऑगस्टाइन (St. Augustine) ने काल के विषय में उल्लेखनीय विचार दिए हैं। उनके अनुसार काल ज्ञाता-सापेक्ष तत्त्व है और वर्तमान के अतिरिक्त काल के भूत और भविष्य के भेद अतात्त्विक हैं। (कन्फेसन्स, 11-14)

स्कोलेस्टिसिज्म में काल को आकाश की तरह मस्तिष्क की उपज ही माना गया है। किन्तु उसकी कल्पना का आधार वास्तविक तथ्यों पर है। “गतिशील पदार्थ काल नहीं है, किन्तु काल अभौतिक गति है, जो (वास्तविक) पदार्थों की अवधि का माप है। वास्तविक पदार्थों की जो गति होती है, अथवा अवधि होती है, वह वास्तविक तथ्य है। उसको मापने के लिए अथवा उसकी गणना करने के लिए काल की कल्पना हम करते हैं। आकाश की तरह काल के भी तीन प्रकार हैं। 1. वास्तविक काल 2. शक्य काल और 3. निरपेक्ष काल। (कोस्मोलोजी, पृ. 11, 115)

लाइबनीज ने आकाश और काल का समान रूप से वर्णन किया है। जिस प्रकार आकाश को वस्तुओं का क्रम बताया है, उसी प्रकार काल को पौर्वापर्य का क्रम बताया है। आकाश की तरह काल भी ‘सापेक्ष’ है।

7.13.2 जैन दर्शन के साथ तुलना

जिस प्रकार आकाश तत्त्व के विषय में दार्शनिकों में विवाद रहा है, उसी प्रकार ‘काल’ के विषय में भी अनेक प्रकार के सिद्धान्त दार्शनिकों ने प्रस्तुत किये हैं। फिर भी कुछ एक दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिक काल को स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार नहीं करते। जैन दर्शन के काल-संबंधी निरूपण की चर्चा की जा चुकी है। श्वेताम्बर-परम्परा में काल को स्वतंत्र या चरम वास्तविकता के रूप में नहीं माना गया है, जबकि दिगम्बर-परम्परा में कालाणुओं के रूप में काल को स्वतंत्र वास्तविकता बताया गया है। इस प्रकार अधिकांश पाश्चात्य दार्शनिकों की काल-संबंधी मान्यता श्वेताम्बर-परम्परा के प्रतिपादन के साथ सादृश्य रखती है। फिर भी सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से इनमें अन्तर रह जाता है। जैसे काण्ट ने काल को वास्तविकता के रूप में तो नहीं माना है, किन्तु केवल प्राग्-अनुभव अन्तःदर्शन की उपज ही माना है; जबकि जैन दर्शन काल के अस्तित्व को केवल काल्पनिक नहीं मानता। जैन दर्शन (श्वेताम्बर-परम्परा) के अनुसार काल (नैश्चयिक) वास्तविकताओं (जीव, पुद्गल आदि अस्तिकायों) की पर्याय ही है। अतः ‘काल’ का अस्तित्व ज्ञाता-सापेक्ष भी नहीं है। काण्ट का काल-संबंधी सिद्धान्त सामान्य अनुभव भी स्वीकार नहीं कर सकता; क्योंकि काल की धारणा परिवर्तन की अनुभूति के पश्चात्कालीन ही होती है।

स्कोलेस्टिसिज्म ने काल के विषय में जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह बहुत कुछ जैन दर्शन के साथ समानता रखता है। अतः केवल इतना ही है कि जैन दर्शन ‘काल’ को केवल मस्तिष्क की उपज नहीं मानता, जब कि वे काल की धारणा का आधार वास्तविक तथ्यों को मानते हुए भी मस्तिष्क के अतिरिक्त और कहीं उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। लाइबनीज आदि का काल-संबंधी मन्तव्य आधुनिक वैज्ञानिकों के सदृश-सा ही है, अतः उनकी स्वतंत्र समीक्षा न करते हुए वैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ करना उचित होगा।

7.14.0 विज्ञान के क्षेत्र में काल की अवधारणा

7.14.1 न्यूटन की धारणा

न्यूटन ने काल को स्वतंत्र, निरपेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है—“निरपेक्ष (Absolute), वास्तविक और गणितीय काल अपने आप और स्वभावतः किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा के बिना सदा समान रूप से बहता है।” न्यूटन की धारणा में काल स्वतंत्र वस्तु-निष्ठ (Objective) वास्तविक तत्त्व है। काल का अस्तित्व न तो ज्ञाता पर निर्भर है और न अन्य भौतिक पदार्थों पर जिनको वह संबद्ध करता है।

काल-विषयक न्यूटन के सिद्धान्त को वैज्ञानिक जगत् में मान्यता मिल गई। अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना में न्यूटन के काल-संबंधी निरूपण में यह विशेषता थी कि इसमें काल को वास्तविक तथ्य के रूप में माना गया है। निरपेक्ष काल का निरूपण कर न्यूटन ने आकाश और काल को एक दूसरे से स्वतंत्र बताया था। न्यूटन के विज्ञान में पदार्थों का भी काल के प्रवाह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। “काल का प्रवाह तो अपने आप में सदा बिना किसी परिवर्तन के एक रूप से अनन्त भूत से अनन्त भविष्य की ओर सतत चलता रहता है”—यह न्यूटन का मतव्य था, जो विज्ञान के क्षेत्र में ‘आपेक्षिकता के सिद्धान्त’ के आविष्कार से पूर्व सर्वमान्य रूप में स्वीकृत था।

7.14.2 जैन दर्शन के साथ तुलना

न्यूटन ने काल की जो परिभाषा दी है, उससे यह लगता है कि उन्होंने काल को वास्तविक तत्त्व या द्रव्य के रूप में न मान कर वास्तविक तथ्य के रूप में प्रतिपादित किया है। जैन दर्शन (श्वेताम्बर-परम्परा) भी काल को वास्तविक तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करता। न्यूटन ने निरपेक्ष गणितीय काल का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है; जैन दर्शन के निरपेक्ष काल-मान—‘समय’ आदि उसी प्रकार के सिद्धान्त के द्योतक हैं। इस प्रकार काल के विषय में भी दोनों सिद्धान्तों में बहुत साम्य है, फिर भी न्यूटन के सिद्धान्त ने प्रकाश-गति की सीमितता को अस्वीकार करने के कारण आकाश और काल के पारस्परिक संबंध को स्वीकार ही नहीं किया है, जब कि जैन दर्शन में प्रकाश-गति की सीमितता से होने वाले आकाश और काल के पारस्परिक संबंध का विरोध उपलब्ध नहीं होता है।

7.14.3 आपेक्षिकता के सिद्धान्त के पश्चात् काल की अवधारणा

‘आकाश’-संबंधी चर्चा के दौरान हम आधुनिक विज्ञान की काल-संबंधी अवधारणा का भी विवेचन कर चुके हैं। आइन्स्टीन द्वारा प्रदत्त आपेक्षिकता के वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर ‘निरपेक्ष काल’ का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया तथा चतुर्विमितीय सातत्य में आकाश और काल जुड़ गए। इसकी विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। इसका निष्कर्ष यही है कि आपेक्षिकता के सिद्धान्त के दो पहलू हैं—1. वैज्ञानिक 2. दार्शनिक। वैज्ञानिक पहलू अपने आप में स्पष्ट है और प्रकाश-गति की सीमितता के कारण ‘युगपत्’ का स्वरूप निरपेक्ष नहीं रह जाता यानी ‘वर्तमान’ का अस्तित्व भिन्न-भिन्न द्रष्टा के लिए भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसीलिए काल की विमिति को आकाश की विमिति के साथ जोड़कर ही सम्पूर्ण घटना की व्याख्या की जा सकती है।

जहां तक दार्शनिक पहलू का संबंध है, इस विषय में वैज्ञानिकों का मतैक्य नहीं है। जैसे आकाश की दार्शनिक व्याख्या को लेकर राइशनबाख ने स्पष्टीकरण किया था वैसे ही काल के विषय में भी किया है। वे लिखते हैं—“काल को चतुर्थ विमिति के रूप में मानने से, बहुत लोगों की यह मान्यता बनी है कि काल भी आकाश की ही एक ‘विमिति’ है। किन्तु यह गलत है। चतुर्विमिति में आकाश और काल को जोड़ने का अर्थ मात्र यही है कि किसी भी घटना (Event) का निर्देश हम चार निर्देशांकों द्वारा कर सकते हैं—आकाश के तीन निर्देशांक और काल का चौथा निर्देशांक। जिस प्रकार तीन मूल रंगों—लाल, हरा और नीले—के द्वारा हम किसी भी वस्तु के रंग का निर्णय कर सकते हैं कि अमुक वस्तु में इन तीन की कितनी-कितनी मात्राएं हैं; किन्तु ऐसा करने से वस्तु का रंग बदल नहीं जाता..... (उस प्रकार) काल का चतुर्थ विमिति के रूप में निरूपण करने से काल के विषय में हमारे विचार में कोई परिवर्तन नहीं आता है।” उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि चतुर्विमितिक गणितीय रूप को मानते हुए भी यह मानना आवश्यक नहीं है कि आकाश और काल के बीच कोई अन्तर ही नहीं है। आपेक्षिकता के सिद्धान्त से काल के जिन गुण-धर्मों का ज्ञान हमें होता है, चतुर्थ विमिति के रूप में काल के प्रतिपादन के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। गणितीय प्रतिपादन का यह अर्थ करना कि आकाश और काल का केवल सम्मिलित रूप ही वास्तविक राइशनबाख के अनुसार गलत है।

7.15 जैन दर्शन के साथ तुलना

7.15.1 आपेक्षिकता और काल

आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आधार पर वैज्ञानिक अवधारणाओं का जैन दर्शन के साथ जो तुलनात्मक विवेचन आकाश के प्रसंग में किया गया था, उसके अन्तर्गत काल के संबंध में भी कुछ तथ्य प्रस्तुत किये

गये थे। जहाँ तक प्रकाश की गति के आधार पर काल की सापेक्षता का संबंध है, उसे इन्द्रिय-ज्ञान (मतिज्ञान और श्रुतज्ञान) की सीमितता के साथ जैन दर्शन के अनुसार मानने में कोई बाधा नहीं है।

‘आपेक्षिकता के सिद्धान्त’ आकाश और काल की परस्परापेक्षता का जो निरूपण किया गया है, वह निर्विवाद है। इसका आधार प्रकाश गति की सीमितता है। यह एक तथ्य है कि हमारी इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह इस गति से तेज चलने वाले किसी भी साधन की सहायता से नहीं हो सकता, अतः घटना और द्रष्टा की (आकाशीय) दूरी के ऊपर युगपत्ता की परिभाषा हो जाती है। अतः किसी भी घटना के पूर्व विवेचन में आकाश और काल दोनों जुड़े हुए रहते हैं, यह सिद्धान्त निर्विवाद रूप से मान्य हो जाता है, किन्तु प्रकाश-गति की सीमितता का क्षेत्र कहाँ तक है? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है।

आपेक्षिकता का सिद्धान्त इसी परिकल्पना पर आधारित है कि प्रकाश का वेग उत्कृष्टतम वेग है। इससे अति वेग किसी भी पदार्थ का नहीं हो सकता। यदि जैन दर्शन के दृष्टिकोण से इस प्रश्न को देखा जाये तो संभव प्रतीत होता है कि यह परिकल्पना अयथार्थ हो। जैन दर्शन में जीव और पुद्गल—दोनों को गतिमान माना है। जीव की गति भी दो प्रकार की कही जा सकती है—

1. आकाश में स्थानान्तर अर्थात् आकाश के एक भाग से दूसरे भाग में गमन।
2. एक ही स्थान में रहते हुए भी दूरस्थ पदार्थों का बाह्य साधनों की सहायता बिना ज्ञान कर लेना।

जब जीव मृत्यु के बाद दूसरे जन्म को प्राप्त होता है या मुक्त दश को प्राप्त होता है तब प्रथम प्रकार की गति होती है। दूसरे प्रकार की गति स्थानान्तर की गति नहीं है, पर इसमें जीव (आत्मा) दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान (ग्रहण) कर लेता है। अतीन्द्रिय ज्ञान (केवलज्ञान या अवधिज्ञान या मनःपर्यवज्ञान) की क्षमता जागृत होने पर जो प्रत्यक्ष ग्रहण होता है उसमें जीव (द्रष्टा) पदार्थ को एक समय में ही ग्रहण कर लेता है। इन गतियों में जो वेग होता है, वह प्रकाश के वेग से भी अत्यधिक हो सकता है। स्थानान्तर में जीव (मृत्यु और दूसरे जन्म के बीच) उत्कृष्टतया एक समय में रज्जुओं का अन्तर भी तय कर सकता है। अतीन्द्रिय ज्ञान में भी आत्मा एक समय में रज्जुओं के स्थित पदार्थों का ज्ञान कर लेती है। केवलज्ञान एक समय में लोकालोक को सम्पूर्णतः जान लेता है।

यह तो जीव के उत्कृष्टतम वेग की शून्यता है। पुद्गल भी आश्चर्यजनक वेग से गति करने में समर्थ होते हैं। पुद्गल की चरम इकाई परमाणु है, जो एक समय में समग्र लोक की ऊँचाई (14 रज्जु) को पार कर सकता है। यह परमाणु की उत्कृष्टतम गति मानी गई है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार भी यह वेग संभव हो सकता है यदि पदार्थ की संहति-‘शून्य’ हो। जैन दर्शन भी परमाणु को संहति-शून्य स्वीकार करता है।

जैन दर्शन के अनुसार ‘संहति’ (लघुत्व-गुरुत्व) पुद्गल का मूलभूत गुण नहीं है। अतः शून्य संहति वाले पदार्थ का वेग यदि प्रकाश के वेग से भी अधिक हो जाये तो आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार भी असंभव नहीं है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से तो यह संभव माना जा सकता है कि प्रकाश का वेग ही उत्कृष्टतम वेग है, ऐसा कहना अयथार्थ होगा।

आधुनिक युग में अन्तरिक्ष-यात्रा संबंधी आविष्कारों की वृद्धि के साथ-साथ वैज्ञानिकों की कल्पना में प्रकाश के वेग की सीमा को पार करने की बात भी आई है। अन्तरिक्ष-यात्रा से संबंधित एक उच्चस्तरीय वैज्ञानिक पुस्तक के लेखक आर्थर क्लार्क ने अपनी पुस्तक के अन्त में इस सम्भावना को प्रकट करते हुये लिखा है— “क्या यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि प्रकाश के वेग को कभी भी लाँचा जा सकेगा? आपेक्षिकता का सिद्धान्त जो कुछ भी हो, आखिर तो एक सिद्धान्त ही है। जैसे न्यूटन का ‘गुरुत्वाकर्षण का नियम’ जो स्वयं शताब्दियों तक अखण्डित रहा था और पूर्णतः सही माना जाता था, इसके द्वारा परिशोधित हुआ था, वैसे ही क्या एक दिन यह सिद्धान्त भी परिशोधित नहीं हो जायेगा?

“इस प्रश्न का उत्तर देने का कोई भी प्रयास हमें दर्शन के गहरे पानी में उतार देगा तथा आकाश और काल के मौलिक स्वरूप विषयक विचारों को छूने वाला होगा।” (दी एस्टिमेशन ऑफ स्पेस, पृ. 175) इस प्रकार के उद्धरण से यह संभावना पुष्ट हो जाती है कि प्रकाश-वेग का उल्लंघन असंभव नहीं है और यदि यह संभावना सत्य सिद्ध हो जाती है तो आपेक्षिकता का सिद्धान्त जिस नींव पर खड़ा है, वह नींव ही ढह जाती है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त की सत्यता की कसौटी सम्भवतः तब हो सकेगी, जब स्थूल विश्व (मैक्रोकोस्मोस) के नियमों की समीचीनता सूक्ष्म विश्व (माइक्रोकोस्मोस) में भी यथावत् सिद्ध हो जायेगी। तब तक सूक्ष्म विश्व विषयक विज्ञान की ज्ञानराशि अत्यधिक अल्प है, ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक नियमों की सत्यता के विषय में अन्तिम रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं माना जा सकता।

7.15.2 कालचक्र और परिवर्तनशील विश्व

आधुनिक विज्ञान में विश्व का मूल अस्तित्व काल की अपेक्षा से 'अनादि' 'अनन्त' स्वीकृत है, यह तथ्य आइन्स्टीन के विश्व-सिद्धान्त से स्पष्ट है। "आइन्स्टीन के वेलनाकार (Cylindrical) विश्व-सिद्धान्त के अनुसार विश्व की आदि भी नहीं है, अन्त भी नहीं है।" (कोस्मोलोजी ऑल्ट एण्ड एण्डन्यू, पृ. 123) इसी प्रकार प्रो. एन. आर. सेन लिखते हैं—“विश्व का आकार वेलनाकार है, जिसकी बाह्य सतह उस दिशा में तो सीमित है, जिसमें रेखाओं के द्वारा वेलनाकार की उत्पत्ति हुई है। यह सीमित विमिति विश्व-वेलन की तीन आकाशीय विमितियों को सूचित करती है। किन्तु वेलन अन्य दो विमितियों से अनन्त है। उसी तरह विश्व भी काल-विमिति में अनन्त है अर्थात् काल की दृष्टि से वह अनन्त भूत से अनन्त भविष्य तक रहता है।” (Proceedings of the physics Seminar, University of Allahabad, 1925) इस प्रकार जहाँ तक विश्व के मूल अस्तित्व का संबंध है, दोनों ही (जैन दर्शन और विज्ञान) काल की दृष्टि से उसे अनादि-अनन्त निरूपित करते हैं।

विश्व में घटित होने वाले परिवर्तन या परिणमन की व्याख्या विज्ञान के क्षेत्र में प्रस्तुत विभिन्न विश्व-सिद्धान्त भिन्न-भिन्न रूप से प्रस्तुत करते हैं, फिर भी विश्व की प्रकृति में आने वाले आरोह-अवरोह, विस्तार-संकोच, विकास-ह्रास को काल के साथ घटित होने की बात सर्वत्र स्वीकृत है। जैन दर्शन का कालचक्रीय विश्व-सिद्धान्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी चक्रार्थों के द्वारा विश्व-परिणमन की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस विषय की विस्तृत चर्चा 'लोकवाद की समीक्षा' पाठ के अन्तर्गत है।

7.15.3 काल के सूक्ष्मतम एवं स्थूलतम मान

सूक्ष्म-जगत् (Microcosmos) की प्रक्रियाओं के अध्ययन में आधुनिक विज्ञान जिन सूक्ष्म काल-मानों का प्रयोग कर रहा है, वह सामान्य प्रक्रियाओं में लगने वाले काल से बहुत ही अधिक सूक्ष्म है। पौद्गलिक प्रक्रियाओं में जो परमाणु-जगत् के पारस्परिक अभिक्रियाएं (Reactions) आदि हैं, उनमें एक सैकण्ड के अरबवें-खरबवें हिस्से तक का समय वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा अंकित किया जा रहा है। यह विकास क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। 'पुद्गल' के विषय में हम देखेंगे कि कहां तक आधुनिक विज्ञान इस दिशा में आगे बढ़ा है। सैद्धान्तिक एवं गणितीय गणनाओं में तो 10^{-30} सैकण्ड तक की कालावधि की चर्चाएं हमें उपलब्ध हो रही हैं।

जैन दर्शन ने आवलिका, आवलिका के संख्यातवें, असंख्यातवें भाग तथा अन्ततो गत्वा 'समय' की चर्चा द्वारा काल की सूक्ष्मतम इकाई तक की गणना को प्रस्तुत किया है। जैन तत्त्व-ज्ञान में स्थान-स्थान पर इन सूक्ष्मावधि में घटित होने वाली घटनाओं का विवेचन आधुनिक विज्ञान की नव्य प्रक्रियाओं की तुलना में बहुत अधिक सूक्ष्म है। इससे जैन दार्शनिकों के समय-बोध की सूक्ष्म यात्रा का जो संकेत मिलता है, वह अन्तःदर्शन (Intuition) की सूक्ष्म पैठ को उजागर करती है।

7.16 सारांश

जैसे सूक्ष्म जगत् में 'समय' आवलिका का असंख्यातवां हिस्सा है, वैसे स्थूल जगत् (Macrocosmos) में पल्योपम, सागरोपम, कालचक्र आदि असंख्यात् वर्षों के कालमान हैं। आधुनिक विज्ञान में प्रचलित विश्व सिद्धान्तों में अब तक केवल कुछ संख्यात् वर्षों तक के ही कालमान प्रयोग में आ रहे हैं। इस प्रकार जैन दर्शन सूक्ष्मजगत् और स्थूलजगत् दोनों के कालमानों को जितनी गहराई तक प्रयुक्त करता है, उतनी गहराई का केवल एक बहुत छोटा अंश ही विज्ञान जान सका है। क्षेत्र मानों में असंख्यात योजनों वाले रज्जु जैसे दीर्घमान भी विज्ञान के प्रकाश वर्षों की तुलना में अत्यधिक दैर्घ्य रखते हैं। इस प्रकार क्षेत्र (Space) और काल (Time)—दोनों का अवगाहन करने में जैन दर्शन अग्रणी रहा है।

7.17 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में 'काल' के स्वरूप के विषय में जो मतभेद हैं, उसे स्पष्ट रूप से विवेचित करते हुए काल के उपकारों का विस्तृत वर्णन करें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

(क) 'समय' किसे कहते हैं? उसकी सूक्ष्मता को उदाहरणों से स्पष्ट करें।

(ख) आपेक्षिकता के सिद्धान्त के पश्चात् 'काल' की वैज्ञानिक अवधारणा का तद् विषयक जैन अवधारणा के साथ तुलना करते हुए समीक्षा करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(क) रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. काल द्रव्य है।
2. की गति सीमति होने से आकाश और काल परस्पर जुड़ते हैं, ऐसा आपेक्षिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन है।
3. न्यूटन ने काल का अस्तित्व स्वीकार किया था।
4. का एक सागरोपम होता है।
5. श्वेताम्बरों ने व्यावहारिक काल को तक सीमित माना है।

(ख) निम्नलिखित कथन सही है या गलत; यदि गलत है तो सही लिखें—

1. काल सप्रदेशी है।
2. समय व्यावहारिक काल है।
3. कालाणु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान है।
4. पल्योपम के तीन भेद (श्वेताम्बरों ने) माने हैं।
5. वैशेषिक काल को सर्वव्यापी मानते हैं।

☆☆☆

संवर्ग-4 : जीव, षडजीव निकाय

इकाई-8 : जीवास्तिकाय

संरचना

- 8.0 प्रस्तावना
- 8.1 उद्देश्य
- 8.2 जीव-व्युत्पत्ति अर्थ एवं पर्याय
 - 8.2.1 जीव विहार
- 8.3 विभिन्न दर्शनों में आत्मा (जीव)
 - 8.3.1 वेद
 - 8.3.2 उपनिषदों में आत्मा
 - 8.3.3 सांख्य दर्शन
 - 8.3.4 न्याय दर्शन
 - 8.3.5 वेदान्त दर्शन
 - 8.3.6 बौद्धदर्शन
 - 8.3.7 जैन दर्शन में जीव (आत्मा)
- 8.4 जीव का लक्षण
 - 8.4.1 आत्मा अमूर्त है
 - 8.4.2 कर्ता और भोक्ता
 - 8.4.3 जीव का प्रदेश परिमाण
 - 8.4.4 जीव का आश्रय क्षेत्र
 - 8.4.5 आत्मा की नित्यता अनित्यता
 - 8.4.6 सिद्ध स्वरूप
 - 8.4.7 संसारस्थ जीव
 - 8.4.8 जीव के प्रकार
- 8.5 जीवों के भेद
 - 8.5.1 एकविध जीव
 - 8.5.2 द्विविध जीव
 - 8.5.3 वेद की अपेक्षा
 - 8.5.4 चतुर्विध जीव
 - 8.5.5 पंचविध जीव
 - 8.5.6 षड्विध जीव
 - 8.5.7 चतुर्दश विध जीव
 - 8.5.8 पांच सौ त्रैसठ भेद
 - 8.5.9 मनुष्य के तीन सौ तीन भेद
- 8.6 सारांश
- 8.7 अभ्यास प्रश्नावली

8.0 प्रश्नावली

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। इसलिए इस दर्शन में मूल तत्त्व दो माने गए हैं—जीव और अजीव। पंचास्तिकाय इन दो का विस्तार है। जीव और अजीव को सांख्य आदि द्वैतवादी दर्शन भी मानते हैं। किन्तु

अस्तिकाय का सिद्धान्त भगवान् महावीर का सर्वथा मौलिक सिद्धान्त है। जीव की तुलना सांख्य सम्मत पुरुष से की जा सकती है तथा पुद्गल की तुलना सांख्य सम्मत प्रकृति से। आकाश प्रायः सभी दर्शनों में सम्मत है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो तत्त्व अन्य किसी दर्शन में प्रतिपादित नहीं हैं। द्रव्य शब्द का प्रयोग वैशेषिक दर्शन में मिलता है। किन्तु अस्तिकाय का प्रयोग अन्य किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं है। यह 'अस्तित्व' का वाचक शब्द है। वेदान्त में जैसे ब्रह्म का निरपेक्ष अस्तित्व है, वैसे ही जैन दर्शन में इन पांच का निरपेक्ष अस्तित्व है। जैसे पुद्गल के परमाणु होते हैं वैसे ही शेष चार अस्तिकायों के भी परमाणु होते हैं। उनके परमाणु पृथक्-पृथक् नहीं होते, वे सदा अपृथक् रहते हैं, इसलिए वे प्रदेश कहलाते हैं। अस्तिकाय को प्रदेशात्मक बतलाकर भगवान् महावीर ने उसके स्वरूप को एक नया आयाम दिया है।

भगवती भाष्य (पृ. 292) में अस्तिकाय का अर्थ है—परमाणु या परमाणु स्कन्ध।

जैन सिद्धान्त दीपिका में अस्तिकाय को परिभाषित करते हुए कहा गया—अस्ति का अर्थ है प्रदेश और काय का अर्थ है समूह अर्थात् प्रदेश समूह को अस्तिकाय कहते हैं। जैन दर्शन में छः द्रव्य की अवधारणा रही है। छः द्रव्यों में से पांच द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है। काल द्रव्य को अस्तिकाय नहीं कहा है क्योंकि काल क्षणवर्ती होता है अर्थात् इसका अतीत और भविष्य नहीं होता। अतः इसे अस्तिकाय नहीं कहा गया।

8.1 उद्देश्य

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये पांच द्रव्य हैं। मूलतः धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पांच शब्द हैं। इन सबके पीछे अस्तिकाय जुड़ा है। इस प्रकार ये पंचास्तिकाय हैं। प्रस्तुत पाठ में हमें केवल जीवास्तिकाय का ही विवेचन करना है फिर भी धर्मास्तिकाय आदि की संक्षिप्त जानकारी यहां आवश्यक है।

1. **धर्मास्तिकाय**—जीव और पुद्गलों की गति में उदासीन भाव से अनन्य सहायक होने वाले द्रव्य का नाम है धर्मास्तिकाय।
2. **अधर्मास्तिकाय**—जीव और पुद्गलों की स्थिति में उदासीन भाव से अनन्य सहायक होने वाले द्रव्य को अधर्मास्तिकाय कहते हैं।
3. **आकाशास्तिकाय**—आकाश को सभी दर्शन और दार्शनिक मानते हैं। कोई भी ऐसा दर्शन या मत नहीं जो आकाश के अस्तित्व को नकारता हो। अवगाह देने वाले द्रव्य को आकाश कहते हैं। संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थों को आश्रय देने वाला तत्त्व आकाश ही है।
4. **पुद्गलास्तिकाय**—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण युक्त द्रव्य पुद्गल है। यह जैन दर्शन का परिभाषिक शब्द है।
5. **जीवास्तिकाय**—गहराई से चिन्तन करे तो जीव जीवास्तिकाय में कुछ अंतर अवश्य प्रतीत होता है। जीव अर्थात् जिसमें चेतना है वह जीव है। किन्तु जीवास्तिकाय से तात्पर्य है सम्पूर्ण जीवों का समूह।

8.2 जीव—व्युत्पत्ति अर्थ एवं पर्याय

भ्वादिगणोय 'जीवप्राणधारणे' धातु से 'बाहुलकात्' सूत्र द्वारा भाव में घञ् प्रत्यय करने पर जीव शब्द निष्पन्न होता है। 'जीवनम् इति जीवः' अर्थात् जीवन या प्राण धारण को जीव कहते हैं।

जैन वाङ्मय में जीव के अनेक पर्याय नामों का निर्देश मिलता है। भगवती सूत्र में जीव, प्राण, भूत, सत्त्व, विज्ञ, वेत्ता, चेता, जेता, आत्मा आदि अनेक नामों का निर्देश है। भवलाकार ने भी जीव के पर्याय शब्दों का उल्लेख किया है—जीव कर्त्ता, भोक्ता आदि। महापुराण में अनेक जीवार्थक शब्द बताये गये हैं—जीव, प्राणी, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, अन्तर्आत्मा, ज्ञानी।

8.2.1 जीव विचार

'जीव' शब्द भारतीय दर्शनों में आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस संदर्भ में देखें तो प्रायः सभी दर्शनों के उद्भव में आत्म-जिज्ञासा अथवा बहुविषयक दुःख मुक्ति मुख्य कारण बना। परिणामतः आत्म-विश्लेषण इन दर्शनों का केन्द्रीय तत्त्व रहा तथा इसी के परिपार्श्व में विश्व स्वरूप का भी चिन्तन

किया गया। चार्वाक दर्शन नास्तिक दर्शन अवश्य प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः उसमें आत्म विचार की पूर्णतः उपेक्षा नहीं है, केवल चेतना का स्वरूप विषयक मतभेद ही वहां परिलक्षित होता है। चार्वाक को आत्मवादी दर्शन कहा जाता है। पर वह आत्मा को मौलिक तत्त्व नहीं मानता। वह आत्म तत्त्व की उत्पत्ति इतर दार्शनिकों से भिन्न रूप में स्वीकार करता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु चेतन तत्त्व रहा है। उसे आत्मा, जीव आदि नामों के द्वारा अभिहित किया गया है।

8.3 विभिन्न दर्शनों में आत्मा—(जीव)

8.3.1 वेद

ऋग्वेद के एक ऋषि के उद्गार से प्रतीत होता है कि उसके हृदय में आत्मा के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उसकी इस जिज्ञासा में उत्कृष्ट वेदना का अनुभव स्पष्ट मालूम होता है। वह ऋषि पुकारकर कहता है 'यह मैं कौन हूँ अथवा कैसा हूँ' मुझे इसका पता नहीं चलता। वेदों में स्पष्ट रूप से आत्मा का चिन्तन उपलब्ध नहीं होता। वेद दार्शनिक ग्रंथ नहीं है। दार्शनिक चिन्तन उपनिषदों से शुरु हुआ।

8.3.2 उपनिषदों में आत्मा

आत्म विचारणा के क्रमिक सोपान हमें उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में जहां स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर आत्म स्वरूप का क्रमशः वर्णन किया गया है। इसमें सबसे पहले अन्नमय आत्मा का परिचय दिया गया है। और कहा गया है कि अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुई है, उसकी वृद्धि भी अन्न से होती है और वह अन्न में ही विलीन हो जाती है। अतः यह पुरुष अन्न रसमय है। देह को आत्मा मानकर यह विचार हुआ है। उपनिषद् के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण, मन से भिन्न, विभु, व्यापक और अपरिणामी है। वह वाणी द्वारा अगम्य है। उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा बताया गया है। वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न प्राण है, न मुख है, न अंतर है, न बाहर है।

8.3.3 सांख्य दर्शन

सांख्य आत्मा को नित्य, निष्क्रिय, संकट एवं चिद् स्वरूप अमूर्त, चेतन, भोगी, अकर्ता, निर्गुण, सूक्ष्म मानता है। सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहा गया है। पुरुष का न बंधन होता है और न मोक्षा।

8.3.4 न्याय दर्शन

न्याय दर्शन में जीव शब्द नहीं मिलता। लेकिन आत्मा शब्द है, जो जीव का वाच्य है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान ये आत्मा के चिह्न हैं। इसके अनुसार आत्मा, नित्य और विभु है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं, आगंतुक धर्म है।

8.3.5 वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा एक है, किन्तु देहादि उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होती है। 'ब्रह्म बिन्दु' उपनिषद् में कहा गया—एक एव ही भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः। वेदान्त एकात्मवादी है।

8.3.6 बौद्धदर्शन

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। ये आत्मा के अस्तित्व को वस्तु सत्य नहीं काल्पनिक संज्ञा मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान और रूप के संघात संसार यात्रा के लिए काफी है। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नहीं है। आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर बुद्ध मौन रहे हैं। इसका कारण पूछने पर बुद्ध ने कहा—यदि मैं कहूँ आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी हो जाते हैं। यदि यह कहूँ कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए इन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूँ।

8.3.7 जैनदर्शन में जीव (आत्मा)

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला कर्ता और भोक्ता स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह परिमाण, न अणु, न विभु, किन्तु मध्यम परिमाण का है।

8.4 जीव का लक्षण

जीव जिसे आत्मा या चेतना भी कहते हैं, अनादि सिद्ध एक स्वतंत्र द्रव्य है। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता, पर स्वसंवेदन, प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि से उसका ज्ञान हो सकता है।

णाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।

नीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥ उत्तरा. 281

जीव का लक्षण उपयोग है। उत्तराध्ययन सूत्र में पहचान की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग को जीव का लक्षण कहा गया है। आचार्य उमास्वाति ने भी तत्त्वार्थसूत्र में उपयोग को जीव का लक्षण बताया है—‘उपयोगलक्षणो जीवः।’ पञ्चास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द ने यही लक्षण निरूपित किया है—‘उवओगलक्खणाय’ प्रश्न उपस्थित होता है—उपयोग किसे कहते हैं? आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में उपयोग को परिभाषित करते हुए कहा है—‘चेतनाव्यापारो उपयोगः’ अर्थात् चेतना का व्यापार उपयोग है। चेतना ज्ञानदर्शनात्मिका है। प्रत्येक जीव में ज्ञान-दर्शन उद्घाटित होते हैं। वे अति न्यून भी हो सकते हैं। ज्ञान-दर्शन का किञ्चित भी उद्घाटन न मानने पर जीव के भी अजीव होने की आपत्ति आ जाती है। जैसाकि नंदीसूत्र में कहा गया है—‘अक्खरस्स अणंतमो, भागो णिच्चुघाडिओ भवइ।’ सब जीवों के अक्षर के अनन्तवै भाग जितना ज्ञान तो नित्य उद्घाटित रहता है अन्यथा जीव और अजीव में कोई भेद नहीं हो सकता।

सांख्य भी पुरुष का स्वरूप चेतन मानता है।

‘न्याय वैशेषिक’ भी ज्ञान को जीव का गुण मानते हैं, किन्तु उनके अनुसार गुण और गुणी पृथक् है। इन दोनों में परस्पर समवाय संबंध है। अतः इनके मत में आत्मा ज्ञान स्वरूप नहीं है किन्तु उसमें ज्ञान गुण समवाय संबंध से रहता है इसलिए वह ज्ञानवान् कहलाता है।

आधुनिक विचारक डेकार्टे ने आत्मा को एक आध्यात्मिक तत्त्व माना है जिसका स्वाभाविक गुण है चिन्तन अथवा चेतना। इसका प्रसिद्ध सूत्र है मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ, इस प्रकार पाश्चात्य व पूर्वी सभी दार्शनिकों ने एकमत से आत्म स्वरूप में ज्ञान को स्वीकार किया है। उसके स्वरूप के विषय में अवश्य विप्रतिपत्ति देखी जाती है।

8.4.1 आत्मा अमूर्त है

जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, श्रवण है वह मूर्त है। जिसमें ये नहीं, वह अमूर्त होता है। जीव में ये सब नहीं होते इसलिए वह अमूर्त है। किन्तु निश्चय और व्यवहार की भूमिका पर जीव मूर्त व अमूर्त दोनों हैं। निश्चय नय से जीव में रस, गंध, रस आदि नहीं होते इसलिए वह अमूर्त है। परन्तु संसारी अवस्था में कर्मबद्ध होने के कारण व्यवहार नय से जीव मूर्त भी है। प्रायः सभी आत्मवादी दर्शन जीव को अमूर्त मानते हैं।

8.4.2 कर्ता और भोक्ता

जैन आगमों में जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन में कहा गया है—‘किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष नहीं होता।’ ‘दशवैकालिक’ में कहा गया है—पूर्व में किए हुए दुश्चर्मा कर्मों के वेदन से ही मोक्ष होता है। ये सारे प्रसंग जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व को प्रस्तुत करते हैं।

उपनिषदों में भी जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि यह जीवात्मा फल के लिए कर्मों का कर्ता है और किए हुए कर्मों का भोक्ता भी है। नैयायिक-वैशेषिक ने आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों धर्म स्वीकार किए हैं। यही नहीं परमात्मा में भी जगत् कर्तृत्व स्वीकार किया है। आत्म द्रव्य के नित्य होने पर भी उनमें ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का जो समवाय है उसी का नाम कर्तृत्व है। आत्मा में सुख और दुःख का जो अनुभव होता है उसे भोक्तृत्व कहा है। अनात्मवादी बौद्ध भी पुद्गल को कर्ता और भोक्ता मानते हैं। उनके मत में नाम रूप का समुदाय पुद्गल है। एक नाम रूप से दूसरा नाम रूप उत्पन्न होता है। जिस नाम रूप ने कर्म किया वह तो नष्ट हो जाता है किन्तु दूसरे नाम रूप की उत्पत्ति होती है और वह पूर्वोक्त कर्मों का भोक्ता होता है। इस प्रकार

संतति की अपेक्षा से पुद्गल में कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाए जाते हैं। सांख्यमत में कर्तृत्व प्रकृति में है और भोक्तृत्व पुरुष में।

8.4.3 जीव का प्रदेश परिमाण

धर्म, अधर्म आदि चार अजीव और जीव इन पांच द्रव्यों को तत्त्वार्थसूत्र में काय कहकर यह निर्दिष्ट किया गया है कि पांच द्रव्य अस्तिकाय अर्थात् प्रदेश प्रचयरूप हैं।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों द्रव्यों की तरह जीव द्रव्य के प्रदेश असंख्यात हैं। प्रदेश अर्थात् एक ऐसा सूक्ष्म अर्थ जिसके दूसरे अंश की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसे अविभाज्य सूक्ष्म को निरंश अंश भी कहते हैं। जीव द्रव्य एक ऐसा अखंड स्कन्ध रूप है जिसके असंख्यात अविभाज्य सूक्ष्म अंश केवल बुद्धि से कल्पित किये जा सकते हैं, वे वस्तुभूत स्कन्ध से पृथक् नहीं किये जा सकते।

8.4.3 जीव का आधार क्षेत्र

प्रश्न उठता है कि जीव द्रव्य का आधार क्षेत्र कम से कम और अधिक से अधिक कितना है? इसका उत्तर यह है कि एक जीव का आधार क्षेत्र लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश तक हो सकता है। यद्यपि लोकाकाश असंख्यात प्रदेश परिमाण है तथापि असंख्यात संख्या के भी असंख्यात प्रकार होने से लोकाकाश के ऐसे असंख्यात भागों की कल्पना की जा सकती है जो अंगुल के असंख्येय भाग परिमाण हो। इतना छोटा एक भाग भी असंख्यात प्रदेशात्मक ही होता है कोई एक जीव उस एक भाग में रह सकता है। इस प्रकार एक-एक भाग बढ़ते-बढ़ते अन्ततः सर्वलोक में भी एक जीव रह सकता है अर्थात् जीव द्रव्य का छोटे-से-छोटा आधार क्षेत्र अंगुल के असंख्येय भाग परिमाण होता है जो सम्प्र लोकाकाश का असंख्यातवां भाग है। किन्तु सर्व जीव सति की अपेक्षा से तो जीव तत्त्व का आधार क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश ही है।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की भांति जीव द्रव्य भी अमूर्त है फिर एक का परिमाण नहीं घटता-बढ़ता और दूसरे का घटता-बढ़ता है ऐसा क्यों? समाधान दिया गया कि इसका कारण स्वभाव भेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीव तत्त्व का स्वभाव निमित्त मिलने पर प्रदीप की तरह संकोच और विस्तार को प्राप्त करता है, जैसे खुले आकाश में रखे हुए प्रदीप के प्रकाश का कोई एक परिमाण होता है, पर कोठरी में उसका प्रकाश कोठरी भर ही बन जाता है। कुण्डे के नीचे रखने पर वह कुण्डे के नीचे के भाग को ही प्रकाशित करता है। लोटे के नीचे उसका प्रकाश उतना ही हो जाता है। जितने क्षेत्र में एक दीपक का प्रकाश फैलता है, तथा क्षेत्र में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है अर्थात् एक कमरे में एक दीपक जलाया जाए तो उसका प्रकाश सम्पूर्ण कमरे में फैलता है अगर हजारों दीपक भी एक साथ एक कमरे में जलाये जाय तब भी उसका प्रकाश एक कमरे में समा सकता है। इसी प्रकार जीव द्रव्य भी संकोच विकासशील है। वह जब जितना छोटा या बड़ा शरीर धारण करता है तब उस शरीर के परिमाणानुसार उसके परिमाण में संकोच-विकास हो जाता है।

बौद्धों ने भी पुद्गल को देहपरिमाण स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन में आत्मा को सर्वव्यापक माना है। वैशेषिक दर्शन में आत्मा को सर्वव्यापी माना है।

8.4.5 आत्मा की नित्यता अनित्यता

जैन दर्शन आत्मा को परिणामी नित्य स्वीकार करता है। महावीर ने तत्त्व का प्रतिपादन परिणामी नित्यवाद के आधार पर किया। महावीर से पूछा—आत्मा नित्य है या अनित्य? उन्होंने कहा—अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता, इस अपेक्षा से नित्य और परिणमन का क्रम कभी अवरूद्ध नहीं होता इस अपेक्षा से अनित्य है। समग्रता की भाषा में वह न नित्य है, न अनित्य किन्तु नित्यानित्य है।

वेदान्त ने ब्रह्मात्मा को एकान्त नित्य माना है किन्तु जीवात्मा के मत में अलग-अलग मन्तव्य हैं। शंकराचार्य को छोड़कर लगभग सभी वेदान्ती ब्रह्म का विवर्त न मानकर जीवात्मा को परिणामी नित्य माना है। मीमांसक भी जैन की भांति आत्मा को परिणामी नित्य मानता है।

सांख्य और योग आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं, वे किसी भी प्रकार का परिणमन या विकार स्वीकार नहीं करते। संसार और मोक्ष भी आत्मा के नहीं बल्कि प्रकृति के स्वीकार करते हैं। सुख-दुःख ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

अतः योग और सांख्य आत्मा को सर्वथा अपरिणामी स्वीकार करते हैं।

नैयायिक-वैशेषिक आत्मा को नित्य मानते हैं।

आत्म तत्त्व की दो स्थितियाँ जैन दर्शन में सर्वदा मान्य रही हैं। वे हैं उसका विशुद्ध और पुद्गल संयुक्त स्वरूप। जिन्हें क्रमशः सिद्ध और संसारस्थ स्वरूप भी कहा जाता है।

8.4.6 सिद्ध स्वरूप

सकल कर्मों से मुक्त जीव को सिद्ध कहते हैं। अष्ट कर्मों का क्षय होने से सिद्धों में आठ गुण प्रकट होते हैं। जैसे—ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है, जिससे सिद्ध भगवान् सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानते हैं। दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने से अनंत केवल दर्शन प्रकट होता है, वेदनीय कर्म का क्षय होने से निराबाध गुण असंवेदन प्रकट होता है। मोहनीय कर्म नष्ट होने से आत्मरमण करते हैं। आयुष्य कर्म क्षीण होने से सर्वदा अजर अमर हो जाते हैं। नाम कर्म का नाश होने से अमूर्तिक गुण प्रकट होता है। अगुरुलघु गोत्र कर्म क्षीण होने से सब अपलक्षणों से रहित हो जाते हैं। अन्तराय कर्म क्षीण होने से क्षायिक लब्धि प्राप्त होती है। सिद्ध लोक के अग्रभाग पर स्थित है। अतः लोक के अग्रभाग को सिद्ध क्षेत्र और सिद्ध शिला कहते हैं।

8.4.7 संसारस्थ जीव

अष्ट कर्मों से युक्त जीव संसारी कहलाता है। यद्यपि आत्मा अमूर्त है, किन्तु संसारी जीव (आत्मा) कर्म सहित है इसलिए कथंचित् मूर्त भी है। अतः मूर्त आत्मा मूर्त कर्मों का निरन्तर ग्रहण करती है।

जीवास्तिकाय के लक्षण और स्वरूप का प्रतिपादन विभिन्न दृष्टियों से किया जाता है। कर्म और अकर्म के आधार पर ही जीव को संसारी और सिद्ध कहा जाता है। वस्तुतः जीव तो जीव है वह न तो संसारी है और न सिद्ध। संसारी और सिद्ध ये जीव के पर्याय विशेष हैं।

जैन दर्शन आत्माओं को अनन्त मानता है। अतः अनेक पद्धतियों से अनेक आत्माओं का स्वरूप प्रतिपादित किया जा रहा है।

8.4.8 जीव के प्रकार

संसार में अनंतानंत जीव हैं तथा ये जीव अनेक रूपों में विभक्त हैं। यदि हम अब्ध्यात्म की दृष्टि से विचार करें तो जीव के दो प्रकार हैं—संसारी और सिद्ध।

तत्त्वार्थ सूत्र में भगवान् उमास्वाति ने जीव के दो प्रकार बताते हुए कहा है “संसारिणो मुक्ताश्च” अर्थात् जो संसार रूप पर्याय सहित है वे संसारी जीव तथा जो संसार रूप पर्याय से रहित है वे सिद्ध कहलाते हैं। जीव के दो प्रकार पञ्चास्तिकाय, नयच्छ्र, जीवाजीवाभिगम, बृहद्रव्यसंग्रह, जैन सिद्धान्त दीपिका आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

सिद्ध वर्तमान भाव में एक रूप, अभेद रूप होने से उनके भेद-प्रभेद सम्भव नहीं है। संसारस्थ जीव कर्मोपधि के कारण नाना रूपात्मक हैं अतः भेद की चर्चा संसारी जीवों के सन्दर्भ में ही की जा रही है।

8.5 जीवों के भेद

8.5.1 एकविध जीव

चेतना गुण की अपेक्षा से जीव का भेद एक है। चेतना गुण जीव का असाधारण धर्म है, जीव मात्र का यह लक्षण है। संग्रह नय की दृष्टि से जिसमें चेतना है, वह जीव है।

8.5.2 द्विविध जीव

जीव के दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। जिस जीव के त्रस नाम कर्म का उदय हो वह त्रस जीव और जिसके स्थावर नाम कर्म का उदय हो वह स्थावर जीव। त्रस के दो भेद हैं—गति और लब्धि त्रस।

गति त्रस के दो भेद हैं—तेजस्काय और वायुकाय। लब्धि त्रस के चार भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय। स्थावर के तीन भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय।

8.5.3 वेद की अपेक्षा तीन भेद

पुरुष वेद, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद। संसारी जीवों में इन तीन वेदों में से एक न एक वेद अवश्य ही होता है।

8.5.4 चतुर्विध जीव

गति की अपेक्षा जीव के चार प्रकार हैं—नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव।

8.5.5 पंचविध जीव

इन्द्रिय की अपेक्षा जीव पांच प्रकार के हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

8.5.6 षड्विध जीव

काय की अपेक्षा संसारी जीव के छह भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।

8.5.7 चतुर्दश विध जीव

किसी अपेक्षा से जीव के 14 भेद भी हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीव के चार भेद। पंचेन्द्रिय जीव के चार भेद और विकलेन्द्रिय जीव के छह भेद।

8.5.8 पांच सौ त्रैसठ भेद

नरक भूमि सात हैं। सात नरकों में रहने वाले सात नारक जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से चौदह भेद होते हैं।

तिर्यच जीवों के अड़तालीस भेद—एकेन्द्रिय के बारह भेद, विकलेन्द्रिय के छह भेद और तिर्यच पंचेन्द्रिय के 20 भेद, कुल 48 हैं।

8.5.9 मनुष्य के तीन सौ तीन भेद

कर्मभूमि के मनुष्य पंद्रह, भोग भूमि के मनुष्य तीस और अन्तर द्वीपों के मनुष्य छप्पन। सब मिलाकर गर्भज मनुष्य के एक सौ एक भेद हुए।

एक सौ एक के पर्याप्त एवं अपर्याप्त रूप से दो सौ दो भेद हुए। इनमें समूर्च्छित मनुष्य के तीन सौ तीन भेद होते हैं। देव के एक सौ अठानवें भेद इस प्रकार हैं—भवनपति के दश भेद, परमाधार्मिक के पंद्रह भेद, व्यन्तर एवं वानव्यन्तर के सोलह भेद, तिर्यग् जृम्भक के दश भेद, ज्योतिष्क के दश भेद, वैमानिक के बारह भेद, कित्त्वधिक के तीन भेद, लोकांतिक के नव भेद, ग्रैवेयक के नव भेद, अनुत्तर के पांच भेद, सब मिलाकर नित्यानवें होते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से एक सौ अठानवें भेद होते हैं।

नारक	- 14
तिर्यच	- 48
मनुष्य	- 303
देव	- 198

8.6 सारांश

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन का जीव विज्ञान विस्तृत गहन और गम्भीर है। अन्य दर्शनों में जीवास्तिकाय का इतना गम्भीर विवेचन उपलब्ध नहीं होता। जीव एवं आत्मा के स्वरूप का जितना विस्तार तथा भेद एवं प्रभेद जैन दर्शन में है, उतना अन्य किसी भी दर्शन में नहीं किया गया है। जीव का जघन्य एक भेद, मध्यम चौदह भेद और विस्तार से पांच सौ त्रैसठ भेद होते हैं।

जीवास्तिकाय का विवेचन हमने यहां संक्षेप में किया है। इसका विस्तार से विवेचन पढ़ना चाहे तो आप जैन दर्शन-मनन मीमांसा, आत्ममीमांसा, जैन सिद्धान्त दीपिका आदि ग्रंथों में पढ़ सकते हैं।

8.7 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जीवास्तिकाय को पारिभाषित करते हुए उसके भेद, प्रभेदों की व्याख्या करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जीव द्रव्य का कम से कम व अधिक से अधिक आधार क्षेत्र कितना है?
2. विभिन्न दर्शनों में जीव की अवधारणा क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जीव का लक्षण है—
(क) चेतना (ख) स्वसंवेदन (ग) उपयोग
2. भगवती भाष्य के अनुसार अस्तिकाय का अर्थ है—
(क) समूह (ख) स्कन्ध (ग) प्रदेश (घ) परमाणु स्कन्ध
3. जीव के नामों का उल्लेख है वह सूत्र है—
(क) उत्तराख्ययन (ख) भगवती (ग) दसवेआलियं
4. जीव के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद हैं—
(क) पांच (ख) चौदह (ग) एक (घ) 60 (च) पांच सौ त्रेसठ
5. अष्ट कर्मों का क्षय होने से सिद्धों में गुण प्रकट होते हैं—
(क) 4 (ख) 6 (ग) 8
6. वेद की अपेक्षा से जीव के भेद हैं—
(क) तीन (ख) पांच (ग) दो
7. जीव जीवास्तिकाय में अंतर हैं—
(क) उपयोग (ख) चेतना (ग) गुण समूह (घ) सम्पूर्ण जीवों का समूह
8. उपनिषदों में आत्मा का परिचय दिया गया है—
(क) प्राणमय (ख) धर्ममय (ग) अन्नमय
9. त्रस नाम कर्म का उदय हो वह जीव है—
(क) सूक्ष्म (ख) स्थावर (ग) बादर (घ) त्रस
10. धर्म, अधर्म आदि चार अजीव और जीव इन पांच द्रव्यों का तत्त्वार्थसूत्र में काय कहकर निर्दिष्ट किया गया है वह है—
(क) समूह (ख) अनस्तिकाय (ग) समवाय (घ) अस्तिकाय

☆☆☆

इकाई-9 : षट्जीवनिकाय

संरचना

- 9.0 प्रस्तावना
- 9.1 उद्देश्य
- 9.2 तत्त्व विवेचन
- 9.3 द्रव्यों के प्रकार
 - 9.3.1 जीव तत्त्व
 - 9.3.2 जीवों का वर्गीकरण
 - 9.3.3 जीवों के अपेक्षाकृत भेद
- 9.4 षट्जीवनिकाय की अवधारणा
- 9.5 षट्जीवनिकाय का अर्थ और स्वरूप
 - 9.5.1 अर्थ
- 9.6 षट्जीवनिकाय
 - 9.6.1 पृथ्वीकायिक जीव
 - 9.6.2 अपृथ्वीकायिक जीव
 - 9.6.3 तेजस्कायिक जीव
 - 9.6.4 वायुकायिक जीव
 - 9.6.5 वनस्पतिकायिक जीव
 - 9.6.6 त्रसकायिकजीव
- 9.7 षट्काय जीव एवं पर्याप्ति
- 9.8 षट्काय जीव एवंमार्गणा निर्देश
- 9.9 सारांश
- 9.10 अभ्यास प्रश्नावली

9.0 प्रश्नावली

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन के पाठ्यक्रम में तत्त्व-मीमांसा एक प्रमुख अंग है। जैन दर्शन की रीढ़ के रूप में तत्त्व-मीमांसा को स्वीकार किया जाता है। इसी इकाई के पाठ 10 में आपको जीव तत्त्व के स्वरूप के संबंध में विषय-विवेचन कराया गया था। जीवास्तिकाय के स्वरूप के बाद उसके भेदों पर चर्चा करना अनिवार्य हो जाता है। अतः इस पाठ में जैन दर्शन में मान्य जीवों के छह भेदों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। इसे जैन दर्शन में 'षट्जीवनिकाय' कहा जाता है।

9.1 उद्देश्य - इसके अध्ययन से षट्जीव निकाय सम्यक् ज्ञान हो सकेगा।

9.2 तत्त्व-विवेचन

समस्त भारतीय संस्कृति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आत्म-दर्शन की सत्ता का विवेचन किया गया है। हमारे समग्र जीवन-चक्र का केन्द्र आत्मा ही है। सृष्टि के संचालन एवं नियमन में आत्म-तत्त्व का विशेष महत्त्व है। समस्त दर्शनों का मुख्य ध्येय-बिन्दु है—आत्मा। आत्म तत्त्व के विश्लेषण, स्वरूप-प्रतिपादन आदि पर गहराई से विचार-विमर्श किया जाता रहा है, जिसके आधार पर आत्मा को एक तत्त्व माना गया है। तत्त्व वह है, जो पदार्थ जिस रूप में विद्यमान है, उसका उस रूप में होना—“तस्य भावः तत्त्वं”। जैन दर्शन में तत्त्व के अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित हैं, जो “सतद्रव्यं वा” (भग. 8/9) के आधार पर त्रैकालिक सत्ता वाले स्वीकार किये गये हैं। क्योंकि द्रव्य की त्रैकालिक सत्ता जैन दर्शन में स्वीकार है। अतः द्रव्य, तत्त्व, सत्, तत्त्वार्थ, पदार्थ आदि एकार्थक हैं।

9.3 द्रव्यों के प्रकार

द्रव्य दो प्रकार के हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। जीव-द्रव्य में जीवास्तिकाय को लिया जाता है तथा अजीव-द्रव्य में जीव से इतर सभी समाहित हैं। जीव, पुद्गल-काय, धर्म, अधर्म और आकाश—ये (पांच अस्तिकाय) अपने-अपने अस्तित्व में नियत हैं तथा प्रदेश-प्रचय रूप हैं। द्रव्यों के मुख्य दो प्रकारों में यहाँ जीव द्रव्य के भेदों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

9.3.1 जीव तत्त्व

अध्यात्म का सीधा संबंध आत्मा से है। आत्मा को जानना, देखना और पाना यही उसका आदि, मध्य और अंत है। आचारंग (1/3/4/123) में कहा गया है कि जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है। पुनः (1.1.7.57 में)

9.3.2 जीवों का वर्गीकरण

जीव अनन्त हैं। किन्तु व्यवहार रूप में जीवों के मुख्य दो स्तर प्राप्त होते हैं। प्रथम संसारी जीव तथा द्वितीय मुक्त या सिद्ध जीव। संसारी एवं सिद्ध जीव अनन्त हैं, क्योंकि अनन्त काल से जीव संसारस्थ व सिद्ध होते रहे हैं। इसके लिए आचार्यों ने समझाने का प्रयास किया है। अलग-अलग अपेक्षाओं से जीव के भेद किए गए हैं। संक्षेप की अपेक्षा से जीव का एक भेद और विस्तार की अपेक्षा से जीव के 563 भेद हैं जबकि मध्यम रूप से जीव के दो, पांच, छह एवं चौदह भेद भी किए जाते हैं।

9.3.3 जीवों के अपेक्षाकृत भेद

यह पूर्व में ही कह दिया गया है कि जीव के संसारी और मुक्त या सिद्ध ये दो भेद प्रमुखता से किये जाते हैं। किन्तु संसार व्यवस्था में जीवों के साथ हमारा संबंध अनेक विधियों में होता है। जिस अपेक्षा विशेष से हम जीव का संबंध स्थापित कर सकते हैं उनका संक्षेप में यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है—

1. चेतनागुण की अपेक्षा से जीव का एक भेद है। चेतना गुण जीव का असाधारण धर्म है, क्योंकि यह सर्वजीवों में विद्यमान है। चेतना के तीन भेद कहे गये हैं—ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना और कर्मफल चेतना।
2. त्रस और स्थावर—जीवों के ये दो भेद भी संसारस्थ जीवों की अपेक्षा से किये जाते हैं। षड्जीवनिकाय में इन्हीं दोनों प्रकार के जीवों का विस्तार पाया जाता है। स्थावर जीवों का भेद क्रिया एवं कर्म-उदय की अपेक्षा से किया गया है। जीवों में गति की योग्यता नहीं होती।
3. जीवों में काम-भोग की अभिलाषा/इच्छा वेद कहलाती है। संसारी जीव वेद रहित नहीं होते। अतः पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ये तीन भेद जीवों के किये गए हैं।
4. जीवों में गति (भवसंक्रमण) पायी जाती है। जिस कर्म के उदय से जीव अलग-अलग चार रूपों में भव संक्रमण करता है, उस गति कहते हैं। अतः गति की अपेक्षा से संसारी जीवों को चार भागों में विभाजित किया गया है—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव।
5. करण की अपेक्षा से जीव के पांच भेद किए गए हैं। करण का अर्थ है—इन्द्रिय। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान इन्द्रियों के बिना नहीं होते। इन्द्रिय एवं पदार्थ का संबंध/संयोग/सन्निकर्ष होने पर ही किसी पदार्थ का परिज्ञान हो सकता है।
6. संसारी जीवों का शरीर धारण करने की अपेक्षा से भी विभाग किया गया है। पूर्व में जीव के दो भेद—त्रस और स्थावर का उल्लेख किया गया था। इन्हीं दो भेदों में स्थावर जीवों के 5 भेद करके त्रस सहित जीव के 6 भेद जैन दर्शन में स्वीकार किए गए हैं। पृथ्वीकाय, अप् (जल) काय, तेजस् (अग्नि) काय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय ये सभी स्थावर काय जीव हैं, जिनमें एकेन्द्रिय प्राप्त होती है। जबकि शेष सभी त्रसकाय जीव द्विन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक प्राप्त होते हैं। अतः ये सभी 6 प्रकार के जीव शरीर धारण करने की अपेक्षा से 'षड्जीवनिकाय' कहे जाते हैं। इनका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत पाठ में किया जा रहा है।
7. अनेकविध जीवों में षड्कायिक जीवों का और सूक्ष्म रूप में भेद करते हुए उसके चौदह भेद किए गए हैं। एकेन्द्रिय जीव को सूक्ष्म और बादर दो रूपों में विभक्त करके उसके पर्याप्त और अपर्याप्त रूप कहे

गए हैं। इसलिए एकेन्द्रिय जीव के चार भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार पंचेन्द्रिय जीव के संज्ञी और असंज्ञी भेद कर पर्याप्त और अपर्याप्त रूपों का विवेचन किया गया है। तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और पंचेन्द्रिय वाले विकलेन्द्रिय जीव के पर्याप्त और अपर्याप्त रूप कहकर छह भेद किये गए हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय के चार, पंचेन्द्रिय के चार और विकलेन्द्रिय के 6 कुल चौदह भेदों का उल्लेख मिलता है।

8. जैन दर्शन का जीव-विज्ञान बहुत विस्तृत, गहन एवं गम्भीर है। जीव अथवा आत्मा के स्वरूप एवं भेद-प्रभेदों का विस्तार अन्य दर्शनों से अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। जघन्य से एक भेद, मध्यम से दो, तीन, चार, पांच, छह एवं चौदह आदि तथा उत्कृष्ट से 563 भेद भी जीव के जैन दर्शन में कर दिए गए हैं। नारक के 14, तिर्यंच के 48, मनुष्य के 303 तथा देव के 198 भेद हैं। इन सभी को मिलाकर चतुर्गति में प्राप्त इन जीवों के 563 भेद किए हैं।

9.4 षट्जीवनिकाय की अवधारणा

षट् जीव की अवधारणा जैन धर्म दर्शन की प्राचीनतम अवधारणा है। इसके उल्लेख हमें प्राचीनतम जैन आगमिक ग्रंथों यथा आचारांग¹, ऋषिभाषित², उत्तराध्ययन³, दसवैकालिक⁴ आदि में उपलब्ध होते हैं। यह सुस्पष्ट तथ्य है कि निर्ग्रन्थ परम्परा में प्राचीनकाल से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि को जीवन युक्त माना जा रहा है। यद्यपि वनस्पति और द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में जीवन की सत्ता तो सभी मानते हैं, किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु भी सजीव हैं—यह अवधारणा जैनों की अपनी विशिष्ट अवधारणा है। यहां हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पृथ्वी, जल, वायु आदि में सूक्ष्म जीवों की उपस्थिति को स्वीकार करना एक अलग तथ्य है और पृथ्वी, जल आदि को स्वतः सजीव मानना एक अन्य अवधारणा है। जैन परम्परा केवल इतना ही नहीं मानती है कि पृथ्वी, जल आदि में जीव होते हैं अपितु वह यह भी मानती है कि ये स्वयं भी जीवन युक्त या सजीव हैं। इस संदर्भ में आचारांग में स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि पृथ्वी, जल, वायु आदि के आश्रित होकर जो जीव रहते हैं वे पृथ्वीकाय, अपृथायिक आदि जीवों से भिन्न हैं।⁵ यद्यपि पृथ्वीकायिक, अपृथायिक जीवों की हिंसा होने पर इनकी हिंसा भी अपरिहार्य रूप से होती है। आचारांग के प्रथम अध्ययन के द्वितीय से सप्तम उद्देशक तक प्रत्येक उद्देशक में पृथ्वी आदि षट् जीवनिकायों की हिंसा के स्वरूप, कारण और साधन अर्थात् शस्त्र की चर्चा हमें उपलब्ध होती है। किन्तु इन षट्जीवनिकायों में कौन त्रस है और कौन स्थावर है। इस प्रश्न को लेकर प्राचीनकाल से ही विभिन्न अवधारणाएं जैन परम्परा में उपलब्ध होती हैं यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में पृथ्वी, अपृ, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पांच को सामान्यतया स्थावर माना जाता है। पंचस्थावरों की यह अवधारणा अब सर्व स्वीकृत है। दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ का जो पाठ प्रचलित है उसमें तो पृथ्वी, अपृ, अग्नि, वायु और वनस्पति—इन पांचों को स्पष्ट रूप से स्थावर कहा गया है। किन्तु प्राचीन श्वेताम्बर मान्य आगम आचारांग, उत्तराध्ययन आदि की तथा तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर सम्मत पाठ और तत्त्वार्थ भाष्य की स्थिति कुछ भिन्न है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्पराओं में कुंदकुंद के ग्रंथ पंचास्तिकाय की स्थिति भी पंचस्थावरों की प्रचलित सामान्य अवधारणा से कुछ भिन्न ही प्रतीत होती है। यापनीय ग्रंथ षट्खण्डागम की श्रवला टीका में इन दोनों के समन्वय का प्रयत्न हुआ है।

9.5 षट्जीवनिकाय का अर्थ और स्वरूप

9.5.1 अर्थ

काय का प्रसिद्ध अर्थ है—शरीर। बहुत प्रदेशों के समूह रूप होने के कारण काल को छोड़कर जीव आदि पांच द्रव्य भी कायवान् कहलाते हैं। इन्हें पंचास्तिकाय कहते हैं। काय छह ही हैं—पृथ्वी, अपृ, तेज, वायु, वनस्पति एवं त्रस।

काय शब्द का अर्थ समूह भी है। संसार जीवों के छह समूह हैं। ये तरह-तरह के पुद्गल से बने हुए शरीरों के आधार पर किए गए हैं। अतः छह प्रकार के जीवों के समूह को षट्जीवनिकाय कहा जाता है।

“संघे वानूर्ध्वे” सूत्र से ‘चि’ धातु से ‘चञ्’ प्रत्यय होने पर ‘च’ के स्थान पर ‘क’ हो जाने से ‘काय’ शब्द बनता है। अतः जीवों के समूह को जीवकाय कहते हैं।

काय का अर्थ—बहुप्रदेश होता है (काया हु बहुपदेसत्तं नियमसार-34)। काय शब्द का शरीर के अर्थ में विवेचन करते हुए भवलाकार आचार्य वीरसेन लिखते हैं कि—आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा उपचित किए गए पुद्गलपिण्ड को काय कहते हैं। अथवा पृथ्वीकाय आदि नामकर्मों के द्वारा उत्पन्न परिणाम को कार्य में कारण के उपचार से काय कहा है (भवला, 7/2, 1, 2/6/8) अथवा जिसमें जीवों का संचय किया जाये, वह काय है।

9.6 पट्जीवनिकाय

यह पहले भी स्पष्ट कर दिया गया है कि 'काय' शब्द का अर्थ है—शरीर। पुद्गलों से बने हुए शरीरों के आधार पर संसारी जीवों का समूह छह भेदों में विभक्त किया गया है। जीव अपने कर्मों के अनुसार जिन-जिन संज्ञाओं वाले शरीर के रूप में जन्मता है, उन-उन संज्ञाओं से उनका नामकरण किया जाता है। जीवों के छह समूह निम्नांकित हैं—

1. पृथ्वीकाय 2. अप् (जल) काय, 3. तेजस् (अग्नि) काय, 4. वायुकाय, 5. वनस्पतिकाय, 6. त्रसकाय।

जिनका शरीर पृथ्वी, मिट्टी आदि है, वे जीव पृथ्वीकाय कहलाते हैं। पानी है शरीर जिनका, वे अप्काय तथा अग्नि शरीर वाले तेजस्काय जीव हैं। इसी प्रकार वायु-शरीर वाले वायुकाय एवं वनस्पति शरीर वाले वनस्पतिकाय कहे जाते हैं। इनसे भिन्न हिलने-चलने योग्य शरीर वाले त्रसकाय जीव कहलाते हैं।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से जीवमात्र में समायोजन व्यवस्था, संवेदनशीलता, संचारव्यवस्था, उद्दीपन, चयापचय, वृद्धि, विकास और प्रजनन इन गुणों का सद्भाव पाया जाता है। जैन दर्शन में जीव के जो लक्षण स्वीकार किए गए हैं, उनमें उक्त गुणों का समाहार शब्दशः हो जाता है। कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेहपरिमाण, उपयोगमय, ऊर्ध्वगामी आदि लक्षणों को ही विज्ञान में प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया गया है। जीवों के छह प्रकारों का विवेचन यहां किया जा रहा है—

9.6.1. पृथ्वीकायिक जीव

यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या पृथ्वी में भी जीव हैं? यद्यपि हमारे ज्ञान का आधार प्रमाण है किन्तु कुछ सूक्ष्म तत्वों के अवबोध के लिए अतीन्द्रियज्ञान ही प्रमाण माना गया है। आचार्य कुंदकुंद उक्त प्रश्न का समाधान देते हुए पंचास्तिकाय (गा. 113) में कहते हैं कि जिस प्रकार अण्डे में अन्तर्लीन और गर्भ में स्थित जीवों एवं मूर्च्छित प्राणियों में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, फिर भी उनमें जीवत्व का निश्चय किया जाता है। उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवों में जीवत्व सिद्ध है। भगवान् महावीर ने पृथ्वी में केवल चेतना का ही प्रतिपादन नहीं किया बल्कि अंधे मनुष्य की भांति कष्टानुभूति का भी विवेचन किया है। (आचारांग, 1/28) इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वीकायिक जीवों में अंधे मनुष्य की तरह श्वासोच्छ्वास, करण, वेदना, शरीरावगाहना, दृश्यता, भोगित्व, आश्रवादि, जरा और शोक, उन्माद, संज्ञा, ज्ञान, आहार, पर्यव, इन्द्रियज्ञान से अज्ञेयता, कषाय, लेश्या आदि तत्त्व प्राप्त हुए हैं (आचारांग भाष्य, पृ 37-41)। आधुनिक भूवैज्ञानिक भी मानते हैं कि शिलाखण्ड, पर्वत आदि में भी हानि और वृद्धि होती है। उनमें क्लान्ति, चयापचय और मृत्यु—चैतन्य के ये तीनों लक्षण पाये जाते हैं।

आचारांग में पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा नहीं करने का निर्देश दिया गया है। पृथ्वी के संदर्भ में हल, कुदाली, फावड़ा आदि शस्त्र हैं। किन्तु 'शस्त्र' का अर्थ द्रव्यशस्त्र व भावशस्त्र दोनों लिया जाता है। दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय तथा अविरति भावशस्त्र हैं, जबकि स्वकाय (काली मिट्टी पीली मिट्टी का), परकाय (अग्नि-मिट्टी का) तथा तदुभय (मिट्टी मिश्रित जल दूसरी मिट्टी का) शस्त्र द्रव्यशस्त्र कहे गये हैं। अतः व्यक्ति को पृथ्वीकायिक जीवों के जीवत्व और वेदना को जानकर तीनों योग व तीनों करण से उनका समारम्भ नहीं करना चाहिए।

9.6.2. अप्कायिक जीव

अप्कायिक जीव अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। उनकी हिंसा का त्याग करना दुष्कर है। बरसात का जल, ओस का जल, समुद्र का जल, कुआ, तालाब, बावड़ी आदि सब अप्कायिक जीव हैं। जल की एक बूंद में पृथक्-पृथक् असंख्य जीव होते हैं। जब तक विरोधी शस्त्र न लगे तब तक जल सचित्त होता है। विरोधी शस्त्र के योग से वह अचित्त हो जाता है। जलकायिक जीवों की जीवत्व सिद्धि के लिए आचारांग एवं

दशवैकालिक सूत्र में विस्तार से विवेचन किया गया है। निर्युक्तकार भद्रबाहु कहते हैं कि जिस प्रकार तत्काल उत्पन्न कलल अवस्था में स्थित हाथी का शरीर तथा जल प्रधान अण्डे का शरीर द्रव होने पर भी सचेतन देखा जाता है, वैसे ही अपृकायिक जीव भी सचेतन होते हैं। इन एकेन्द्रिय जीवों के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है कि जल में भी जीवत्व है। अपृकायिक जीवों को निष्प्राण करने वाले शस्त्रों में उत्सेचन, गालन, थावन, तथा स्वकाय, परकाय एवं तदुभयकाय शस्त्र प्रमुख हैं। वैज्ञानिकों ने माइक्रोस्कोप के द्वारा वर्तमान युग में पानी की एक बूंद में हजारों त्रसजीव रहे हुए हैं, यह सिद्ध कर दिया है।

9.6.3. तेजस्कायिक जीव

अग्नि ही जिनका शरीर हो, उन्हें तेजस्कायिक जीव कहते हैं। अग्नि, विद्युत्, उल्का, ज्वाला, मुर्मुर (चिन्गारी) आदि सभी तेजस्कायिक जीव हैं। अग्नि की एक छोटी सी चिन्गारी में पृथक्-पृथक् असंख्य जीव होते हैं। महावीर द्वारा अग्नि में जीव सिद्धि का कथन करने से वह आगमप्रमाण तो है ही, अनुमान प्रमाण से भी अग्नि में सचेतना सिद्ध होती है। दशवैकालिक की हरिभद्रीया वृत्ति (पत्र, 138) में कहा है कि अंगार आदि की प्रकाश शक्ति जीव के संयोग से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि वह देहस्थ है। जो-जो देहस्थ प्रकाश होता है, वह-वह आत्मा के संयोग के निमित्त से होता है। उदाहरण—जुगनू के शरीर का प्रकाश। जुगनू में प्रकाश तभी तक रहता है जब तक उसके साथ आत्मा का संयोग रहता है। इसी प्रकार अंगार आदि प्रकाश भी तभी तक रहता है, जब तक उसमें आत्मा रहे। इसी बात को इस रूप में समझा जा सकता है कि ईंधन आदि आहार देने से उसकी वृद्धि और न देने से उसकी हानि (मन्दता) होता है। जैसे—जीवित मनुष्य का शरीर। अर्थात् जीवित मनुष्य का शरीर आहार देने से बढ़ता है और न देने से घटता है, अतः वह सचेतन है। उसी प्रकार अग्निकाय भी ईंधन देने से बढ़ता है, न देने से घटता है, इसलिए वह भी सचित्त है। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी यही मत है कि प्राणवायु (आक्सीजन) के अभाव में अग्नि प्रज्वलित नहीं होती।

अग्निकाय जीवों को जब तक विरोधी शस्त्र न लगे तब तक अग्नि सचित्त होती है। विरोधी शस्त्र के योग से वह अचित्त हो जाती है। आचारांग निर्युक्ति (गा. 123-124) में निर्युक्तकार ने मिट्टी या बालु, जल, गीली वनस्पति, त्रसकाय, स्वकाय, परकाय एवं तदुभय इन सात शस्त्रों का उल्लेख किया है।

स्थानांग (अंगसुत्ताणि 1, ठाणं, 3/326) तथा तत्त्वार्थसूत्र (2/14) में अग्नि को भी त्रसकाय माना गया है, किन्तु वायु जिस प्रकार तिरछी गति चलाता है, वैसे अग्नि नहीं है, इसलिए तेजसकाय का निर्देश स्थावर की शृंखला में ही किया गया है।

9.6.4. वायुकायिक जीव

वायु का चलनधर्मा होता प्रसिद्ध है। वायु ही जिनका काय हो वे जीव वायुकाय या वायुकायिक कहलाते हैं। वायु के निम्नांकित मुख्य 5 भेद किए गए हैं—

- (अ) उत्कलिका वायु—जो वायु ठहर-ठहर कर चले।
- (ब) मण्डलिका वायु—जो वायु चक्रखाती हुई चले।
- (स) घनवायु—जो वायु रत्नप्रभा आदि पृथ्वी के अथवा विमानों के नीचे है यह वायु जमी हुई बर्फ की भांति गाढ़ी एवं आधारभूत है।
- (द) गुञ्जावायु—जो वायु चलती हुई शब्द करे।
- (इ) शुद्धवायु—जो वायु उपरोक्त गुणों से रहित तथा मंद-मंद चलने वाली हो।

वायु अचाक्षुष होते हुए भी दुःसाध्य नहीं है, क्योंकि वायु की सजीवता को आगम प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया गया है। जैन आगमों में वर्णित होने से यह आगम प्रमाण तो है ही, किन्तु तिर्यग् गतित्व के कारण वायु में सजीवता सिद्ध हो जाती है। अन्य स्थावर जीवों की भांति वायुकायिक जीवों में भी विरोधी शस्त्रों के योग से अचित्तता आ जाती है। निर्युक्तकार ने वायुकाय के निम्नांकित शस्त्र प्रज्ञप्त किये हैं—

1. बीजन (व्यजन-पंखा) तालवृंत, पंखा, छाज, चामर, पत्र, वस्त्र आदि
2. अभिधारणा—पसीने से लथपथ व्यक्ति का हवा के आगमन के मार्ग पर बैठना या खड़े होना।
3. चन्दन, खस आदि गंध द्रव्यों की सुगंध।

4. अग्नि—उसकी ज्वाला या गर्मी।

5. स्वकाय शस्त्र—ठंडा या गर्म प्रतिपक्ष वायु।

निशीथ भाष्य तथा चूर्ण में एक वायु दूसरी वायु का शस्त्र है, यह उल्लेख मिलता है तथा बृहत्कल्पभाष्य में क्षेत्र और काल की अपेक्षा सचित्त-अचित्त वायु का विस्तृत विवेचन किया गया है।

9.6.5. वनस्पतिकायिक जीव

वनस्पति ही जिनका शरीर है, वे जीव वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। बीज, अंकुर, तृण, कपास, गुल्म, गुच्छ, वृक्ष, शाक, हरित, पत्र, लता-पुष्प, कंदमूल, फल आदि वनस्पतिकायिक कहे गये हैं। वनस्पतिकायिक जीवों की सजीवता सर्वज्ञ आप्तपुरुषों के वचनों से आगमप्रमाण सिद्ध है। किन्तु वनस्पतियों में बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएं तथा छेदन-भेदन करने से म्लानता आदि लक्षण जीवित मानव शरीर की भांति दृष्टिगोचर होते हैं। अतः अनुमान प्रमाण से भी इसकी सजीवता सिद्ध होती है। वर्तमान युग में जीवविज्ञानशास्त्री प्रो. जगदीशचंद्र बोस ने प्रयोग करके वनस्पति की सजीवता सिद्ध कर दी है। वनस्पति के दो भेद किए जाते हैं—

1. साधारण—जहां एक शरीर में अनन्त जीव हो, उसे साधारण वनस्पति काय कहते हैं। कंदमूल साधारण वनस्पति हैं।
2. प्रत्येक—जिसके एक-एक शरीर में जीव हों, उसे प्रत्येक वनस्पति काय कहते हैं जैसे—आम, लता, तृण, पत्तेवाले शाक, जल से उत्पन्न होने वाले कमल आदि।

वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति के आधार भिन्न-भिन्न हैं। उत्पत्ति के मूल को 'बीज' कहा जाता है। ये बीज हैं—

1. अग्रबीज—वह वनस्पति जिसका सिरा ही बीज हो। जैसे—कोरंट का वृक्ष।
2. मूल बीज—जिसका मूल ही बीज हो। जैसे—कंद आदि।
3. पर्वबीज—पोर या गांठ जिसके बीज हों। जैसे—ईख।
4. स्कंधबीज—जिसके स्कंध (धुड़) बीज हों। जैसे—बड़, पीपल, कपित्थ आदि।
5. बीजरूह—जो बीज से उत्पन्न हो। जैसे—गेहूं, धान, जौ आदि।
6. सम्मूर्च्छिम—स्वयमेव उत्पन्न होने वाली। अंकुर आदि।
7. लता—बेल के रूप में उत्पन्न होने वाली। चम्पा, चमेली, ककड़ी, खरबूज आदि।
8. तृण—घासमात्र को तृण कहते हैं।

निर्युक्तिकार ने निर्मूर्कित को वनस्पतिकायिक जीवों के शस्त्र कहा है—

1. त्रसकाय, 2. कैंची, हंसिया, कुठारी आदि पदार्थ, 3. स्वकायशस्त्र (लाठी आदि), 4. परकाय शस्त्र—पाषाण अग्नि आदि, 5. तदुभय शस्त्र—कुठार आदि, 6. भाव शस्त्र—असंयम।

9.6.6. त्रसकायिक जीव

त्रसनशील को त्रस कहते हैं, जो स्वतः प्रेरित गमनागमन करता हो, वह त्रस कहलाता है। त्रस ही जिनका काय हो, उसे त्रसकायिक कहते हैं। इनमें द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव समाहित हो जाते हैं। जिनमें छह द्रव्य प्राणों से लेकर 10 प्राणों तक हों, वे त्रसकाय या त्रसकायिक जीव कहलाते हैं। अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिक ये त्रस प्राणी कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रसकायिक जीव हैं। कृमि, शंख, कुन्थु, चींटी, मक्खी, मच्छर, भौरा एवं पशु-पक्षी आदि तथा मनुष्य, तिर्यच, देव नारक जीव त्रसकायिक हैं।

त्रसकाय जीव के दो भेद हैं—1. गतित्रस—जिन जीवों में अभिप्रायपूर्वक गति करने की शक्ति नहीं होती 2. लब्धित्रस—जिन जीवों में अभिप्रायपूर्वक गति करने की शक्ति होती है। स्थानांगसूत्र में (3/326) तीन प्रकार के त्रस बताए हैं, उनमें अग्नि और वायु को गतित्रस एवं द्वीन्द्रियादि को उदार त्रस प्राणियों को लब्धित्रस कहा गया है।

त्रसकायिक जीव के मूलाचार में दो अन्य भेद किए गए हैं—1. विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव। 2. सकलेन्द्रिय—पंचेन्द्रिय जीव।

त्रसकायिक जीव केवल बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं। किन्तु पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेद ये दो भेद त्रसकायिक जीवों का किया गया है।

9.7 षड्काय जीव एवं पर्याप्ति

जो पर्याप्ति सहित हो, वह पर्याप्त तथा जो पर्याप्ति सहित न हो, वह अपर्याप्त होता है। पर्याप्ति आत्मा की एक शक्ति है और वह शक्ति पुद्गलों के उपचय से प्राप्त होती है। जिस शक्ति के द्वारा जीव पुद्गलों का आहरण करके उन्हें शरीर रूप में, इन्द्रिय रूप में, श्वास एवं उच्छ्वास रूप में, भाषा रूप में और मन रूप में परिणत करता है, उसे पर्याप्ति कहते हैं। जीव अपने उत्पत्ति स्थान पर प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है और उसके बाद भी जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उन सबको शरीर, इन्द्रिय आदि रूपों में परिणत करता है। पुद्गल परिणमन की इस शक्ति को ही पर्याप्ति कहा जाता है।

(पर्याप्त के छह भेद इस प्रकार हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति)। जिस शक्ति से जीव आहार ग्रहण करके उसे खल और रस रूप में परिणत करता है, उसे आहार पर्याप्ति कहते हैं। खल का अर्थ है—शरीर की रचना में अनुपयोगी एवं असार भाग। रस का अर्थ है—शरीर पोषण करने वाला द्रवित पदार्थ। जीव अपने भवान्तर की उत्पत्ति के प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उसी समय उन पुद्गलों में ग्रहण किए आहार को खल और रस रूप में परिणत करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, इसी को आहार पर्याप्ति कहते हैं। यहां पर आहार पर्याप्ति का सामान्य कारण प्रथम समय में ग्रहण किए पुद्गल हैं और परिणमन शक्ति की उत्पत्ति कार्य है। कारण और कार्य दोनों यहां पर एक समय में होते हैं। शरीर पर्याप्ति क्या है? जिस शक्ति से रस रूप में परिणत आहार को जीव रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य रूप सप्त धातुओं में परिणत करता है, वह शरीरपर्याप्ति है। इन्द्रियपर्याप्ति क्या है? जिस शक्ति से शरीर में से इन्द्रिय योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके इन्द्रिय रूप में परिणत किया जाय, वह इन्द्रियपर्याप्ति है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति क्या है? जिस शक्ति से श्वासोच्छ्वास वर्णा में से पुद्गलों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत किया जाए, वह श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। भाषा पर्याप्ति क्या है? जिस शक्ति से भाषा वर्णा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप में परिणत किया जाए, वह भाषापर्याप्ति है। मनःपर्याप्ति क्या है? जिस शक्ति से मनोवर्णा में से पुद्गलों को ग्रहण करके मनोरूप में परिणत किया जाए, वह मनः पर्याप्ति है। ये छह पर्याप्ति हैं।

किस जीव के कितनी पर्याप्तियां होती हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है, कि एकेन्द्रिय जीवों के चार पर्याप्तियां होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास। विकलेन्द्रिय जीवों के और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के पांच पर्याप्तियां होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छह पर्याप्तियां होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। पहली तीन पर्याप्तियां—आहार, शरीर और इन्द्रिय को प्रत्येक जीव पूर्ण करता ही है। क्योंकि उक्त तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही जीव अगले भव का आयुष्य बांध सकता है। इन तीन की अपेक्षा से तो प्रत्येक जीव पर्याप्त होता है।

फिर पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या क्या है? स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करे, वह पर्याप्त। स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे, वह अपर्याप्त। जैसे एकेन्द्रिय जीव के स्वयोग्य पर्याप्ति चार हैं। इन चार को पूर्ण करने वाला पर्याप्त और पूर्ण न करने वाला अपर्याप्त होता है। पर्याप्त के दो भेद हैं—लब्धिपर्याप्त और करणपर्याप्त। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को अभी पूर्ण नहीं किया, किन्तु पूरा अवश्य करेगा, वह लब्धि (शक्ति) की अपेक्षा से लब्धि-पर्याप्त कहा जाता है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर लिया, वह करण (क्रिया) की अपेक्षा से करण-पर्याप्त कहा जाता है। करण का अर्थ इन्द्रिय भी होता है। जिस जीव ने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली, उसे करण पर्याप्त कहते हैं। इस प्रकार लब्धि पर्याप्त जीव, अवश्य ही करण-पर्याप्त होकर ही मरता है। परन्तु करण-पर्याप्त का वास्तविक अर्थ यही है कि जिसने स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण की है, वह करण-पर्याप्त है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा नहीं किया, और करेगा भी नहीं,

वह लब्धि (शक्ति) से अपर्याप्त है—लब्धि अपर्याप्त है। जिसने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा नहीं किया, किन्तु अवश्य करेगा, वह करण (क्रिया) से अपर्याप्त है—करण अपर्याप्त है। यहां पर इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि देव और नारक कभी लब्धि अपर्याप्त नहीं होते, पर करण अपर्याप्त होते हैं। मनुष्य और तिर्य्यच लब्धि अपर्याप्त और करण अपर्याप्त दोनों प्रकार के होते हैं।

9.8 षट्काय जीव एवं मार्गणा निर्देश

समस्त छह प्रकार के जीवों को उक्त पर्याप्त एवं अपर्याप्त इन दो रूपों में विभक्त किया जाता है। किन्तु पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेदों में विभाजित करने से पहले प्रत्येक वनस्पति को छोड़कर शेष सभी जीव (यथा: साधारण वनस्पति, पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं त्रसकाय) सूक्ष्म एवं बादर इन दो भागों में विभक्त किए जाते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक के जीवों का आत्मविकास जिस क्रम अथवा अनुपात में उन्नत होता है, उसी आधार से उन जीवों का गुणस्थान निर्धारित होता है। षट्खण्डागम ग्रंथ में कहा गया है कि पृथ्वीकायिक, अपृकायिक, तेजसकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में ही होते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर (शेष समस्त इन्द्रियधारी जीव) अयोगिकेवली तक त्रस जीव होते हैं। बादर एकेन्द्रिय जीवों से लेकर अयोगिकेवली पर्यंत जीव बादरकायिक होते हैं। गोम्मटसार में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने इसका विस्तार से वर्णन किया है।

9.9 सारांश

इस तरह जीव के अनेकानेक अपेक्षाओं से भेद किए गए हैं तथा मुख्यतः संसारी एवं मुक्त भेद करते हुए संसारी जीवों के स्वरूप का विवेचन किया गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं वनस्पतिकायिक जीवों को स्थावर जीव कहते हैं, क्योंकि इन जीवों का पृथ्वी आदि ही शरीर कहा गया है। अतः एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर जीव कहते हैं। जबकि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस जीव कहे जाते हैं। स्थावर एवं त्रस ये दो भेद संसारी जीवों के ही होते हैं। जिन्हें इन्द्रियों की अपेक्षा से 5 भेदों में विभक्त किया जाता है। इस तरह जैन दर्शन में जीवों का इतना सूक्ष्म विवेचन किया गया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

9.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन में मान्य षट्काय जीवों पर विस्तार से समझाए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. स्थावर जीव किसे कहते हैं? उसके भेदों को संक्षेप में लिखिए।
2. त्रसकायिक जीव पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. काय का अर्थ है।
2. वनस्पतिकाय में सजीवता सिद्ध करने वाले वैज्ञानिक का नाम था।
3. त्रसकायिक जीवों में से प्राण होते हैं।
4. पर्वबीज का उदाहरण है।
5. त्रसकायिक जीवों में इन्द्रियां होती हैं।
6. किस स्थावर जीव के सूक्ष्म एवं बादर भेद नहीं किया गया।
7. षट्कायिक जीवों के कौन-कौन से नाम हैं?
8. वनस्पतिकाय जीव के कितने भेद किए गए हैं?
9. अग्निकायिक जीवों के कौन-कौन से शस्त्र हैं?
10. पर्याप्ति किसे कहते हैं?

☆☆☆

संवर्ग-5 : पुद्गल, सहिष्णु
इकाई-10 : पुद्गलास्तिकाय

संरचना

- 10.0 प्रस्तावना
- 10.1 उद्देश्य
- 10.2 जैनदर्शन में पुद्गल का स्वरूप
 - 10.2.1 पुद्गल का मैटर
 - 10.2.2 पुद्गल का नामकरण/परिभाषा
 - 10.2.3 पुद्गल के लाक्षणिक गुण और उन गुणों की पर्याय
 - 10.2.4 पुद्गल अस्तिकाय है
 - 10.2.5 पुद्गल सत् और द्रव्य है
 - 10.2.6 पुद्गल नित्य, अविनाशी है-तत्त्वान्तरणीय नहीं है
 - 10.2.7 पुद्गल अचेतन सत्ता है, चेतन नहीं
 - 10.2.8 पुद्गल परिणामी है अर्थात् परिवर्तनशील है, पुद्गल क्रियावान है अर्थात् सतत सक्रिय है
 - 10.2.9 पुद्गल गलन-मिलन धर्मा है
 - 10.2.10 पुद्गल संख्या की दृष्टि से अनन्त है, क्षेत्र की दृष्टि से सम्पूर्ण लोकाकाश में पुद्गल व्याप्त है।
 - 10.2.11 पूरा लोक पुद्गल से भरा हुआ है
- 10.3 पुद्गल का वर्गीकरण
 - 10.3.1 एक भेद
 - 10.3.3 पुद्गल के चार प्रकार
 - 10.3.4 आठ भेद
 - 10.3.5 विज्ञान में पुद्गल के भेद
 - 10.3.6 पुद्गल के आकार-प्रकार
 - 10.3.7 प्राणी-जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार
 - 10.3.8 सृष्टि क्या है
- 10.4 सारांश
- 10.5 अभ्यास प्रश्नावली

10.0 प्रस्तावना

पिछले पाठों में हमने जैनदर्शन के जिन द्रव्यों की मीमांसा की, वे अमूर्त द्रव्य थे। अमूर्त द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल ये चारों ही अमूर्त होने के साथ-साथ अजीव हैं। जीव-द्रव्य अमूर्त तो है किन्तु अजीव नहीं हैं। केवल पुद्गलास्तिकाय ही इस जगत् में एक मात्र अजीव-द्रव्य है जो मूर्त है। पुद्गल-द्रव्य के भी जो सूक्ष्म स्कन्ध एवं परमाणु हैं; वे मूर्त होने पर भी इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं। पुद्गल-द्रव्य में वे ही इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं जो अनन्तानन्त परमाणुओं के स्थूल-स्कन्ध हैं। इस प्रकार हमारे दृश्य (इन्द्रिय-ग्राह्य) जगत् की सारी लीला का मूल सूत्रधार है—पुद्गलद्रव्य। जैनदर्शन में पुद्गलद्रव्य के विषय में जो गंभीर एवं विस्तृत विश्लेषण उपलब्ध है, वह न केवल दर्शन के विद्यार्थी के लिए अनिवार्यतः ज्ञेय है, अपितु विज्ञान के क्षेत्र में रुचि रखने वालों के लिए भी बहुत ही ज्ञातव्य होने के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणाओं के साथ तुलनीय है। आधुनिक विज्ञान का मुख्य क्षेत्र है—भौतिकी

(Physics) उसकी अन्यान्य शाखायें मूलतः भौतिकी के मूलभूत नियमों पर ही प्रायः अवलम्बित हैं। इस प्रकार पुद्गल-द्रव्य का अध्ययन आप के लिए निश्चित रूप से बहुत ही उपयोगी एवं सुरुचिपूर्ण होगा।

10.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से हम-

- जैनदर्शन में पुद्गल के स्वरूप का अध्ययन कर सकेंगे एवं
- पुद्गल के भेदों से संबंधित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

10.2 जैनदर्शन में पुद्गल का स्वरूप

‘पुद्गल’ शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जो वर्ण, स्पर्श, गंध और रस—इन गुणों से युक्त है, वह पुद्गल है। पुद्गल का आधुनिक पर्यायवाची शब्द जड़ अथवा भौतिक पदार्थ हो सकता है। किन्तु ऊर्जा, जो कि वस्तुतः जड़ का ही रूप है पुद्गल के अंतर्गत आ जाती है।

छह द्रव्यों में जीव को छोड़कर शेष बाकी पांचों ही द्रव्य अजीव हैं; पुद्गल भी अजीव है। वह चैतन्य-गुण से रहित है। पुद्गल के सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश को परमाणु कहा जाता है। विश्व (लोकाकाश) में परमाणुओं की संख्या अनन्त है और प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र इकाई है। जब ये परमाणु परस्पर जुड़ते हैं, तब ‘स्कन्ध’ का निर्माण होता है। स्कन्ध में दो से लेकर अनन्त परमाणु हो सकते हैं। लोकाकाश के जितने भाग को एक परमाणु अवगाहन करता है, उतने भाग को ‘प्रदेश’ कहा जाता है। किन्तु पुद्गल की स्वाभाविक अवगाहन-संकोच-शक्ति के कारण लोकाकाश के एक प्रदेश में ‘अनन्त-प्रदेशी’ (अनन्त परमाणुओं से बना हुआ) स्कन्ध ठहर सकता है। समग्र लोकाकाश में (जो कि असंख्यात प्रदेशात्मक है) अनन्त ‘अनन्त-प्रदेशी’ स्कन्ध विद्यमान है। इस प्रकार द्रव्य-संख्या की दृष्टि से पुद्गल द्रव्य अनन्त है, क्षेत्र की दृष्टि से स्वतंत्र परमाणु एक प्रदेश का अवगाहन करता है और स्वतंत्र स्कन्ध एक से लेकर असंख्यात प्रदेशों का अवगाहन करता है तथा समग्र पुद्गल-द्रव्य समस्त लोक में व्याप्त है; काल की दृष्टि से पुद्गल-द्रव्य अनादि और अनन्त है; स्वरूप की दृष्टि से वर्ण, स्पर्श आदि गुणों से युक्त, चैतन्य-रहित और मूर्त है।

10.2.1 पुद्गल या मैटर

विज्ञान जिसको मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैनदर्शन में पुद्गल संज्ञा दी गई है। बौद्धदर्शन में पुद्गल शब्द आलय-विज्ञान-चेतना-सन्तति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन शास्त्रों में भी अभेदोपचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को पुद्गल कहा है। (भगवती, 8/10/369) जीवेण! पोगगली, पोगगले? जीवे पोगगलीवि पोगगलेवि) किन्तु मुख्यतया पुद्गल का अर्थ है मूर्तिक द्रव्य। छह द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं, अवयवी हैं, फिर भी इन सबकी स्थिति एक-सी नहीं। जीव, धर्म, अधर्म और आकाश—ये चार अविभागी हैं। इनमें संयोग और विभाग नहीं होता। इनके अवयव परमाणु द्वारा कल्पित किये जाते हैं। कल्पना करो, यदि इन चारों के परमाणु जितने-जितने खण्ड करें तो जीव, धर्म, अधर्म के असंख्या और आकाश के अनन्त खण्ड होते हैं। पुद्गल अखण्ड द्रव्य नहीं है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे बड़ा रूप है विश्वव्यापी अचित्त महास्कन्ध। केवल समुद्घात के पांचवे समय में आत्मा से छूटे हुए जो पुद्गल समूचे लोक में व्याप्त होते हैं, उनको अचित्त महास्कन्ध कहते हैं। इसीलिए उसको ‘पूर्ण-गलन-धर्मा’ कहा है। छोटा-बड़ा, सूक्ष्म-स्थूल, हल्का-भारी, लम्बा-चौड़ा, बंध-भेद, आकार, प्रकाश-अंधकार, ताप-छाया, इनको पौद्गलिक मानना जैन-तत्त्व-ज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

तत्त्व-संख्या में परमाणु की स्वतंत्र गणना नहीं है। वह पुद्गल का ही एक विभाग है। पुद्गल के दो प्रकार बताए हैं—1. परमाणु-पुद्गल, 2. नो परमाणु-पुद्गल आदि स्कन्ध। पुद्गल के विषय में जैन-तत्त्ववेत्ताओं ने जो विवेचना और विश्लेषण दी है, उसमें उनकी मौलिकता सहज सिद्ध है।

10.2.2 पुद्गल का नामकरण/परिभाषा

पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गल इति। (जै. सि. दी. 1/14)

जिसमें पूरण-एकीभाव और गलन—पृथग्भाव दोनों होते हैं, वह 'पुद्गल' है। यह इसका व्युत्पत्तिलभ्य शाब्दिक अर्थ है।

पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति है—पुद्+गल। पुद्=पूरण अर्थात् संघात यानी संयुक्त होना (fusion) और गल=गलन अर्थात् भेद यानी वियुक्त होना (Fission)। केवल वह पदार्थ ही पुद्गल है जिसमें संश्लिष्ट और विश्लिष्ट होने की क्षमता है। छह द्रव्यों में केवल पुद्गल द्रव्य में ही यह क्षमता है, अन्य पांच द्रव्यों में नहीं। जो द्रव्य प्रति समय मिलता-गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, वह पुद्गल है।

प्राचीन समय में चूल्हे का धुआं बाहर निकालने के लिए रसोईघर में कई छोटे-छोटे छिद्र बनाए जाते थे। आजकल भी कहीं-कहीं ऐसे रसोईघर देखने को मिलते हैं। उनमें से होकर सूर्य-रश्मियां भी रसोईघर के अंदर आती हैं। उन सूर्य-रश्मियों में सैकड़ों हजारों कण तैरते हुए दिखाई देते हैं। पर जब उन्हें पकड़ने का प्रयास किया जाता तो वे हाथ में नहीं आते। यह पुद्गलों की सूक्ष्मता का एक स्थूल उदाहरण है। वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से तो ये रज कण बहुत बड़े हैं। इनसे भी बहुत सूक्ष्म पुद्गल होते हैं।

पुद्गल या पुद्गलास्तिकाय के लिए हम अणु शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं। पर इसके स्थान पर परमाणु शब्द का प्रयोग गलत हो जाएगा।

इस संसार में सर्वत्र पुद्गलों का एकछत्र साम्राज्य छाया हुआ है। हम खाते हैं, पीते हैं, श्वासोच्छ्वास करते हैं ... इन सब क्रियाओं में हम पुद्गलों को ग्रहण करते हैं। पुद्गल नहीं हो तो न हमारा खाना है, न पीना है, न बोलना है, न चिन्तन-मनन है, न श्वासोच्छ्वास है और न कोई अन्य क्रिया ही। दूसरे शब्दों में पुद्गलों के बिना हमारा इस संसार में कोई अस्तित्व ही नहीं है।

हमारा शरीर भी पुद्गल है। पुद्गल सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार के होते हैं। शरीर सजीव पुद्गल है। हमारे ये आठ कर्म भी पुद्गल ही हैं। एक-एक कर्म को अनन्त-अनन्त पुद्गल जुड़े हुए हैं।

गुणात्मक परिभाषा

स्पर्शरसगंधवर्णवान् पुद्गलः। (जैन सिद्धान्त दीपिका, 1/14)

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण युक्त द्रव्य 'पुद्गल' है यह जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। अन्य किसी भी दर्शन में यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

यह कभी संभव नहीं कि पुद्गल में स्पर्श तो हो और रस न हो। रस तो हो और गंध न हो। गंध तो हो और वर्ण न हो। निष्कर्ष यह है कि पुद्गल होगा तो ये चारों अनिवार्य रूप से होंगे ही। यह दूसरी बात है कि स्पर्श, गंध और वर्ण की तो बात दूर की है, बहुत से पुद्गल स्वयं इतने सूक्ष्म होते हैं, जिन्हें हम कोरी आंखों से नहीं देख सकते।

पुद्गल के लाक्षणिक गुण हैं—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण। इन गुणों के कारण पुद्गल मूर्त (इन्द्रिय-ग्राह्य) बनता है। ये गुण केवल पुद्गल-द्रव्य में ही होते हैं, अन्य पांच द्रव्यों में नहीं। इसलिए शेष पांच द्रव्य अमूर्त या अरूपी होते हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी या इन्द्रिय-ग्राह्य होने का तात्पर्य केवल यह नहीं कि वह चक्षु-ग्राह्य है, पर वह सभी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। अर्थात् पुद्गल की विलक्षण पहचान यह है कि वह छूआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूंघा जा सकता है और देखा भी जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण—ये चारों ही गुण सभी पुद्गलों में प्रकट या अप्रकटरूप में एक साथ विद्यमान होते ही हैं।

10.2.3 पुद्गल के लाक्षणिक गुण और उन गुणों की पर्याय

वर्ण के मूल पांच प्रकार हैं—काला, नीला, लाल, पीला, श्वेत।

गंध के मूल दो प्रकार हैं—सुगंध और दुर्गन्ध।

रस के पांच प्रकार हैं—मीठा, कटु, खट्टा, कसैला, तिक्त।

स्पर्श के आठ प्रकार हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, कठोर।

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये पुद्गल के गुण हैं। कृष्ण आदि पांच रंग वर्ण-गुण की पर्याय है; सुगंध-दुर्गन्ध गंध गुण की पर्याय है; इसी प्रकार मधुर आदि पांच तथा शीत आदि आठ क्रमशः रस और स्पर्श गुण की पर्याय हैं। इस प्रकार चार गुणों की 20 पर्यायें हैं। हम गुण को नहीं जानते बल्कि उसकी

पर्याय को जानते हैं। जैसे—स्पर्श गुण सदा बना रहता है, पर शीत का उष्ण या उष्ण का शीत के रूप में पर्याय-परिवर्तन घटित होता रहता है; हम इन्हीं पर्यायों को जानते रहते हैं। जैसे गुणों की पर्याय होती है, वैसे द्रव्य की पर्याय भी होती है। सभी द्रव्यों की अनन्त पर्यायें होती हैं।

10.2.4 पुद्गल अस्तिकाय है

प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ अनेक अवयवों का समूह है तथा आकाश-प्रदेशों में फैलता है (अवगाहन करता है)। इसलिए वह अस्तिकाय है। पुद्गल-स्कन्ध संख्यात अथवा अनन्त प्रदेशों से बनता है; इसका आधार उसकी संरचना है। एक स्वतंत्र परमाणु के कोई विभाग नहीं होते।

पुद्गल का आकाश-प्रदेशों में अवगाहन—संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेशी स्कन्धों द्वारा आकाश का अवगाहन एक प्रदेश से असंख्यात प्रदेश तक होता है। आकाश के अवगाहन में अवगाढ़ आकाश-प्रदेशों की संख्या स्कन्ध के परमाणुओं की संख्या से अधिक नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ—100 परमाणुओं से निर्मित स्कन्ध जिसे सौ-प्रदेशी स्कन्ध कहा जाता है। जघन्यतः एक आकाश-प्रदेश का अवगाहन कर सकता है, पर उत्कृष्टतः 100 आकाश-प्रदेशों में ही फैल सकता है, उससे अधिक में नहीं। अनन्त या अनन्त-अनन्त अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध की उत्कृष्ट अवगाहना भी असंख्यात प्रदेश ही हो सकती है, अनन्त नहीं। यह इसलिए संभव है कि पुद्गल में संपीड्यता (Contraction) का अद्भुत गुण होता है जिसकी बदैलत असंख्यात प्रदेश जितने आकाश में भी अन्तान्त परमाणुओं का स्कन्ध समाविष्ट हो जाता है। जैनदर्शन की यह मान्यता आधुनिक विज्ञान के इस अविष्कार के साथ सुसंगत होती है कि अणु का 99.17 प्रतिशत संहति (द्रव्यमान या Mass) आण्विक नाभिक (Nucleus) में समाविष्ट हो जाता है। जबकि नाभिक पूरे अणु का $\frac{1}{1836}$ भाग जितना आकाश अवगाहन करता है।

10.2.5 पुद्गल सत् और द्रव्य है

‘पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी’ (भगवती, 14/49, 50) द्रव्यार्थतया पुद्गल शाश्वत है और पर्यायरूप में अशाश्वत। परमाणु-पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा अचरम है। यानी परमाणु संघात रूप में परिणत होकर भी पुनः परमाणु बन जाता है। इसलिए द्रव्यत्व की दृष्टि से चरम नहीं है। क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चरम भी होता है और अचरम भी। (भगवती 14/4/51) वह सत् है, इसलिए वह परिवर्तनशील भी है और नित्य भी है। प्रत्येक क्षण में होने वाले पुद्गल के पर्यायों के परिवर्तन के दो कारण होते हैं: 1. आंतरिक परिणमनशील संरचना, 2. अन्य सत् (पदार्थों) के साथ पारस्परिक प्रतिक्रिया। जैनदर्शन इस बात पर बल देता है कि पुद्गल के ये अनन्त पर्याय काल में घटित होने वाली ‘घटनाएं’ हैं, किन्तु पुद्गलास्तिकाय द्रव्य है, इसलिए उसका द्रव्यत्व एक ‘कालातीत सत्त्व’ या ‘अविच्छिन्न सत्त्व’ है; किन्तु काल में घटित होने वाली घटना नहीं।

10.2.6 पुद्गल नित्य, अजिनाशी है—तत्त्वान्तरणीय नहीं है

नित्यत्व एवं अतत्त्वान्तरणीयता (nontrasumutability) ये दोनों गुण पुद्गल-सहित सभी द्रव्यों में होते हैं। इसलिए पुद्गल के लिए निम्नलिखित विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—काल की अपेक्षा से पुद्गल अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो अनादि अतीत काल में जितने पुद्गल-परमाणु थे, वर्तमान में, अतीत में उतने ही हैं और अनन्त भविष्य में भी उतने ही रहेंगे। पुद्गल-द्रव्य की अपनी मौलिकता यथावत बनी रहती है। पुद्गल नियत, शाश्वत, श्रुव, अक्षय, अवस्थित और नित्य है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सतत परिणमनशील होते हुए भी पुद्गल अपरिवर्तनीय (अतत्त्वान्तरणीय) है।

पुद्गल सदा पुद्गल रहता है, उसका अन्य (द्रव्यों) में रूपान्तरण नहीं हो सकता। पुद्गल को धर्मास्तिकाय आदि अन्य द्रव्यों में बदला नहीं जा सकता। पुद्गल जीव के साथ सम्बद्ध होता है तथा दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं; फिर भी न कभी पुद्गल जीव के रूप में बदलता है और न जीव कभी पुद्गल के रूप में। अतत्त्वान्तरणीयता के गुण के कारण सभी द्रव्य अपने स्वभाव को बनाए रखते हैं।

10.2.7 पुद्गल अचेतन सत्ता है, चेतन नहीं

पुद्गल चैतन्य-रहित अजीव पदार्थ है। वह सदा अजीव रहता है; वह न जानता है, न अनुभव करता है, न चिन्तन-मनन करता है। इसलिए किसी भी पौद्गलिक उपकरण द्वारा यह कार्य संभव नहीं है। कम्प्यूटर,

कृत्रिम बौद्धिकता (artificial intelligence) आदि के सारे कार्य चेतना-रहित होने से अजीब की कोटि में ही आएं। जैनदर्शन ने जीव-निजीव या चेतन-अचेतन की भेद-रेखा 'चैतन्य' गुण के आधार पर निर्धारित की है। यद्यपि जीव द्वारा ज्ञान आदि कार्य में पुद्गल की सहायता ली जाती है पर मूल चैतन्य का अस्तित्व तो जीव का अपना ही होता है।

10.2.8 पुद्गल परिणामी है अर्थात् परिवर्तनशील है; पुद्गल क्रियावान है अर्थात् सतत सक्रिय है

पुद्गल की परिणति दो प्रकार की होती है: 1. सूक्ष्म, 2. बादर। अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध भी जब तक सूक्ष्म परिणति में रहता है, तब तक इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं बनता और सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतुःस्पर्शी होते हैं। उत्तरवर्ती चार स्पर्श बादर परिणाम वाले चार स्कन्धों में ही होते हैं। गुरु-लघु और मृदु-कठिन—ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष संयोग से बनते हैं। रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है और स्निग्ध की बहुलता से गुरु। शीत और स्निग्ध की बहुलता से मृदु स्पर्श और उष्ण तथा रूक्ष की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की निवृत्ति के साथ-साथ जहां स्थूल परिणति होती है वहां चार स्पर्श भी बढ़ जाते हैं। पुद्गल जड़ पदार्थ या अचेतन होते हुए भी सतत सक्रिय बना रहता है। पुद्गल चाहे परमाणु के रूप में हो या स्कन्ध-रूप में हो, सतत परिवर्तनशील रहता है: उसमें कुछ-न-कुछ घटित होता रहता है। पुद्गल की प्रवृत्ति दो रूप में हो सकती है—1. ऐसा परिणमन जिसमें गति का अभाव होता है। यह परिणमन स्वाभाविक रूप में सभी पौद्गलिक पदार्थों में घटित होता रहता है, उत्पाद और व्यय का क्रम चलता रहता है। इसलिए पुद्गल-पुद्गल रहते हुए भी उसकी पर्यायों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। पूर्व अवस्था का विनाश और उत्तर व्यवस्था की उत्पत्ति—यही परिणमन है। 2. परमाणु या स्कन्धों का आकाश-प्रदेशों में गमन-रूप परिवर्तन 'क्रिया' कहलाती है। प्रकाश (vibration), दोलन (oscillation) आदि भी गति क्रिया के उदाहरण हैं।

परिवर्तन के तीन हेतु

परिणमन की अपेक्षा से पुद्गल तीन प्रकार के होते हैं (भगवती, 8/9)—

1. वैस्रसिक, 2. प्रायोगिक, 3. मिश्र।

स्वभावतः जिनका परिणमन होता है, वे पुद्गल वैस्रसिक, जीव के प्रयोग से शरीरादि रूप में परिणत पुद्गल प्रायोगिक और जीव के द्वारा मुक्त होने पर भी जिनका जीव के प्रयोग से हुआ परिणमन नहीं छूटता अथवा जीव के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से जो बनते हैं, वे मिश्र कहलाते हैं, जैसे: 1. वैस्रसिक परिणाम-उल्कापात (meteorite) 2. प्रायोगिक परिणाम-जीवच्छरीर (living body) 3. मिश्र परिणाम-मृत शरीर (dead body)। इनका रूपान्तर असंख्य काल के बाद अवश्य ही होता है।

प्राणी और पुद्गल का सम्बन्ध

प्राणी के उपयोग में जितने पदार्थ आते हैं, वे सब पौद्गलिक ही होते हैं, किन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वे सब जीव-शरीर में प्रयुक्त हुए होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, साग-सब्जी और त्रस-कायिक जीवों के शरीर या शरीरमुक्त पुद्गल हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो स्थूल स्कन्ध वे ही हैं, जो विस्मसा-परिणाम से औदारिक आदि वर्णना के रूप में सम्बद्ध होकर प्राणियों के स्थूल शरीर के रूप में परिणत अथवा उससे मुक्त होते हैं। वैशेषिकों की तरह जैनदर्शन में पृथ्वी, पानी आदि के परमाणु पृथग् लक्षण वाले नहीं हैं। इन सब में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण—ये सभी गुण रहते हैं।

परिणमन

परिणमन या पर्याय के दो रूप हैं—क. अर्थपर्याय, ख. व्यंजन पर्याय। अर्थपर्याय आंतरिक परिवर्तन है जो एक 'समय' की अवधि का होता है, निरन्तर होता रहता है और इसका प्रवाह अंतहीन होता है, वैसे ही अर्थ-पर्याय के रूप में पर्याय का प्रवाह प्रत्येक पुद्गल में घटित होता है। अर्थपर्याय सम्पूर्णतः स्व-सापेक्ष होता है, पर-सापेक्ष नहीं। एक समयवर्ती होने के कारण वह न देखा जा सकता है, न व्यक्त किया जा सकता है।

व्यंजनपर्याय आंतरिक और बाह्य दोनों रूप में हो सकता है। यह परिवर्तन कुछ अवधि पर्यन्त चलता है यानी इसमें एक समय से अधिक समय लगता है। इसे एक 'घटना' के रूप में माना जा सकता है जो आकाश और काल में घटित होती है। पुद्गल की विभिन्न व्यक्त अवस्थाएँ व्यंजनपर्याय का ही रूप हैं। जैसे—एक 'लेखनी' (pen) पुद्गल की व्यंजनपर्याय है। व्यंजनपर्याय स्थूल, कालांतरस्थायी है और उसे अभिव्यक्त किया जा सकता है। अर्थपर्याय सूक्ष्म, एक-समयवर्ती और अव्यक्त होता है।

क्रिया

गति के लिए क्रिया शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि जीव भी गतिशील द्रव्य है, फिर भी जीव की गति सदा पुद्गल-सापेक्ष होती है। अपने आप में जीव 'अगतिशील' है। इस दृष्टि से छह द्रव्यों में पुद्गल को ही गतिशील या गमन के लिए सक्षम माना जा सकता है। पुद्गल गतिशील होते हुए भी सदा गतिमान नहीं रहता। गति के पश्चात् पुद्गल स्थिति या स्थिरावस्था में आता है। गति और स्थिति के रूप में पर्याय बदलता रहता है। दो गतियों के बीच स्थिरावस्था आती रहती है।

गति स्थानान्तर के रूप में या प्रकंपन के रूप में हो सकती है। भगवती सूत्र में गति के कुछ प्रकारों की चर्चा की गई है। गति स्वाभाविक भी हो सकती है, बाह्य निमित्त या बल के प्रभाव से भी हो सकती है। गति प्रकम्पनात्मक भी हो सकती है और चक्रात्मक भी हो सकती है, या दोनों एक साथ भी हो सकती है।

10.2.9 पुद्गल गलन-मिलन-धर्मा है

छह द्रव्यों में केवल पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है, जो गलन-मिलन-धर्मा है। एक पुद्गल दूसरे पुद्गल के साथ मिलकर नए पुद्गल का निर्माण कर सकता है; इस पूरण (fusion) कहा जाता है तथा एक पुद्गल-स्कन्ध टूटकर या विघटित होकर अन्य पुद्गल-स्कन्धों में बदल सकता है। विघटन की इस क्रिया को गलन (fission) कहा जाता है। 'बंध' और 'भेद' जिसकी चर्चा ऊपर की गई है क्रमशः पूरण और गलन-धर्म का ही परिणाम है। बंध या भेद की प्रक्रिया ही पुद्गल की शक्ति या ऊर्जा की उत्पत्ति में निमित्त बनती है।

आधुनिक विज्ञान में अणुबम और हाइड्रोजन बम क्रमशः फिशन और फ्यूजन की प्रक्रियाओं द्वारा जनित आणविक ऊर्जा द्वारा निर्मित होते हैं। जैनदर्शन के द्वारा प्रतिपादित पुद्गल के गलन-मिलन धर्मों के ये स्पष्ट उदाहरण हैं। अणुबम के निर्माण के लिए यूरेनियम-234 नामक धातु के अणु का विखण्डन किया जाता है। जब यह प्रक्रिया घटित होती है, तो ऊर्जा का विमोचन होता है जिसकी मात्रा अत्यधिक होती है। हाइड्रोजन बम के निर्माण में हाइड्रोजन के अणुओं का संघटन किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप अत्यधिक मात्रा में ऊर्जा का विमोचन होता है। सामान्य जीवन में कोयले को जलाकर ताप प्राप्त करने की प्रक्रिया में भी कोयले के कार्बन-अणु हवा के ऑक्सीजन-अणु के साथ संयोजित होते हैं और साथ ही ऊर्जा का विमोचन होता है जो ताप या प्रकाश के रूप में होती है।

यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन और विज्ञान दोनों एक ही तथ्य का निरूपण करते हैं—दृश्य जगत् में पुद्गल का समस्त रूपान्तरण उसके गलन-मिलन धर्म के कारण ही हो रहा है। यह गलन-मिलन की प्रक्रिया स्वाभाविक या प्रयोग-जन्य दोनों रूप में संभव है। एक पौद्गलिक स्कन्ध जो परमाणुओं के संयोग से निर्मित है दूसरे पौद्गलिक स्कन्ध के रूप में परिवर्तित हो सकता है। यहां तक कि जिसे विज्ञान ने मौलिक तत्त्व (element) माना है, वे भी एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं या किए जा सकते हैं। जैसे—रेडियो-क्रिया के परिणामस्वरूप यूरेनियम (जो एक मौलिक तत्त्व है) स्वतः सीसे (Lead) के रूप में परिवर्तित हो जाता है। कृत्रिम प्रयोगों के द्वारा पारे को सोने में बदला जा सकता है।

विज्ञान के अनुसार संसार में कुल तत्त्व 92 हैं। हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक इन 92 तत्त्वों में सोना, चांदी, लोहा, पारा आदि सभी तत्त्वों का समावेश होता है। इनके अणुओं की संरचना भिन्न-भिन्न होने से इनके स्वरूप एवं गुणधर्मों में भिन्नता रहती है। जैसे हाइड्रोजन का अणु-भार केवल एक (इकाई) होता है, तो यूरेनियम का अणु-भार 235 होता है। यह भार अणु के केन्द्र में रहे संहतिवाले लघुकणों के कारण होता है। परिधि पर घुमने वाले लघुकणों में भार नगण्य होता है। केन्द्र कणों में प्रोटोन एवं न्यूट्रोन होते हैं

तथा परिधि के कण इलेक्ट्रॉन कहलाते हैं। पारे का अणु-भार 200 है। उसमें एक प्रोटोन और मिलाया जाय, तो उसका भार 201 हो जाएगा। ऐसा करने पर एक अल्फा कण का विकिरण उस अणु से बाहर निकल जाता है, जिसका भार 4 होता है। ऐसा होने से पीछे अणुभार 197 बचता है, जो सोने के एक अणु का भार है। अर्थात् पारा सोने में बदल गया।

प्राचीन युग में भी पारे से सोने बनाने की विधियाँ थी, ऐसा उल्लेख मिलता है। यद्यपि इस विधि का पूरा ज्ञान अब उपलब्ध नहीं है, फिर भी यह स्पष्ट है कि आणविक विस्फोट की स्थिति पैदा करने से यह हो सकता है। पुद्गल में यदि गलन-धर्म या वियोजक शक्ति का अभाव होता तो सब परमाणुओं का एक पिण्ड बन जाता और यदि मिलन-धर्म की विशेषता से ही समस्त पौद्गलिक जगत् के परिवर्तन हमारे सामने आते हैं। विभिन्न परमाणुओं के संयोग (मिलन) से और विखण्डन (गलन) से इस प्रकार स्कन्धों का परिवर्तन हो सकता है—

क. दो परमाणुओं के संयोग से दो परमाणु वाले एक स्कन्ध का निर्माण होगा, इसे द्वि-प्रदेशी स्कन्ध कहा जाता है। द्वि-प्रदेशी स्कन्ध के विखण्डन से दो परमाणु बनेंगे।

ख. तीन परमाणुओं के संयोग से—1. त्रि-प्रदेशी स्कन्ध बनेगा अथवा 2. द्वि-प्रदेशी स्कन्ध+एक परमाणु।

यह द्वि-प्रदेशी स्कन्ध तीन प्रकार से संभव हो सकता है—जैसे यदि तीन परमाणु अ, ब, स है तो एक विकल्प—अ + ब

दूसरा विकल्प—अ + स

तीसरा विकल्प ब + स

इस प्रकार कुल चार संभावनाएँ हैं।

इसी प्रकार आगे के विकल्प बनाए जा सकते हैं।

10.2.10 पुद्गल संख्या की दृष्टि से अनन्त है, क्षेत्र की दृष्टि से सम्पूर्ण लोकाकाश में पुद्गल व्याप्त है

पुद्गल के दोनों रूप—परमाणु और स्कन्ध संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। स्वतंत्र परमाणुओं की संख्या सदा अनन्त रहती है। उनमें से अनन्त परमाणु प्रति समय स्कन्धों के रूप में परिणत होते रहते हैं तथा स्कन्धों से निकलकर अनन्त परमाणु स्वतंत्र रूप धारण करते रहते हैं। गलन-मिलन स्वभाव वाले पुद्गल-जगत् में यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है फिर भी परमाणुओं की संख्या अनन्त ही बनी रहती है; स्वतंत्र परमाणु की संख्या में वृद्धि या हानि भी हो सकती है, पर सभी पुद्गल स्कन्धों के साथ रहे परमाणुओं और स्वतंत्र परमाणुओं की कुल संख्या अचल बनी रहती है।

स्कन्धों में भी द्वि-प्रदेशी स्कन्ध (यानी दो परमाणुओं से निर्मित) से लेकर अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध (यानी अनन्त परमाणुओं से निर्मित) तक सभी प्रकार के स्कन्धों में प्रत्येक प्रकार के स्कन्धों की संख्या अनन्त है तथा कुल पुद्गल-स्कन्धों की संख्या भी अनन्त है; पर ये संख्याएँ अचल नहीं हैं; इनमें हानि या वृद्धि हो सकती है। हानि-वृद्धि के बावजूद भी प्रत्येक प्रकार के स्कन्धों की संख्या अनन्त से कम नहीं होती।

गुणों (मात्रा) की तरतमता के आधार पर भी परमाणु और स्कन्धों के अनन्त-अनन्त प्रकार हो जाते हैं। जैसे—एक गुण (Unit) काले परमाणु अनन्त हैं यावत् अनन्त गुण काले परमाणु भी अनन्त हैं। इसी प्रकार दो गुण काले, तीन गुण काले आदि परमाणु भी अनन्त-अनन्त हैं। इसी प्रकार एक गुण स्निग्ध, दो गुण आदि भी अनन्त हैं। इसी प्रकार एक गुण स्निग्ध, दो गुण स्निग्ध आदि भी समझने चाहिए। कालान्तर के साथ परमाणु के स्पर्श आदि गुण (qualities) बदल सकते हैं तथा इनकी मात्रा में भी न्यूनाधिकता होती रहती है।

जैसे स्वतंत्र परमाणुओं में गुण एवं गुणों की मात्रा में परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार स्कन्धों में गुण एवं गुणों की मात्रा में भी होता रहता है। इन सारे परिवर्तनों के परिणामस्वरूप पुद्गल-जगत् में पर्यायों का अकल्पित परिवर्तन चलता रहता है। इस निरन्तर चलने वाले पौद्गलिक परिणमनों के बावजूद भी पुद्गल की द्रव्यात्मक शाश्वतता बनी रहती है। इसे ही जैनदर्शन में 'परिणामी-नित्यत्ववाद' की संज्ञा दी जाती है। कुल मिलाकर समग्र पुद्गल-राशि-परमाणुओं की समग्र संख्या-सदा शाश्वत बनी रहती है।

10.2.11 पूरा लोक पुद्गल से भरा हुआ है

पुद्गल अनन्त है—परमाणु और स्कन्ध दोनों अनन्त हैं। क्षेत्र की दृष्टि से ये अनन्त पुद्गल सम्पूर्ण लोक-आकाश में फैले हुए हैं। एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश का अवगाहन करता है; अनन्त परमाणु भी एक प्रदेश में समाविष्ट हो सकते हैं; स्कन्ध भी एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों तक अवगाहन कर सकते हैं। जिस आकाश-प्रदेशों पर एक स्कन्ध है, उन्हीं आकाश-प्रदेशों पर अन्य स्कन्धों का समावेश भी हो सकता है। उत्कृष्टतः एक ही स्कन्ध पूरे लोक आकाश का अवगाहन भी कर सकता है। पुद्गल के परिणमन की विशेषता के कारण असंख्यात प्रदेशात्मक लोक में अनन्त पुद्गलों का समावेश हो जाता है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि सम्पूर्ण लोक में कहीं पर भी खाली स्थान नहीं है अर्थात् जहाँ पुद्गल का अस्तित्व न हो, ऐसा एक आकाश-प्रदेश भी कहीं नहीं मिलता। इस प्रकार पूर्ण आकाश में कहीं पर भी शून्याकाश (Vacuum) नहीं है। पुद्गल जीव को प्रभावित कर रहा है और उससे प्रभावित भी होता है। दोनों में अन्तःक्रिया संभव है।

पुद्गल द्रव्य में ग्रहण नाम का एक गुण होता है। पुद्गल के सिवाय अन्य द्रव्यों में किसी दूसरे द्रव्य के साथ मिलने की शक्ति नहीं है। एक पुद्गल अन्य पुद्गल के साथ मिलने की क्षमता तो रखता ही है, पर इसे अतिरिक्त जीव के द्वारा भी उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्गल स्वयं जाकर जीव से नहीं चिपटता, किन्तु वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर उसके साथ संलग्न हो जाता है। जीव-सम्बद्ध या जीव के साथ बद्ध पुद्गल का जीव पर बहुविध असर होता है। जीव पर पुद्गल का प्रभाव और पुद्गल पर जीव का प्रभाव—यह अन्योन्य प्रभाव या अंतःक्रिया (interaction) ही समस्त जीव-संचार के क्रियाकलापों का मूल आधार है। जीव द्वारा होने वाले पुद्गलों का ग्रहण तीन प्रकार से संभव है—

1. कर्म—अति सूक्ष्म पुद्गलों का प्रत्येक संचारी जीव के साथ सतत सम्बन्ध एवं प्रतिक्रियाएं होती रहती हैं। इन पुद्गलों को ही 'कर्म' (या कर्म-पुद्गल) कहा जाता है। जीव के साथ बंधने के पश्चात् कर्म-पुद्गलों का परिणमन सतत चलता रहता है और जीव को प्रभावित करता रहता है।
2. शरीर—स्थूल पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन के द्वारा स्थूल शरीर और सूक्ष्म पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन से सूक्ष्म शरीर का निर्माण जीव करता है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस् शरीर का निर्माण इस प्रक्रिया से होता है।
3. उपग्रह—श्वासोच्छ्वास, आहार, भाषा और मन के रूप में जीवन की समस्त प्रवृत्तियों में पुद्गल का ग्रहण और परिणमन अनिवार्य है।

इस प्रकार जगत् जीव और पुद्गल के विभिन्न संयोगों का परिणाम है। दृश्य जगत् में विद्यमान सारे सजीव-निर्जीव पदार्थ या तो जीवित-शरीर (सचेतन) हैं या जीव-मुक्त (अचेतन) शरीर हैं।

यद्यपि ग्रहण-गुण के कारण जीव द्वारा पुद्गलों का ग्रहण संभव है, फिर भी जीव सभी पुद्गलों को ग्रहण करने में सक्षम नहीं है। एक स्वतंत्र परमाणु से लेकर असंख्यात-प्रदेश स्कन्ध तक के पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण नहीं किए जा सकते। केवल अनन्त-अनन्त-प्रदेशी स्कन्धों को ही जीव ग्रहण कर सकता है।

पुद्गल केवल सांसारिक जीवों के साथ ही बंध सकता है, मुक्त जीवों पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार मुक्त जीव पुद्गल के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होते हैं तथा परमाणु असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध जीव के प्रभाव से मुक्त रहते हैं।

10.3 पुद्गल का वर्गीकरण

10.3.1 एक भेद

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर पुद्गल का वर्गीकरण विभिन्न रूप से किया जा सकता है। सभी पुद्गल 'पुद्गल' हैं इस दृष्टि से पुद्गल का एक ही प्रकार है। यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से है।

10.3.2 दो भेद

परमाणु और स्कन्ध ये दो प्रकार के पुद्गल हो सकते हैं।

10.3.3 पुद्गल के चार प्रकार

1. स्कन्ध—परमाणु-प्रचय

2. स्कन्ध-देश—स्कन्ध का कल्पित विभाग
3. स्कन्ध-प्रदेश—स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अंश
4. परमाणु—स्कन्ध से पृथक् निरंश-तत्त्व।

प्रदेश और परमाणु में सिर्फ स्कन्ध से पृथग्भाव (अलग होना) और अपृथग्भाव (अलग न होना) का अंतर है।

10.3.4 आठ भेद

दो परमाणुओं से लेकर अनन्त या अनन्त-अनन्त परमाणुओं के संयोग से जो स्कन्ध बनते हैं। उनका वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। उनमें से एक है—जीव के काम में आने की दृष्टि से पुद्गल-स्कन्धों का वर्गीकरण। सूक्ष्म पुद्गल-स्कन्ध जीव के काम में नहीं आते, अतः यह स्पष्ट है कि केवल अनन्त-अनन्त परमाणुओं के संयोग से बनने वाले स्कन्ध ही जीव के लिए उपयोगी बनते हैं। एक ही प्रकार के ऐसे पुद्गल-स्कन्धों की श्रेणी या जाति को 'वर्णा' (class) कहा जाता है। पुद्गल-स्कन्धों की अनन्त वर्णाओं में से मुख्य आठ वर्णाएं जीव के लिए उपयोगी हैं। जीव-सम्बद्ध पुद्गलों का जीव पर बहुविध असर होता है। इस दृष्टि से ये आठ वर्णाएं बताई गई हैं: 1. औदारिक वर्णा, 2. वैक्रिय वर्णा, 3. आहारक वर्णा, 4. तैजस वर्णा, 5. कार्मण वर्णा, 6. श्वासोच्छ्वास वर्णा, 7. भाषा वर्णा, 8. मनोवर्णा।

इनमें पहली पांच वर्णाएं पांच प्रकार के शरीरों के निर्माण में उपयोगी होती हैं। शेष तीन वर्णाएं क्रमशः श्वास-उच्छ्वास, वाणी और मन की क्रियाओं में काम आती हैं।

1. औदारिक—स्थूल पुद्गलों से निष्पन्न रस, रक्त, मांस, सैद, अस्थि, मज्जा, शुक्र रूप षातुमय शरीर का निर्माण जिन पुद्गलों से होता है, वे औदारिक वर्णा के पुद्गल कहलाते हैं। मनुष्य एवं तिर्यच (पशु, पक्षी, कीट, पतंग एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि) जीवों के शरीर औदारिक वर्णा के पुद्गलों से निर्मित होते हैं।
2. वैक्रिय—भांति-भांति के रूप, आकृति (जैसे—छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि) आदि करने में समर्थ शरीर का निर्माण वैक्रिय-वर्णा के पुद्गलों से होता है। देव एवं नारक जीवों को ऐसा शरीर जन्म से ही सहज प्राप्त होता है। वायुकायिक जीव, वैक्रिय-लब्धि (जन्म से नहीं, अपितु विशेष उपक्रम से प्राप्त सामर्थ्य)—सम्पन्न मनुष्य और तिर्यच जीवों को भी यह प्राप्त हो सकता है। वैक्रिय-शरीर रक्त, मांस आदि षातुओं से रहित होता है।
3. आहारक—विशेष तपस्या आदि के उपक्रम से प्राप्त आहारक लब्धि (योग-शक्ति) से निष्पन्न शरीर आहारक वर्णाओं के पुद्गल से निर्मित होता है। इस शरीर का उपयोग चतुर्दशपूर्वधर (विशेष ज्ञज्ञनी) साधु अपनी जिज्ञासा से समाधान के लिए दूर-संचार (tele-communication) में करते हैं। वे अपने ही शरीर में से 'आहारक शरीर' का प्रेषण दूरस्थ सर्वज्ञ को करते हैं और जिज्ञासा का समाधान पाते हैं।
4. तैजस—यह प्रत्येक प्राणी के स्थूल शरीर (औदारिक या वैक्रिय) के साथ रहने वाला सूक्ष्म शरीर है, जो निरन्तर जीव के साथ रहता है। मृत्यु के उपरान्त भी (स्थूल शरीर के छूट जाने के बाद भी) तैजस शरीर का साहचर्य बना रहता है। यह तेजोमय परमाणुओं से निष्पन्न होता है, जिसकी तुलना जैव-विद्युत-प्लाज्मा (Bio-electrical plasma) के साथ की जा सकती है। तैजस वर्णा के पुद्गल विद्युन्मय ऊर्जा के रूप में होने के कारण जीव की पाचन-क्रिया में रासायनिक ऊर्जा का स्रोत है जो पाचन के लिए आवश्यक है। तैजस शरीर विद्युत शरीर की ऊर्जा का विशेष नियमन कर व्यक्ति 'तेजोलब्धि' नामक शक्ति उत्पन्न कर सकता है, जिसकी ऊर्जा की क्षमता सोलह जनपदों को भस्मसात् करने जितनी है। उष्ण तेजोलब्धि दाहक और शीत तेजोलब्धि शामक होती है। वर्तमान-युग में प्रयुक्त आणविक या नाभिक अभिक्रियाओं से प्राप्त ऊर्जा के साथ तेजोलब्धि की तुलना की जा सकती है।

5. **कार्मण**—कर्मों के पुद्गल-समूह इस वर्णा के अंतर्गत आते हैं। कार्मण वर्णा के पुद्गल-समूह जीवों की सत्-असत् क्रिया के प्रतिफल में जीव के साथ बंध जाते हैं, जिससे कार्मण-शरीर का निर्माण होता है। कार्मण-शरीर तैजस शरीर से भी सूक्ष्मतर होता है और तैजस शरीर की तरह सदा जीव के साथ रहता है।
6. **श्वासोच्छ्वास**—श्वास और श्वासोच्छ्वास या आन-प्राण के योग्य पुद्गल-समूह इस वर्णा के अंतर्गत आते हैं। ऑक्सीजन के स्कन्धाणु इस वर्णा के हैं।
7. **भाषा वर्णा**—जब कोई भी जीव वाणी-प्रयोग करता है तब इस वर्णा के पुद्गल-समूह को ध्वनि में परिवर्तित करता है।
8. **मनोवर्णा**—चिन्तन आदि मन की प्रवृत्तियों में सहायक बनने वाले पुद्गल-समूह इस वर्णा के अंतर्गत आते हैं। कोई भी संज्ञी (मनन-शील) प्राणी जब चिन्तन आदि मन की प्रवृत्ति करता है, तो पहले मनोवर्णा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और उनकी सहायता से मनन, चिन्तन आदि क्रियाएं सम्पन्न करता है।

इन वर्णाओं में पांच प्रकार के शरीर का निर्माण करने वाले पुद्गल-स्कन्ध उत्तरोत्तर (क्रमशः) सूक्ष्म और स्कन्ध-परिमाण की अपेक्षा से असंख्य गुने होते हैं तथा तैजस और कार्मण शरीर के पुद्गल-स्कन्ध अनन्त गुने होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ का दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तन हो सकता है, अतः एक वर्णा के पुद्गल वर्णान्तर के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं।

प्रथम चार वर्णाएं तथा श्वासोच्छ्वास वर्णा अष्टस्पर्शी-स्थूल स्कन्ध है। वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन—ये तीन वर्णाएं चतुस्पर्शी हैं अर्थात् सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इनमें केवल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं, शेष चार स्पर्श (हल्का-भारी, मृदु-कठोर) नहीं होते। श्वासोच्छ्वास वर्णा के पुद्गल क्वचित् चतुस्पर्शी भी होते हैं।

10.3.5 विज्ञान में पुद्गल के भेद

आधुनिक विज्ञान भौतिक वास्तविकता को मुख्यतः दो भागों में विभाजित करता है—1. पदार्थ, 2. ऊर्जा। इनका भी पारस्परिक रूपान्तरण अब संभव हो गया है, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं।

अवस्था के आधार पर पदार्थ तीन प्रकार के माने जाते हैं—1. ठोस, 2. तरल, 3. वायु। तापमान के आधार पर अवस्थाओं का रूपान्तरण संभव है।

आधुनिक विज्ञान में मूल तत्वों (elements) के आधार पर विश्व के सभी भौतिक पदार्थों को 103 प्रकारों में बांटा जाता है। पर जैसे हम चर्चा कर चुके हैं परिवर्तन के द्वारा मूल तत्वों में भी रूपान्तरण किया जा सकता है।

इनमें जैनदर्शन का वर्गीकरण अधिक मौलिक प्रतीत होता है, क्योंकि कृत्रिम साधनों द्वारा एक का दूसरे में रूपान्तरण संभव नहीं है। परमाणुओं का स्कन्ध में या स्कन्ध का परमाणुओं में अथवा आठ वर्णाओं का पारस्परिक रूपान्तरण केवल वैज्ञानिक रूप से ही हो सकता है; कृत्रिम (प्रायोगिक) साधनों द्वारा नहीं।

10.3.6 पुद्गल के आकार-प्रकार

पुद्गल द्रव्य की चार प्रकार की स्थिति बतलाई गई है: '1. द्रव्य-स्थानायु 2. क्षेत्र-स्थानायु 3. अवगाहन-स्थानायु 4. भाव-स्थानायु।'

1. परमाणु परमाणुरूप में और स्कन्ध स्कन्धरूप में अवस्थित हैं, वह द्रव्य-स्थानायु है।
2. जिस आकाश-प्रदेश में परमाणु के स्कन्ध अवस्थित रहते हैं, उसका नाम है क्षेत्र-स्थानायु।
3. परमाणु और स्कन्ध का नियत परिणाम में जो अवगाहन होता है, वह है अवगाहन-स्थानायु। क्षेत्र और अवगाहन में इतना अंतर है कि क्षेत्र का सम्बन्ध आकाश-प्रदेशों से है। वह परमाणु और स्कन्ध द्वारा अवगाह होता है तथा अवगाहन का सम्बन्ध पुद्गल द्रव्य से है उनका अमुक परिमाण-क्षेत्र में प्रसरण होता है।
4. परमाणु और स्कन्ध के स्पर्श, रस, गंध और वर्ण की परिणति को भाव-स्थानायु कहा जाता है।

10.3.7 प्राणी-जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—ये छह जीव की मुख्य क्रियाएँ हैं। इन्हीं के द्वारा प्राणी की चेतना का स्थूल बोध होता है। प्राणी का आहार, शरीर, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और भाषा—ये सब पौद्गलिक हैं।

मानसिक चिन्तन भी पुद्गल-सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन के पूर्व क्षण में मनो-वर्णा के स्कन्धों को ग्रहण करता है। उनकी चिन्तन के अनुकूल आकृतियाँ बन जाती हैं। एक चिन्तन से दूसरे चिन्तन में संक्रान्त होते समय पहली-पहली आकृतियाँ बाहर निकलती रहती हैं और नई-नई आकृतियाँ बन जाती हैं। वे मुक्त आकृतियाँ आकाश-मण्डल में फैल जाती हैं। कई थोड़े काल बाद परिवर्तित हो जाती हैं और कई असंख्य काल तक परिवर्तित नहीं भी होती। इस मनो-वर्णा के स्कन्धों का प्राणी के शरीर पर भी अनुकूल एवं प्रतिकूलपरिणाम होता है। विचारों की दृढ़ता से विचित्र काम करने का सिद्धान्त इन्हीं का उपलब्धि है।

यह समूचा दृश्य संसार पौद्गलिक ही है। जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाएँ पुद्गल-निमित्तक होती हैं। तात्पर्य-दृष्टि से देखा जाए तो यह जगत् जीव और परमाणुओं के विभिन्न संयोगों का प्रतिबिम्ब (परिणाम) है। जैन-सूत्रों में परमाणु और जीव-परमाणु की संयोगकृत दशाओं का अति प्रचुर वर्णन है। भगवती, प्रज्ञापना और स्थानांग आदि इसके आकर-ग्रन्थ हैं। 'परमाणु-षट्त्रिंशिका' आदि परमाणु विषयक स्वतंत्र ग्रंथों का निर्माण जैन-तत्त्वज्ञों की परमाणु विषयक स्वतंत्र अन्वेषणा का मूर्त रूप है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओं के विचित्र वर्णन इनमें भरे पड़े हैं। भारतीय वैज्ञानिक जगत् के लिए यह गौरव की बात है।

10.3.8 सृष्टि क्या है?

जीवपुद्गलयोर्विविधसंयोगैः स विविधरूपः।

इयं विविधरूपता एव सृष्टिरिति कथ्यते ।। (जै.सि.दी. 1/8)

लोक में जीव और पुद्गल भरे पड़े हैं। जीव और पुद्गलों का विविध रूपों में संयोग होना, लोक-विविधता का कारण है। यह विविधता सदा से चलती आई है और सदा से चलती रहेगी। इस विविधता को हम सृष्टि, संसार, जगत् या चराचर कहते हैं।

सृष्टि को समझने के लिए यह भी समझना जरूरी है कि जीव और पुद्गल का संयोग कब हुआ? पहले जीव हुआ या पुद्गल?

संयोगश्चापश्चानुपूर्विकः। (जैन सिद्धान्त दीपिका 1/9)

इस प्रश्न के समाधान में भगवान ने कहा—जीव और पुद्गल दोनों शाश्वत हैं। इनमें पौर्वापर्य नहीं है। अर्थात् ये दोनों सदा से हैं और सदा रहेंगे। कोई पहले नहीं, कोई पीछे नहीं। शास्त्रों में इस प्रकार के अनेक प्रश्न आए हैं। पहले मुर्गी या अंडा? पहले बीज या वृक्ष? अण्डे के बिना मुर्गी नहीं होती और मुर्गी के बिना अण्डा आया कहाँ से? बीज के बिना वृक्ष नहीं होता और वृक्ष के बिना बीज पैदा कैसे हुआ? इन सबका उत्तर 'अपश्चानुपूर्व' है। अर्थात् इसमें पूर्व और अपर का क्रम नहीं है। ये दोनों शाश्वत भाव हैं। इस सृष्टि को भी जैनदर्शन में अपश्चानुपूर्व माना गया है।

जीव-पुद्गलों के विविध प्रकार के संयोगों के कारण ही सृष्टि है। अब प्रश्न है कि जीव व पुद्गलों का सम्बन्ध कितने प्रकार का है?

कर्मशरीरोपग्रहरूपेण त्रिविधः।

उपग्रहः-आहार-वाङ्-मनः-उच्छ्वासनिःश्वासाः। (जै.सि.दी. 1/11)

जीव और पुद्गलों का संयोग तीन प्रकार का है—1. कर्म 2. शरीर 3. उपग्रह।

कर्म—जीव जो भी अच्छी या बुरी प्रवृत्ति करता है, उसके प्रतिफल के रूप में जीव के साथ शुभ-अशुभ-कर्मी का संयोग होता है।

शरीर—संसार का प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का संयोग है। शरीर के बिना आत्मा संसार में टिकती नहीं और आत्मा-विहीन शरीर का कोई मूल्य नहीं होता। आत्मा और शरीर वैसे ही मिले हुए हैं, जैसे—दूध और घी, तिल और तेल।

उपग्रह का वाच्यार्थ है—उपकरण। जीवन जीने के लिए आत्मा और शरीर के अतिरिक्त भी प्राणी को अन्य सैकड़ों प्रकार की पौद्गलिक वस्तुओं का संग्रह करना पड़ता है। ये उपकरण कहलाती हैं। इनके बिना सृष्टि का क्रम नहीं चलता। इन उपकरणों का संयोग-वियोग सृष्टि में चलता रहता है।

10.4 सारांश

जीव को अपने जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों को चलाने के लिए विभिन्न रूपों में पुद्गलों को स्वीकार करना होता है। खाना, पीना, चिन्तन करना आदि सभी क्रियाओं में पुद्गलों को अनिवार्यरूप से ग्रहण करता है।

10.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पुद्गलास्तिकाय के समग्र स्वरूप को समझाने के लिए मुख्य आधार-बिन्दुओं का उल्लेख करते हुए उनमें से किन्हीं दो को विस्तार से समझाइए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पुद्गल की परिभाषाओं का विवेचन करें।
2. प्राणी जगत् के प्रति पुद्गल के उपकारों के आधार पर सृष्टि की व्याख्या करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

सही शब्दों की पूर्ति करें:

1. भांति-भांति के रूप आदि करने में समर्थ शरीर का निर्माण पुद्गलों से होना है।
2. शीत और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से स्पर्श और उष्ण तथा रूक्ष की बहुलता से स्पर्श बनता है।
3. स्वभावतः जिनका परिणमन होता है, वे परिणमन हैं।
4. तैजस वर्णना की तुलना के साथ की जा सकती है।
5. परमाणु परमाणुरूप में और स्कन्ध स्कन्धरूप में अवस्थित हैं, वह है।
6. जीव और पुद्गल का संयोग काल की अपेक्षा से है।
7. मनोवर्णना के पुद्गल स्पर्शी हैं।
8. पुद्गल में यदि धर्म का अभाव होता, तो सब परमाणुओं का एक पिण्ड बन जाता।
9. यूरेनियम रेडियो-क्रिया के परिणामस्वरूप स्वतः के रूप में परिवर्तित हो जाता है।
10. पुद्गल स्कन्ध संख्यात, असंख्यात अथवा प्रदेशों से बनता है।



इकाई-11 (अ) : परमाणु-स्वरूप एवं उसकी बंध प्रक्रिया

संरचना

- 11.0 प्रस्तावना
- 11.1 उद्देश्य
- 11.2 परमाणुवाद: इतिहास
 - 11.2.1 जैन परमाणुवाद: प्राचीनतम सिद्धान्त
 - 11.2.2 भगवती में परमाणुवाद
 - 11.2.3 वैशेषिक दर्शन
 - 11.2.4 बौद्ध दर्शन
 - 11.2.5 जैन दर्शन
- 11.3 आधुनिक
- 11.4 जैन दर्शन में परमाणु का स्वरूप
 - 11.4.1 चार प्रकार
 - 11.4.2 परमाणु की परिभाषा
 - 11.4.2.1 अविभाज्यता
 - 11.4.3 आगमिक परिभाषा
 - 11.4.4 ज्यामितिक बिन्दु
 - 11.4.5 आदि-मध्य-अंत-रहित
 - 11.4.6 अन्त्य कारण
- 11.5 द्रव्य और पर्याय
- 11.6 परमाणु की अतीन्द्रियता
- 11.7 परमाणु के गुणधर्म
- 11.8 परमाणु की विस्तृत व्याख्या
- 11.9 क्या परमाणु गति करता है
- 11.10 परमाणु की गति के नियम
- 11.11 परमाणु की प्रतिघाती और अप्रतिघाती
- 11.12 परमाणु का तीव्रतम वेग
- 11.13 परमाणुओं का श्रेणी-विभाग
- 11.14 आधुनिक विज्ञान में परमाणु सिद्धान्त
- 11.15 जैनदर्शन और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन
- 11.16 सारांश
- 11.17 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

पिछले पाठ में पुद्गलास्तिकाय की चर्चा के दौरान 'परमाणु' के विषय में भी आपने कुछ पढ़ा था। अब इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि परमाणुवाद (Atomism) का सर्वप्रथम प्रतिपादन जैन आगमों में उपलब्ध होता है। इस पाठ में हम जैन परमाणुवाद की इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि के संदर्भ में विस्तार से मीमांसा करते हुए परमाणु के स्वरूप को गहराई से समझने की कोशिश करेंगे। आधुनिक विज्ञान ने भी परमाणु के रहस्यों को उद्घाटित करने की दिशा में काफी प्रगति की है, फिर भी अब तक बहुत सारी बातें अनुत्तरित हैं, अज्ञात हैं। क्या अणु (atom) के रूप में जो वैज्ञानिक अवधारणा प्रचलित है, वही जैन दर्शन का

परमाणु है? या उससे भी सूक्ष्म है? क्या विज्ञान ने 'एटम' के विभाजन में जो सफलता अर्जित की है, वह जैन 'परमाणु' की अवधारणा को खण्डित नहीं करता? क्या वास्तव में परमाणु का विभाजन संभव है? क्या परमाणु देखा जा सकता है? आदि-आदि ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर हमें तुलनात्मक एवं अनेकान्तात्मक दृष्टि से चर्चा करनी होगी। कुछ भी हो, यह तो एक बहुत ही रहस्यमय तथ्य है कि 2500 वर्षों पूर्व जैन दार्शनिकों ने जिस सूक्ष्म रूप में परमाणुवाद का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह बिना बाह्य उपकरणों के कैसे संभव हुआ? क्या जैन ज्ञान-मीमांसा के इस प्रतिपादन की वास्तविकता अब भी संदिग्ध है कि चेतना की निरावरण दशा में उसकी सहज ज्ञान-क्षमता इतनी विकसित हो सकती है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म सत्य को भी प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है? अस्तु, पहले हम 'परमाणुवाद' की मीमांसा करें, तत्पश्चात् इस प्रश्न पर भी गहराई से सोचें।

11.1 उद्देश्य—इसके अध्ययन से परमाणुण स्वरूप एवं बंध प्रक्रिया का ज्ञान हो सके।

11.2 परमाणुवाद : इतिहास

जैनदर्शन में प्रतिपादित परमाणुवाद प्राचीनता और मौलिकता दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। जैन परमाणुवाद का सम्बन्ध भगवान पार्श्व (ई.पू. 850) से माना जाय तो इससे अधिक प्राचीन परमाणुवाद का कोई रूप उपलब्ध नहीं होता। भगवान महावीर (ई.पू. 599-527) से माना जाय तो भी वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद और ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रीट्स (ई.पू. 420) से जैन परमाणुवाद प्राचीनतर सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, जिस विस्तार के साथ परमाणु के स्वरूप, गुणधर्म आदि पर जैनदर्शन में प्रकाश डाला गया है, उतना कणादीय या डेमोक्रीट्स के परमाणुवाद में उपलब्ध नहीं होता। कुछ विषय तो ऐसे हैं जहाँ तक आधुनिक विज्ञान भी अभी नहीं पहुँच सका है।

11.2.1 जैन परमाणुवाद : प्राचीनतम सिद्धान्त

यद्यपि कई पश्चिमी विद्वानों का ख्याल है कि भारत में परमाणुवाद यूनान से आया, किन्तु यह सही नहीं है। यूनान में परमाणुवाद का जन्मदाता डेमोक्रीट्स हुआ है। उसके परमाणुवाद से जैनों का परमाणुवाद बहुतांश में भिन्न है, मौलिकता की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जैन दृष्टि के अनुसार परमाणु चेतन का प्रतिपक्षी है, जबकि डेमोक्रीट्स के मतानुसार आत्मा सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकास है।

कई भारतीय विद्वान् परमाणुवाद को कणाद ऋषि की उपज मानते हैं। किन्तु तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो वैशेषिकों का परमाणुवाद जैन-परमाणुवाद से पहले का नहीं है और न जैनों की तरह वैशेषिकों ने उसके विभिन्न पहलुओं पर वैज्ञानिक प्रकाश हो डाला है। विद्वानों ने माना है कि भारतवर्ष में परमाणुवाद के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय जैनदर्शन को मिलना चाहिए। (दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृ. 129) उपनिषद् में अणु शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अणोरणीयान् महतो महीयान्।' किन्तु परमाणुवाद नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं पायी जाती। वैशेषिकों का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नहीं है।

ई.पू. के जैन-सूत्रों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में परमाणु के स्वरूप और कार्य का सूक्ष्मतम अन्वेषण परमाणुवाद के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है। परमाणु के ऐतिहासिक क्रम को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

तीर्थंकर पार्श्वनाथ 877-777 ई.पू.

तीर्थंकर महावीर 599-527 ई.पू.

डेमोक्रीट्स 420 ई.पू.

वैशेषिक दर्शन (महर्षि कणाद)

11.2.2 भगवती में परमाणुवाद

भगवती सूत्र (1/10/442-443) में अन्ययूथिकों के परमाणु-सम्बन्धी मान्यता का उल्लेख कर उसका खण्डन किया गया है। वहाँ बताया गया है—

442. “भंते! अन्य यूथिक ऐसा आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं—

दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति नहीं होती,

दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति किस कारण से नहीं होती?

दो परमाणुपुद्गलों में स्नेहकाय नहीं होता; इसलिए दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति नहीं होती,

तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है,

तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति किस कारण से होती है?

तीन परमाणुपुद्गलों में स्नेहकाय होता है; इसलिए तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है।

वे टूटने पर दो या तीन भागों में विभक्त होते हैं।

दो भागों में विभक्त होने पर एक ओर डेढ़ परमाणु पुद्गल होता है, दूसरी ओर भी डेढ़ परमाणुपुद्गल होता है।

तीन भागों में विभक्त होने पर वे तीन परमाणु पुद्गल हो जाते हैं। चार परमाणुपुद्गल भी इसी प्रकार वक्तव्य हैं।

पांच परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है—यह एकरूप में संहत होकर दुःख रूप में परिणत होते हैं। वह दुःख भी शाश्वत है और सदा सांठित रूप में उपचित तथा अपचित होता है।”

443. “भंते! यह इस प्रकार कैसे होता है?

जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं। गौतम! मैं इस प्रकार आख्यान ... करता हूँ—

दो परमाणु-पुद्गलों की एक संहति होती है।

दो परमाणु-पुद्गलों की एक संहति किस कारण से होती है?

दो परमाणुपुद्गलों में स्नेहकाय होता है; इसलिए उन दो परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है।

वे टूटने पर दो भागों में विभक्त होते हैं। दो भागों में विभक्त होने पर एक ओर एक परमाणु-पुद्गल होता है, दूसरी ओर भी एक परमाणु-पुद्गल होता है।

तीन परमाणु-पुद्गल की एक संहति होती है।

तीन परमाणु-पुद्गलों की एक संहति किस कारण से होती है?

तीन परमाणु-पुद्गलों में स्नेहकाय होता है, इसलिए उन तीन परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है।

वे टूटने पर दो या तीन भागों में विभक्त होते हैं। दो भागों में विभक्त होने पर एक ओर एक परमाणुपुद्गल होता है, दूसरी ओर द्विप्रदेशी स्कन्ध होता है। तीन भागों में विभक्त होने पर तीन परमाणुपुद्गल हो जाते हैं। चार परमाणुपुद्गल भी इसी प्रकार वक्तव्य हैं।

पांच परमाणुपुद्गलों की एक संहति होती है। वे एकरूप में संहत होकर स्कन्ध के रूप में परिणत होते हैं। वह स्कन्ध भी अशाश्वत है और सदा सांठित रूप में उपचित तथा अपचित होता है।”

उक्त सूत्रों का विश्लेषण करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने भगवती भाष्य में लिखा है—“त्रयणुकवाद वैशेषिक दर्शन के द्रव्योत्पाद की प्रक्रिया का सिद्धान्त है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य का उत्पाद संयोग या संघात से होता है। दो परमाणुओं के संयोग से आरब्ध द्रव्य द्रव्यणुक कहलाता है। चार या पांच द्रव्यणुक द्रव्यों के संयोग से आरब्ध द्रव्य त्रयणुक कहलाता है। त्रयणुक को त्रसरेणु और त्रुटि भी कहा जाता है। द्रव्यणुकों से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। परमाणु और द्रव्यणुक दोनों ही अणुत्व-परिमाण वाले होते हैं। सूत्रकार ने पूर्व पक्ष को उद्धृत करते हुए बतलाया है—दो परमाणु-पुद्गलों में स्नेहकाय नहीं होता, इसलिए दो परमाणु-पुद्गलों की एक संहति नहीं होती। संभवतः यह अभिमत प्राचीन वैशेषिक मत का रहा हो अथवा इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि दो परमाणु-पुद्गलों में अणुत्व-परिणाम की निवृत्ति नहीं होती, सूक्ष्म परिणति बनी रहती है। त्रयणुक में स्थूल परिणति हो जाती है; इसलिए उससे द्रव्य उत्पन्न हो सकता है।

वैशेषिक दर्शन में सृष्टि-रचना के सिद्धान्त का नाम ‘आरम्भवाद’ है। उसके अनुसार, दो परमाणु के संयोग से एक नया द्रव्यणुक द्रव्य उत्पन्न होता है, जो कारणभूत दो परमाणुओं से भिन्न होने पर भी उनमें व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार तीन द्रव्यणुकों में से एक त्रयणुक और चार त्रयणुकों में से एक चतुरणुक उत्पन्न होता है। इस क्रम से वैशेषिक दर्शन ने पर्वत, नदी, सूर्य आदि स्थूल सृष्टि की रचना की व्यवस्था की।

11.2.3 वैशेषिक दर्शन

आचार्यश्री तुलसी ने वैशेषिक दर्शन के परमाणु-सम्बन्धी सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए लिखा है (प्रवचन पाथेय, भाग 8, पृ. 54, 55)

‘जालान्तर्गते भानौ, सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।

तस्य षष्ठतमो भागः, परमाणुः प्रकीर्तितः ॥’

‘जाली से होकर सूर्य-रश्मियाँ अंदर आती हैं। उन रश्मियों में सूक्ष्म रजकण तैरते हुए दिखाई पड़ते हैं। उन रजकणों में से एक रजकण के छठे भाग का नाम परमाणु है। यह परिभाषा किसी समय चलती थी पर आज नहीं चल सकती। क्योंकि उस रजकण का सौवां, हजारवां और लाखवां हिस्सा भी किया जा सकता है। जैनदर्शन के इतने सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन को देखकर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि जैन तीर्थंकर अतीन्द्रिय ज्ञानी थे। विज्ञान जहाँ पर आज पहुँचने की चेष्टा में है, वहाँ पर और वहाँ से भी बहुत आगे जैन तीर्थंकर हजारों-हजारों वर्ष पहले पहुँच चुके हैं।’

11.2.4 बौद्ध दर्शन

बौद्ध ग्रंथ ललित-विस्तर में वैशेषिक दर्शन से कुछ अंश में सदृशता रखने वाली गणना ‘परमाणु-रज’ के सम्बन्ध में मिलती है। तदनुसार—

7 परमाणु रज	=	1 रेणु
7 रेणु	=	1 त्रुटि
7 त्रुटि	=	1 वातायन
7 वातायन	=	1 शश-रज
7 शश-रज	=	1 एडक-रज
7 एडक-रज	=	1 लिक्षा-रज
7 लिक्षा-रज	=	1 सर्षप
7 सर्षप	=	1 यव
7 यव	=	1 अंगुली-पर्व
12 अंगुली-पर्व	=	1 वितस्ति
2 वितस्ति	=	1 हस्त
4 हस्त	=	1 धनु
1000 धनु	=	1 कोश
4 कोश	=	1 योजन

बौद्ध-मानों का आधुनिक मानों के साथ जो सम्बन्ध उपलब्ध होता है, उसके आधार पर एक मान्यता के अनुसार : 1 परमाणु रज = 1.0×10^{-10} इंच

(देखें, हिन्दू गणित-शास्त्र का इतिहास, ले. डॉ. विभूतिभूषण दत्त और डॉ. अवधेश नारायण सिंह, (हिन्दी संस्करण), पृ. 177)

11.2.5 जैनदर्शन

जैनदर्शन के अनुसार वास्तविक परमाणु के साथ उक्त भावों की तुलना करने पर भली-भाँति स्पष्ट हो जाएगा कि जैन दर्शन-सम्मत परमाणु की सूक्ष्मता की तुलना में बौद्ध परम्परा में मान्य ‘परमाणु-रज’ बहुत स्थूल है और जैन परम्परा में मान्य ‘व्यावहारिक परमाणु’ से भी स्थूल सिद्ध होता है। ‘परमाणु-रज’ की तुलना जैन-गणना में प्रयुक्त ‘उत्तरलक्षणश्लक्ष्णिका’ नामक स्कन्ध के साथ की जा सकती है।

जैन दर्शन के क्षेत्र-मान जहाँ अति सूक्ष्म जगत् में परमाणु से प्रारम्भ होते हैं, वहाँ अति स्थूल जगत् में ‘रज्जु’ तक चले जाते हैं। पुद्गल-द्रव्य के अंतिम अविभाज्य अंश को ‘परमाणु’ कहते हैं। एक परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है, उतने क्षेत्र को ‘प्रदेश’ कहते हैं। इस प्रकार प्रदेश त्रिविम-आकाश (श्री-डाइमेंशन स्पेस) की इकाई है। दूसरे शब्दों में प्रदेश ‘वास्तविक भौमितिक बिन्दु’ (ट्रि-ज्योमेट्रिकल पॉइन्ट) है। अति सूक्ष्मता के कारण परमाणु असंख्यवहार्य हो जाता है। इसलिए ‘व्यावहारिक परमाणु’ नाम का दूसरा मान स्थापित किया गया है। यह अनन्त परमाणुओं का बना हुआ ‘स्कन्ध’ है। अनन्त व्यावहारिक परमाणुओं का (अर्थात् अनन्तानन्त परमाणुओं का) एक प्रसिद्ध ‘स्कन्ध’ ‘उत्तरलक्षणश्लक्ष्णिका’ बनता है। यह मान दूरत्व की व्यवहार्य इकाई के रूप में है।

व्यावहारिक मानों का कोष्ठक निम्न प्रकार है:

(जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, काल अधिकार; अनुयोगद्वारा सूत्र, उन्मान-प्रमाण विषय के आधार से)

8 उत्तरलक्षणशलक्षिका	=	1 शलक्षणशलक्षिका
8 शलक्षणशलक्षिका	=	1 ऊर्ध्व रेणु
8 ऊर्ध्व रेणु	=	1 त्रस रेणु
8 त्रस रेणु	=	1 रथ रेणु
8 रथ रेणु	=	1 देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र
8 देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र	=	1 हरिवर्ष-रम्यक्वर्ष क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र
8 हरिवर्ष-रम्यक्वर्ष क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र	=	1 हेमवत्-एरण्यवत् क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र
8 हेमवत्-एरण्यवत् क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र	=	1 पूर्वविदेह-अपरविदेह क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र
8 पूर्वविदेह-अपरविदेह क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र	=	1 भरत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र
8 भरत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्य के बालाग्र	=	1 लीक्षा
8 लीक्षा	=	1 यूका
8 यूका	=	1 यवमध्य
8 यवमध्य	=	1 उत्सेव अंगुल
1000 उत्सेव अंगुल	=	1 प्रमाण अंगुल
6 अंगुल	=	1 पाद
2 पाद	=	1 वितस्ति
2 वितस्ति	=	1 हाथ
2 हाथ	=	1 कुक्षि (रिक्कु)
2 कुक्षि	=	1 धनुष
2000 धनुष	=	1 कोश
4 कोश	=	1 योजन
असंख्य योजन	=	1 रज्जु
7 रज्जु	=	1 जगश्रेणी

उक्त कोष्ठक का बौद्ध क्षेत्र-मानों के कोष्ठक के साथ तुलना करने पर दोनों में रहे सादृश्य-वैसादृश्य का पता लगता है। यह तो बहुत स्पष्ट हो ही जाता है कि 'परमाणु-रज' की तुलना में जैनदर्शन का 'परमाणु' और 'व्यावहारिक परमाणु' दोनों बहुत सूक्ष्म हैं।

12.3 आधुनिक परमाणु

वैज्ञानिकों के आधुनिकतम आकलन के अनुसार परमाणु का व्यास 1 इंच के 10 करोड़वें हिस्से जितना होता है। यानी 1 परमाणु = 10^{-8} इंच।

11.4 जैनदर्शन में परमाणु का स्वरूप

यद्यपि 'परमाणु' शब्द व्यवहार में प्रायः 'पुद्गल' के संदर्भ में प्रयुक्त होता है, फिर भी तत्त्वतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से उसके विभिन्न भेद किए जा सकते हैं।

11.4.1 चार प्रकार

भगवतीसूत्र (20/6/37) में परमाणु चार प्रकार का कहा गया है—

1. द्रव्य परमाणु—पुद्गल द्रव्य का अविभाज्य अंश। इसे हम भौतिक विश्व की अंतिम द्रव्यात्मक इकाई (Ultimate substantial unit of physical world) के रूप में कह सकते हैं। हमारे प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध इसी द्रव्य परमाणु से है।
2. क्षेत्र परमाणु—आकाश का अविभाज्य अंश या प्रदेश। इसे आकाश-द्रव्य की अंतिम इकाई (Ultimate unit of space or spacepoint) कहा जा सकता है।
3. काल परमाणु—काल का अविभाज्य अंश या 'समय'। यह काल की अंतिम इकाई (Ultimate unit of time) है।
4. भाव परमाणु—स्पर्श आदि गुणों की अविभाज्य मात्रा या क्वांटम (अविभाज्य राशि)। यह चैदुर्गलिक गुणों की अंतिम इकाई है। गुणों के तात्पर्य की अनन्तता के कारण ये अनन्त होते हैं।
द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से परमाणु अप्रदेशी होते हैं। काल की अपेक्षा से एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा से एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी होता है।

11.4.2 परमाणु की परिभाषा

परमाणु को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है—

11.4.2.1 अविभाज्यता

आचार्यश्री तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका (1/18) में परमाणु को परिभाषित करते हुए सूत्र दिया है—'अविभाज्यः परमाणुः।'

जिसका कोई विभाग न हो सके, जो कभी टूट न सके, उस सूक्ष्मतम पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। यह उसकी संक्षिप्त परिभाषा है। इसका तात्पर्य है—परमाणु समस्त भौतिक अस्तित्व का मूल आधार है—जिसे अंतिम उपादान (Ultimate Building Block) कहा जा सकता है।

11.4.3 आगमिक परिभाषा

आगमिक परिभाषा के अनुसार अछेद्य, अभेद्य, अग्राद्य, अदाद्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। (भगवती 5/7, 154-157) आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी को परमाणु के उपलक्षणों में संदेह हो सकता है, कारण कि विज्ञान के सूक्ष्म यंत्रों में परमाणु की अविभाज्यता सुरक्षित नहीं है।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो उसे परम+अणु नहीं कहा जा सकता। विज्ञान-सम्मत परमाणु टूटता है, उसे भी हम अस्वीकार नहीं करते। इस समस्या के बीच हमें जैन सूत्र अनुयोगद्वार में वर्णित परमाणु-द्विविधता का सहज स्मरण हो आता है। अनुयोगद्वार (प्रमाणद्वार) 'परमाणु दुविधे पन्नत्ते, तं जहा-सूहमेय ववहारियेय।' परमाणु दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं—1. सूक्ष्म परमाणु 2. व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्म परमाणु का स्वरूप वही है, जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदाय से बनता है। (अनुयोगद्वार सू. 399—अणंताणं सूहूमपरमाणुपोगलानं समुदयसमिति-समागयेणं ववहारिय परमाणुपोगले निपफज्जंति) वस्तुवत्त्वा वह स्वयं परमाणं पिण्ड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा नहीं जा सकता। उसकी परिणति सूक्ष्म होती है, इसलिए व्यवहारतः उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन-दृष्टि को भी स्वीकार्य है।

इस प्रकार—अछेद्य, अभेद्य, अग्राद्य, अदाद्य और निर्विभागी पुद्गल-खण्ड को परमाणु कहते हैं। परम+अणु=परमाणु का तात्पर्य है—वस्तु का अंतिम अविभाज्य अंश। वह दो प्रकार का है—निश्चय-परमाणु (absolute ultimate atom) और व्यवहार परमाणु (empirical atom)। वास्तविक सूक्ष्मतम परमाणु निश्चय परमाणु है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्मतम परमाणुओं का समुदाय है। आधुनिक विज्ञान जिसे अणु (atom) की संज्ञा देता है, यह विभाज्य है; अतः उसे केवल व्यावहारिक परमाणु की कोटि में रखा जा सकता है। जो नैश्चयिक परमाणु है, वह इन्द्रियातीत ज्ञान का ही विषय बन सकता है, इन्द्रिय-ज्ञान का नहीं।

11.4.4 ज्यामितिक बिन्दु

परमाणु को एक विशुद्ध ज्यामितिक बिन्दु के रूप में माना जा सकता है, क्योंकि वह अनर्थ (जिसका कोई मध्य-बिन्दु न हो) और अप्रदेशी है। उसमें न लम्बाई है, न चौड़ाई, न गहराई—वह अविम (dimensionless) है। वह अंतिम और अशाश्वत इकाई है।

11.4.5 आदि-मध्य-अंत-रहित

परमाणु वह है जिसका क्षेत्रीय दृष्टि से आदि, मध्य, अंत एक है—या जो अनादि, अमध्य और अनन्त है। उसमें स्पर्श आदि गुणों की विद्यमानता होने पर भी इन्द्रियां उसे ग्रहण नहीं कर सकती।

11.4.6 अन्त्य कारण

परमाणु वह है जिसमें 5 वर्णों में से एक वर्ण है; 2 गंधों में से एक गंध है; 5 रसों में से एक रस है; 8 स्पर्शों में से केवल 2 स्पर्श है—स्निग्ध या रुक्ष, गीत या उष्ण। वह शब्द का कारण है, पर स्वयं शब्द नहीं है। जो स्कन्धों का निर्माण करता है, पर स्कन्ध नहीं है।

आचार्यश्री तुलसी ने परमाणु की परिभाषा एवं उसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए समझाया है—

कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।

एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गाश्च ॥'

जो किसी भी पौद्गलिक पदार्थ का अंतिम कारण है, सूक्ष्म है, नित्य है; एक रस, एक गंध, एक वर्ण व दो स्पर्शयुक्त है जिसका अस्तित्व दृश्यमान कार्यों से जाना जाता है, वह परमाणु है।

इस परिभाषा में परमाणु को पौद्गलिक पदार्थों का अंतिम कारण बताया गया है। जिससे वस्तु निर्मित होती है, वह कारण कहलाता है तथा जो वस्तु निर्मित होती है, उसे कार्य कहा जाता है। मिट्टी का घड़ा बनता है। यहां मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। परमाणु कारण है, कार्य नहीं। क्योंकि परमाणुओं के मिलने से छोटे-बड़े सभी स्कन्ध बनते हैं, परन्तु किसी से नहीं बनता।

अंतिम कारण वह होता है, जिसके बिना कार्य (वस्तु) होता ही नहीं। स्थूल उदाहरण से समझें। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति ने हजार बूंदी को मिलाकर एक लड्डू बनाया। दूसरे व्यक्ति ने पांच-पांच सौ बूंदी के दो लड्डू मिलाकर एक लड्डू बनाया। तीसरे व्यक्ति ने ढाई-ढाई सौ बूंदी के चार छोटे लड्डूओं को मिलाकर एक लड्डू बनाया। इस प्रकार और भी छोटे-छोटे लड्डूओं को मिलाकर एक लड्डू बनाया जा सकता है। पर सबका अंतिम कारण बूंदी है। यदि बूंदी न हो तो लड्डू बन ही नहीं सकता। परमाणु भी अंतिम कारण है। उसके बिना कोई वस्तु/स्कन्ध बन ही नहीं सकता।

परमाणु सर्वाधिक सूक्ष्म है। इसकी सूक्ष्मता की कल्पना आप एक बात में करें। मान लीजिए, किसी व्यक्ति की आंख में बालू का एक कण गिर गया। कण बिल्कुल छोटा-सा है फिर भी आंख उसे सहन नहीं करेगी। वह आंख में रह रहकर रड़कन और पीड़ा उत्पन्न करेगा। आखिर जब उसको निकाला जाएगा, तभी उस व्यक्ति को चैन पड़ेगी। पर एक परमाणु गिर जाए तो कुछ पता ही नहीं चलेगा। एक परमाणु ही क्यों, हजार, लाख, करोड़ ... असंख्य परमाणुओं का स्कन्ध भी गिर जाए तो भी उसको कोई रड़कन या पीड़ा अनुभव नहीं होगी। इनसे भी और आगे कहा जाए तो सूक्ष्म अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का भी उसे कोई अनुभव नहीं होगा। मात्र स्थूल अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का ही अनुभव हो सकेगा। यानी एक सूक्ष्म बालू कण से परमाणु अनन्तगुणा सूक्ष्म है।

ऐसे सूक्ष्म परमाणु को न तो हवा उड़ा सकती है और न पानी ही बहा सकता है। अग्नि उसे जला नहीं सकती। तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण शस्त्र की धार भी उसे काट नहीं सकती और तो क्या, लाखों सैनिकों वाली चक्रवर्ती की सेना भी यदि उनके ऊपर से होकर गुजर जाए तो भी वह उससे सर्वथा अप्रभावित रहेगा, जरा भी इधर से उधर नहीं होगा। परमाणु नित्य है। वह सदा परमाणु था, परमाणु है और परमाणु रहेगा।

चूंकि परमाणु भी पुद्गल ही है, इसलिए उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श अवश्यमेव होते हैं। पर परमाणु एक-प्रदेशी ही होता है, अतः उसमें एक वर्ण, एक रस, एक गंध और दो स्पर्श ही पाए जाते हैं।

परमाणु में कौन-सा एक वर्ण पाया जाता है? इसका कोई निश्चित विधान नहीं है। पांचों वर्णों में से कोई भी एक वर्ण पाया जा सकता है। हां, इतना अवश्य है कि वह एक वर्ण परिवर्तित होता रहता है। यानी श्वेत वर्ण का पीत वर्ण, पीत वर्ण का रक्त वर्ण, रक्त वर्ण का कुष्ण वर्ण ... बन सकता है। इस परिवर्तन का कोई निश्चित क्रम नहीं है। यही स्थिति परमाणु में गंध और रस की भी है। कोई भी एक गंध और एक रस उसमें पाया जा सकता है और परिवर्तन का क्रम भी चलता रहता है।

स्पर्श के बारे में कुछ भिन्न विधान हैं। जहां वर्ण, गंध और रस एक-एक ही पाए जाते हैं, वहां स्पर्श दो पाए जाते हैं—उष्ण और शीत स्पर्श में से एक तथा रूक्ष और स्निग्ध स्पर्श में से एक स्पर्श परमाणु में होता है। ये भी स्थायी नहीं हैं। इनमें भी परिवर्तन होता रहता है।

अब प्रश्न है, जब परमाणु को आंखों से देखा नहीं जा सकता, कान से सुना नहीं जा सकता, हाथ से पकड़ा नहीं जा सकता, तब उसके अस्तित्व को किस आधार पर स्वीकार किया जाए? यह अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। यह तो स्पष्ट है कि परमाणु किसी भी स्कन्ध (कार्य) का अंतिम कारण है। उसके बिना स्कन्ध की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि हमें परमाणु (कारण) दिखाई नहीं देता, सुनाई नहीं देता, पकड़ में नहीं आता। पर कार्य तो दिखाई देता ही है। जब कार्य सामने है तो कारण चाहे प्रत्यक्ष दिखाई दे या न दे, उसके अस्तित्व को कभी नकारा नहीं जा सकता। उसमें संदेह के लिए कहीं कोई अवकाश नहीं रहता। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के हाथ में मक्खन है। मक्खन दूध से निकलता है। यानी दूध मक्खन का अंतिम कारण है। दूध के बिना मक्खन कभी हो ही नहीं सकता। पर उस व्यक्ति ने दूध कभी नहीं देखा। दूध चाहे नहीं देखा, परन्तु जब उसने मक्खन देख लिया तो वह दूध के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता।

आपने धुंआ निकलते देखा। पर धुंआ कहां से निकल रहा है? अग्नि कहां है? यह सब दिखलाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में आप अग्नि को इंकार कर सकते हैं? कभी नहीं कर सकते। क्योंकि धुंआ है तो अग्नि होगी ही। ऐसा कभी हो नहीं सकता कि धुंआ तो मौजूद हो और अग्नि नहीं हो। एक आदमी खूब हृष्ट-पुष्ट है पर कहता है कि मैं दिन में कभी रोटी नहीं खाता। इसका अर्थ है कि रात को अवश्य खाता है, अन्यथा उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सकता। न्याय शास्त्र का एक नियम है कि जब कार्य है तो कारण अवश्यमेव होगा। यह दूसरी बात है कि कारण कभी दिखाई देता है और कभी नहीं भी दिखाई देता। परमाणु को भी हम इसी परिप्रेक्ष्य में देखें। चाहे परमाणु हमें दिखलाई नहीं देता पर जब स्कन्ध दिखलाई देता है तो परमाणु का अस्तित्व स्वतः प्रमाणित है।

परमाणु में एक ही वर्ण पाया जाता है। इस संदर्भ में एक बात और ज्ञातव्य है। एक ही वर्ण के परमाणुओं में परस्पर बहुत बड़ी तत्तमता हो सकती है। उदाहरणार्थ—दो श्यामवर्ण के परमाणु हैं। उन दोनों परमाणुओं की श्यामता में दो गुण से लेकर असंख्य, अनन्त, अनन्तान्त गुण तक अंतर हो सकता है। यानी एक परमाणु एक गुण श्याम है तो दूसरा परमाणु लाख गुण, करोड़ गुण, असंख्य गुण, अनन्तानन्त गुण श्याम हो सकता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक कपड़ा भी काला होता है, एक आदमी भी काला होता है और एक भैंस भी काला होता है। पर इनके कालेपन में बहुत तत्तमता रह जाती है। श्यामवर्ण की तरह सभी वर्णों में इसी प्रकार तत्तमता होती है।

वर्ण की तरह परमाणु की गंध और रस में भी दो गुण से लेकर अनन्तानन्त गुण तक तत्तमता होती है। हम देखते हैं, एक इत्र ऐसा होता है, जिसकी महक दूर-दूर तक फैल जाती है। वहीं दूसरे इत्र की गंध कुछ दूर बैठे व्यक्ति की नाक का भी पूरा विषय नहीं बन पाती। इसी प्रकार रस की तत्तमता भी अनुभव की जा सकती है। दूध मीठा है। मिश्री मीठी है। गुड़ मीठा है। पर इनके मीठेपन में बहुत तत्तमता है। यह तत्तमता जैसा कि पहले बताया गया, उत्कृष्ट रूप में अनन्तानन्त गुण तक हो सकती है।

परमाणु में दो स्पर्श होते हैं। पर स्पर्श की तत्तमता का क्रम पूर्व क्रम की तरह ही है। कुएं का पानी गर्म है। दूध गर्म है। चूल्हा गर्म है। भट्ठी गर्म है। रेल का इंजन गर्म है। पर इनकी गर्मी-गर्मी में बहुत बड़ी तत्तमता है। वर्ण, गंध और रस की तरह ही यह तत्तमता दो गुण से लेकर अनन्तानन्त गुण तक हो सकती है। अब आप समझ गए होंगे कि परमाणु-परमाणु के बीच कितना अंतर हो सकता है। इस

संदर्भ में एक बात और बता दूँ। आज एक परमाणु में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की जो स्थिति है, वह कालान्तर में परिवर्तित भी हो सकती है। आज जो परमाणु कम श्याम है, वह कल अधिक श्याम भी बन सकता है। आज जो परमाणु कम तिक्त है, वह कल अति तिक्त भी हो सकता है।

इस विस्तृत परिभाषा का उपसंहार इस प्रकार किया जा सकता है—

1. परमाणु समस्त भौतिक जगत् का मूल कारण है।
2. वह भौतिक जगत् की अंतिम परिणति है।
3. वह सूक्ष्म है—इन्द्रियग्राह्य नहीं है।
4. वह नित्य है—उसका अस्तित्व सदा बना रहता है; स्कन्ध में मिलने पर भी परमाणु का अस्तित्व समाप्त नहीं होता।
5. उसमें एक रस, एक गंध, एक वर्ण होता है।
6. उसमें दो स्पर्श होते हैं। वह स्निग्ध-शीत, स्निग्ध-उष्ण, रूक्ष-शीत या रूक्ष-उष्ण होता है। उसमें गुरुत्व, लघुत्व, कठोरत्व, कोमलत्व नहीं होता।
7. वह कार्यलिंग है—परमाणु के अस्तित्व का अनुमान उसके कार्य यानी सामूहिक क्रिया से होता है। परमाणु के गुणों का ज्ञान भी सामूहिक गुणों से ही किया जा सकता है। एक अकेले परमाणु को सीधे नहीं जाना जा सकता।

11.5 द्रव्य और पर्याय

सूक्ष्म परमाणु द्रव्य रूप में निरवयव और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय-दृष्टि से वैसा नहीं है। उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते हैं। (ठाणं, 4/135: चउव्विहे पोग्गलपरिणामे पन्नते, तंजहा-वण्णपरिणामे, गंधपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे) एक परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस, और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, इन युगलों में से एक-एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से एक गुण वाला परमाणु अनन्त गुण वाला हो जाता है और अकल गुण वाला परमाणु एक गुण वाला। एक परमाणु में वर्ण से वर्णान्तर, गंध से गंधान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर होना जैन-दृष्टि-सम्मत है।

एक गुण वाला पुद्गल यदि उसी रूप में रहे तो जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल तक रह सकता है (भगवती, 5/7/172) द्विगुण से लेकर अनन्त गुण तक के परमाणु-पुद्गलों के लिए यही नियम है। बाद में उनमें परिवर्तन अवश्य होता है। यह वर्ण-विषयक नियम गंध, रस और स्पर्श पर भी लागू होता है।

11.6 परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु इन्द्रियगत नहीं होता, फिर भी अमूर्त नहीं है, वह रूपी है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह देखा जाता है। परमाणु मूर्त होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होता, इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता।

केवलज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ हैं। इसलिए केवली (सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय-द्रष्टा) तो परमाणु को जानते हैं ही, अकेवली यानी छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी (जिसका आवरण-विलय अपूर्ण है) परमाणु को जान भी सकता है और नहीं भी। अवधिज्ञानी (रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाला योगी) उसे जान सकता किन्तु इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति उसे नहीं जान सकता।

11.7 परमाणु के गुणधर्म

परमाणु पुद्गल है; अतः पुद्गल के मूल गुण-धर्म परमाणु में भी होते हैं। जैसे—

1. परमाणु सत् है, द्रव्य है।
2. परमाणु नित्य, अवस्थित, शाश्वत, अविनाशी है।
3. परमाणु अचेतन है।
4. परमाणु में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श होते हैं; संस्थान नहीं होगा; लम्बाई, चौड़ाई, गहराई नहीं होती।
5. परमाणु परिणामी है; जब वह गति करता है, तब वह गति स्पन्दनात्मक भी हो सकती है, स्थानान्तरणात्मक भी हो सकती है। परमाणु अगुरुलघु यानी संहतिशून्य (Massless) होने से उसका

वेग (Velocity) इतना तीव्र होता है कि वह एक समय में पूरे लोक की दूरी पार कर सकता है।

6. परमाणु मिलन-स्वभाव वाला है, पर उसका भेद नहीं होता। मिलन-स्वभाव के कारण परमाणु अन्य परमाणु या स्कन्ध के साथ मिल सकता है, पर अभेद्य होने के कारण उसका विखण्डन नहीं हो सकता।

7. जीव द्वारा अकेले परमाणु का ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिए वह अग्राह्य है।

11.8 परमाणु की विस्तृत व्याख्या

11.8.1 नामकरण

परमाणु शब्द परम+अणु से बना है। अणु का अर्थ है—किसी भी पदार्थ का छोटा भाग। परम का अर्थ है अंतिम। अंतिम छोटे-से-छोटा हिस्सा परमाणु है।

11.8.2 द्रव्य की दृष्टि से

परमाणु पुद्गलास्तिकाय द्रव्य है। उसमें गुण और पर्याय दोनों होते हैं। संख्या की दृष्टि से परमाणु अनन्त हैं।

11.8.3 क्षेत्र की दृष्टि से

एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश से अवगाहन करता है, एक से अधिक प्रदेशों का अवगाहन नहीं कर सकता। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर परमाणु का अस्तित्व है। अलोकाकाश में परमाणु का अभाव है।

11.8.4 काल की दृष्टि से

प्रत्येक परमाणु अनादिकाल से अस्तित्व में है और अनन्तकाल तक उसका अस्तित्व रहेगा। अतः परमाणु का अस्तित्व सदा बना रहता है।

11.8.5 गुण की दृष्टि से

एक परमाणु में केवल एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श ही होते हैं। इस आधार पर 5 वर्ण, 2 गंध, 5 रस में से एक-एक वर्ण, गंध और रस तथा चार स्पर्शों में से दो-दो स्पर्श होने से मूलतः $5 \times 2 \times 5 \times 4 = 200$ प्रकार के परमाणु हो सकते हैं। परन्तु वर्ण आदि की मात्रा की तरतमता के कारण उसके अनन्त प्रकार हो सकते हैं।

11.8.6 रूपत्व

परमाणु वर्ण आदि गुण-युक्त है; इसलिए मूर्त या रूपी है; पर सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है।

11.8.7 तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से

परमाणु सत् है, उत्पाद, व्यय, श्रौव्य युक्त है। उसका वस्तु-सापेक्ष (Objective) अस्तित्व है। वह केवल काल्पनिक या ज्ञाता-सापेक्ष नहीं है।

11.8.8 भूमिति की दृष्टि से

परमाणु अविम (dimensionless) है, पर अरूपी नहीं। वह भूमितिक बिन्दु है। एक आकाश-प्रदेश का अवगाहन करता है।

11.8.9 परिणमन की दृष्टि से

परमाणु सत् है; इसलिए परिणमनशील है। उसके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणों में परिणमन होता है। अकेले परमाणु के सारे परिणमन वैस्रसिक ही होते हैं, प्रायोगिक नहीं। जब तक परमाणु स्वतंत्र दशा में होता है, परिणमन केवल स्पर्श आदि गुणों की मात्रा में होता है, गुण का प्रकारान्तर नहीं होता। जैसे—काला वर्ण अन्य वर्ण में नहीं बदलता, पर एक गुण (unit) काला परमाणु दो गुण वाला यावत् अनन्त गुण काला हो सकता है। स्कन्ध के साथ प्रतिक्रिया होने के पश्चात् उसके गुणों का प्रकारान्तर भी संभव हो जाता है। अर्थात् उसका वर्ण अन्य किसी वर्ण में बदल सकता है।

11.8.10 शाश्वतता की दृष्टि से

परमाणु अविनाशी है, शाश्वत है, स्वतंत्र अवस्था में या स्कन्ध में वह सदा अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। इसीलिए विश्व (लोक) में परमाणु जितने हैं उतने के उतने सदा बने रहते हैं। न नए परमाणु का जन्म होता है, न विद्यमान परमाणु का विनाश।

11.8.11 अगुरुलघु

परमाणु अलघुगुरु है। गुरुत्व या लघुत्व स्पर्श के प्रकार हैं, जो केवल स्थूल पुद्गलों में होते हैं। वैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो परमाणु संहति-शून्य (massless) है।

11.8.12 परिणामीनित्य

परमाणु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है, पर्याय की दृष्टि से परिणामी है। इसलिए उसे परिणामीनित्य या नित्यानित्य कहा गया है।

11.8.13 अग्राह्य

परमाणु जीव द्वारा अग्राह्य है। सूक्ष्म होने के कारण जीव अकेले (स्वतंत्र) परमाणु को ग्रहण नहीं कर सकता। जीव केवल अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध को ही काम में ले सकता है।

11.8.14 एकत्व-अनेकत्व

मूलभूत द्रव्य के रूप में परमाणु एक है—अकेला है। वह एक स्वतंत्र इकाई है। वह एक अविभाज्य सत्ता है; पर यह अनेक गुण एवं पर्यायों को धारण करने वाला है। इसलिए अनेकत्व का आधार है। क्षेत्र की दृष्टि से वह केवल एक प्रदेशावगाही है।

11.8.15 गति और क्रिया

परमाणु में स्वभावतः गतिशीलता और सक्रियता की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसका अर्थ यही नहीं है कि सभी परमाणु सदा और सर्वत्र सभी स्थितियों में सक्रिय या गतिमान बने रहते हैं। पर उनका झुकाव इस ओर रहता है। किसी भी परमाणु के चंचल बने के विषय में एक प्रकार की अनियतता (uncertainty) होती है। वे कब चंचल बनें—इस विषय में पूर्ण निश्चित कथन नहीं किया जा सकता।

एक परमाणु सीमित समय तक ही एक आकाश-प्रदेश पर स्थिरावस्था में टिक सकता है। एक अवधि के बाद वह परमाणु निश्चित ही स्थिरता को प्राप्त होगा। सक्रियता की अधिकतम कालावधि आवर्तिका का असंख्यातवां हिस्सा या असंख्यातांश है। सक्रियता और अक्रियता का न्यूनतम कालमान एक समय है। इस प्रकार परमाणु की सक्रियता सतत न होकर खण्डित रूप में होती है। इस अवधारणा की तुलना आधुनिक विज्ञान के क्वांटम सिद्धान्त के साथ की जा सकती है। परमाणु क्वचित् स्थिर, क्वचित् चंचल—इस प्रकार बारी-बारी से होता रहता है।

भगवती सूत्र (5/7/150) में परमाणु की गति को इस प्रकार वर्णित किया गया है—परमाणु कभी एजन करता है, कभी वेजन करता है, कभी चलायमान होता है, कभी स्पन्दन करता है, कभी क्षुब्ध होता है, कभी गति में प्रेरित होता है आदि। इस शब्दावली से स्पष्ट होता है कि परमाणु विभिन्न प्रकार से गति करता है। यह गति सरल कम्पन, सरल स्थानान्तरण, जटिल कम्पन, जटिल स्थानान्तरण, दोलन, प्रसारण, ग्रहण, चूर्णन, घर्षण, फिरकन (spin) या तरंग-प्रसार आदि रूप में हो सकती है। 'आदि' शब्द का प्रयोग यह सूचन करता है कि अन्य भी अनेक प्रकार की गति के रूप की संभावना है।

11.9 क्या परमाणु गति करता है?

अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना है कि परमाणु गति करते हैं या नहीं? परमाणु गति करते हैं। पर इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि उनकी गति स्वप्रेरित ही होती है। दूसरों के हिलाए वे नहीं हिलते। परमाणुओं की गति इतनी तेज होती है कि आप शायद कल्पना भी नहीं कर सकते। संसार का तीव्र-से-तीव्र गतिवाला यंत्र भी उनकी गति की तुलना में बहुत पीछे ठहरता है। शास्त्रों में उनकी गति की चर्चा करते हुए बताया गया है कि कोई भी परमाणु एक समय (काल का सूक्ष्मतम हिस्सा) में लोकान्त से

लोकान्त तक जा सकता है। पर इस विषय में कोई प्रतिबद्धता नहीं है। वह गति कर भी सकता है और बहुत लम्बे काल तक गतिविहीन भी रह सकता है।

परमाणु स्वयं गतिशील है। वह एक क्षण में लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, जो असंख्य योजन की दूरी पर है, चला जाता है। गति-परिणाम उसका स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नहीं, मात्र सहायक है। गति का उपादान परमाणु स्वयं है। धर्मास्तिकाय तो उसका निमित्तमात्र है। (भगवती, 15/8/116)

परमाणु सेज (सकम्प) भी होता है और अनेज (अकम्प) भी। कदाचित् वह चंचल होता है, कदाचित् नहीं। इसमें न तो निरन्तर कम्प-भाव रहता है और न निरन्तर अकम्प-भाव भी।

द्वयणुक-स्कन्ध में कदाचित् कम्पन, कदाचित् अकम्पन होता है, वे द्वयंश होते हैं, इसलिए उनमें देश-कम्प और देश-अकम्प ऐसी स्थिति भी होती है।

त्रिप्रदेशी स्कन्धों में कम्प-अकम्प की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है। सिर्फ देश-कम्प के एकवचन और द्विवचन सम्बन्धी विकल्पों का भेद होता है। जैसे एक देश में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता। देश में कम्प होता है, देशों (दो) में कम्प नहीं होता। देशों (दो) में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता।

चतुःप्रदेशी स्कन्ध में देश में कम्प, देश में अकम्प, देश में कम्प और देशों (दो) में अकम्प, देशों (दो) में अकम्प और देश में अकम्प, देश में कम्प और देशों में अकम्प होता है।

पांच प्रदेश यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध की भी यही स्थिति है।

11.10 परमाणु की गति के नियम

परमाणु की गति कुछ संदर्भों में नियमों से नियत है, तो कुछ हद तक अनियतता के सिद्धान्त का अनुकरण करती है। जैसे—

1. यदि बाहर का प्रभाव न हो तो परमाणु की गति सदा अनुश्रेणी (अर्थात् सीधी रेखा में) होगी।
2. यदि बाह्य प्रभाव हो तो परमाणु की दिशा और वेग में अंतर आ सकता है।
3. जीव का परमाणु की गति पर कोई प्रभाव नहीं होता।
4. परमाणु का न्यूनतम वेग अकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर एक समय में होगा और अधिकतम वेग लोक के एक अंत से दूसरे अंत तक एक समय में होगा।
5. अक्रिय अवस्था का अधिकतम काल 'असंख्यात समय' होगा तथा सक्रिय अवस्था का अधिकतम काल 'आवलिका के असंख्यातवै अंश' जितना होगा।

दूसरी ओर परमाणु की अनियतता से सम्बद्ध कुछ नियम हैं—

1. स्थित परमाणु कब चलायमान होगा, यह अनियत है। इसका तात्पर्य हुआ कि परमाणु द्वारा कितने काल के पश्चात् ऊर्जा का प्रसारण होगा, यह नियत नहीं है। यह काल एक समय से लेकर असंख्यात समय तक हो सकता है। असंख्यात समय के पश्चात् तो वह निश्चित सक्रिय होगा ही।
2. सक्रिय परमाणु कितने काल तक सक्रिय रहेगा यह अनियत है। यह काल एक समय से लेकर 'आवलिका के असंख्यातवै अंश' जितना हो सकता है। पर इस अधिकतम कालावधि के पश्चात् तो यह निश्चित ही स्थिर होगा।
3. परमाणु अपनी गति किस दिशा में प्रारंभ करेगा, यह अनियत है। यह किसी भी दिशा में गति कर सकता है।
4. अक्रिय (स्थिर) दशा वाला परमाणु किस प्रकार की क्रिया प्रारम्भ करेगा, यह अनियत है। वह केवल एजन (कम्पन) कर सकता है। या घूर्णन (rotation) या स्थानान्तरण या युगपत् एकाधिक क्रियाएं भी कर सकता है।
5. सक्रिय होने पर उसकी गति का वेग कितना होगा, यह भी अनियत है। वह न्यूनतम, मध्यम या अधिकतम वेग से गति करेगा—यह अनियत है।

11.11 परमाणु की प्रतिघाती और अप्रतिघाती गति

1. परमाणु की गति सामान्यतः अप्रतिघाती होती है अर्थात् विशेष अपवादों को छोड़कर परमाणु की गति का अवरोध न अन्य पुद्गल द्वारा हो सकता है और न जीव द्वारा। मार्ग में आने वाले किसी भी पदार्थ के भीतर से वह आर-पार निकल सकता है।
2. जिस आकाश-प्रदेश पर अन्य पुद्गल हैं, वहां पर परमाणु की अवस्थिति अप्रतिघाती रूप से हो सकती है। अर्थात् परमाणु वहां अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रख सकता है।
3. परमाणु को अपनी गति को प्रारंभ करने में चालू रखने में उस आकाश-प्रदेश पर स्थित अन्य पुद्गलों द्वारा कोई प्रतिघात नहीं होता।

जिन अपवादों के कारण प्रतिघात हो सकता है, वे हैं—

1. उपकाराभाव प्रतिघात—लोक की सीमा से परे गति-स्थिति माध्यम (medium) के अभाव से परमाणु की गति प्रतिहत होती है।
2. बंधन-परिणाम-प्रतिघात—जब परमाणु किसी पुद्गल-स्कन्ध के साथ बंधा हुआ है, तब उसकी गति स्वतंत्र रूप से नहीं होती।
3. अति-वेग-प्रतिघात—अति तीव्र वेग वाले दो परमाणुओं के संघटन या टक्कर होने पर दोनों की गति में प्रतिघात पैदा हो जाता है।

11.12 परमाणु का तीव्रतम वेग

परमाणु एक 'समय' में पूरे लोक की ऊंचाई को पार कर सकता है। इसका तात्पर्य हुआ कि उसका उत्कृष्टतम वेग है—14 रज्जु/समय। एक रज्जु का मान असंख्यात योजन है। 'असंख्यात' का मान जैनदर्शन में प्रदत्त गणितीय आधारों पर निकालने से इस प्रकार प्राप्त है—

असंख्यात x से कम नहीं है जहां माना गया है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार विश्व में उत्कृष्टतम वेग प्रकाश का है जो 3 लाख किलोमीटर/सैकण्ड है। आइंस्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार इससे अधिक वेग किसी भी पदार्थ का होना संभव नहीं है। पर यदि संहति (mass) को शून्य माना जाये तो प्रकाश से अधिक वेग की संभावना की जाती है। आइंस्टीन के पश्चात् आधुनिक विज्ञान में ऐसे सूक्ष्म कणों की संभावना की गई है जिसका वेग प्रकाश से भी अधिक हो। टेक्योन (Tachyon) नामक कणों का अस्तित्व आधुनिक विज्ञान में चर्चा का विषय बना है, जिसकी गति प्रकाश से भी अधिक है। संहति-शून्य (massless) कणों की अवधारणा विशुद्ध गणितीय क्षेत्र से सम्बद्ध है। जैनदर्शन के परमाणु को भी संहति-शून्य मानना होगा तथा इस आधार पर उसके उपर्युक्त उत्कृष्टतम वेग की संभावना की जा सकती है।

11.13 परमाणुओं का श्रेणी-विभाग

परमाणुओं की आठ मुख्य वर्णाएं हैं—

1. औदारक वर्णा—स्थूल पुद्गल-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के शरीर-निर्माण योग्य पुद्गल-समूह।
2. वैक्रिय वर्णा—छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि विविध क्रियाएं करने में समर्थ शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।
3. आहारक वर्णा—योग-शक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।
4. तैजस वर्णा—विद्युन्मय पुद्गल-समूह।
5. कार्मण वर्णा—जीवों की सत् असत् क्रिया के प्रतिफल में बनने वाला पुद्गल-समूह।
6. श्वासोच्छ्वास वर्णा—आन-प्राण के योग्य पुद्गल-समूह।
7. वचन वर्णा—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह।
8. मनो वर्णा—चिन्तन में सहायक बनने वाला पुद्गल-समूह।

इन वर्णानुक्रमों के अवयव क्रमशः सूक्ष्म और अति-प्रचय वाले होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ का दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तन होता है।

वर्णानुक्रम का वर्णानुक्रम के रूप में परिवर्तन होना भी जैन-दृष्टि-सम्मत है।

पहली चार वर्णानुक्रमें अष्टस्पर्शी-स्थूल स्कन्ध हैं। वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन—ये तीन वर्णानुक्रमें चतुःस्पर्शी-सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इनमें केवल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं। गुरु, लघु, मृदु, कठिन—ये चार स्पर्श नहीं होते। श्वासोच्छ्वास वर्णानुक्रम चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी दोनों प्रकार की होती हैं।

11.14 आधुनिक विज्ञान में परमाणु सिद्धान्त

11.14.1 विकास-वृत्त

पदार्थ का मूलभूत कण क्या है? सन् 1803 में डाल्टन ने घोषणा की कि यह मूलभूत कण एटम (परमाणु) है; क्योंकि इसका रासायनिक क्रियाओं द्वारा और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता तथा यह रासायनिक तत्वों का सूक्ष्मतम भाग है। इलेक्ट्रॉन की खोज से पहले तक परमाणु (एटम) को ही पदार्थ का मूलभूत कण माना जाता था।

सन् 1897 में जे.जे. थॉमसन ने प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिखाया कि एटम ही पदार्थ का मूलभूत कण नहीं है अपितु वह दो प्रकार के कणों के द्वारा बना हुआ है, जिन पर विपरीत लेकिन समान मात्रा में आवेश होते हैं। जिन कणों पर ऋणात्मक आवेश होते हैं, वे 'इलेक्ट्रॉन' कहलाते हैं तथा जिन पर धनात्मक आवेश होता है 'प्रोटॉन' कहलाते हैं। इलेक्ट्रॉन पर न्यूनतम संभव ऋणात्मक आवेश होते हैं जोकि (-4.8×10^{-10}) ई.एस.यू. (इलेक्ट्रो-स्टैटिक यूनिट) के बराबर है। इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान 1.2×10^{-28} ग्राम होता है। इसी प्रकार प्रोटॉन पर न्यूनतम संभव धनात्मक आवेश होते हैं तथा वह $(+4.8 \times 10^{-10})$ ई.एस.यू. के बराबर है। प्रोटॉन का द्रव्यमान इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान से लगभग 1837 गुना अधिक या कम होता है।

फिर यह खोज हुई कि एटम में न केवल आवेशित कण (इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन) ही होते हैं बल्कि आवेश-रहित कण भी होते हैं। इन कणों का नाम 'न्यूट्रॉन' रखा गया। न्यूट्रॉन का द्रव्यमान प्रोटॉन के द्रव्यमान के बराबर होता है।

एटम की आकृति को प्रस्तुत करने के लिए समय-समय पर विभिन्न वैज्ञानिकों ने अलग-अलग मॉडल तैयार किए। सन् 1904 में जे.जे. थॉमसन ने एटम की आकृति तरबूज के अनुरूप बतलायी। उसके अनुसार जिस तरह तरबूज में बीज होते हैं उसी प्रकार एटम में इलेक्ट्रॉन बिखरे रहते हैं तथा प्रोटॉन तरबूज के गुद्दे की तरह होते हैं; लेकिन रदरफोर्ड ने थॉमसन की इस बात को गलत साबित कर दिया तथा उसने सन् 1911 में एक नया मॉडल प्रस्तुत किया। अपने प्रयोगों के आधार पर उसने यह सिद्ध किया कि एटम का पूरा धनात्मक आवेश एटम के नाभिक (केन्द्र) में स्थित होता है तथा ऋणात्मक आवेश उस नाभिक के चारों ओर समान रूप से वितरित होते हैं। एटम के नाभिक में न्यूट्रॉन भी स्थित रहते हैं। कुछ समय पश्चात् बोहर (Bohr) नामक वैज्ञानिक ने रदरफोर्ड के मॉडल में संशोधन किया कि इलेक्ट्रॉन नाभिक के चारों ओर समान रूप से व्यवस्थित नहीं होते, बल्कि वे अपनी निश्चित कक्षाओं में केन्द्र के चारों ओर परिभ्रमण करते रहते हैं। विभिन्न कक्षाओं में इलेक्ट्रॉन की एक निश्चित गतिज ऊर्जा होती है।

यदि तांबे के परमाणुओं को एक-के-बाद एक सीधी पंक्ति में रख दिया जाए तो एक इंच के लिए दस करोड़ परमाणुओं की आवश्यकता पड़ेगी। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि एक पिन के माथे पर दस करोड़ से भी अधिक परमाणु फैले होते हैं।

11.14.2 अल्फा, बीटा तथा गामा का क्षय (रेडियोधर्मिता)

भारी एटम के नाभिक अस्थायी होते हैं। ऐसा पाया गया है कि इन नाभिकों में से निरन्तर कुछ-न-कुछ तब तक क्षय होता रहता है जब तक कि ये एक स्थिर/स्थायी नाभिक को प्राप्त नहीं कर लेते। इस क्षयीकरण को 'रेडियोधर्मिता' के नाम से जाना जाता है। इस क्रिया के दौरान नाभिक में से अल्फा, बीटा तथा गामा का उत्सर्जन होता है। अल्फा कण दो प्रोटॉन के बराबर होते हैं। बीटा कण इलेक्ट्रॉन के बराबर

होते हैं तथा गामा किरणों (ऊर्जा) के रूप में उत्सर्जित होते हैं। ये किरणें प्रकृति से विद्युत-चुम्बकीय होती हैं। गामा किरणों में कोई द्रव्यमान नहीं होता, लेकिन कुछ निश्चित ऊर्जा उनमें अवश्य होती है।

इस क्षयीकरण की व्याख्या करने के लिए कई सिद्धान्त दिए गये। वैज्ञानिक गेमो ने अल्फा-क्षय का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, अल्फा कण भारी एटम के नाभिक में पहले से ही स्थित रहते हैं। दूसरी ओर, फरमी नामक वैज्ञानिक ने बीटा कणों के क्षय का कारण बताने के लिए अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसके अनुसार बीटा कण नाभिक में पहले से नहीं रहते बल्कि उनकी उत्पत्ति उत्सर्जन की क्रिया के समय ही होती है। जब नाभिक के अंदर न्यूट्रॉन प्रोटॉन में अथवा प्रोटॉन न्यूट्रॉन में परिवर्तित होते हैं, तब क्रमशः ऋणात्मक बीटा कण (इलेक्ट्रॉन) तथा धनात्मक बीटा कण (पोजीट्रॉन) उत्पन्न होते हैं।

सन् 1827 में पौली (Pauli) नामक वैज्ञानिक ने बीटा कणों के उत्सर्जन के सम्बन्ध में अपनी परिकल्पना प्रस्तुत की। उसने कहा कि बीटा कणों के साथ-साथ अन्य कणों का भी उत्सर्जन होता है, जिन्हें न्यूट्रीनों के नाम से जाना जाता है। जब प्रोटॉन न्यूट्रॉन में परिवर्तित होता है, तब धनात्मक बीटा कणों के साथ न्यूट्रीनों उत्पन्न होता है और जब न्यूट्रॉन प्रोटॉन में परिवर्तित होता है, तब प्रति-न्यूट्रीनो उत्पन्न होता है।

न्यूट्रीनो इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे दूसरे कणों से प्रभावित नहीं होते हैं। ये विद्युत आवेश-रहित तथा संहति-रहित (massless) होते हैं; लेकिन उनमें एक निश्चित ऊर्जा होती है।

11.14.3 क्वाण्टम सिद्धान्त (Quantum Theory)

भारी नाभिकों में से निकलने वाली गामा किरणें अधिक ऊर्जा-सम्पन्न विद्युत-चुम्बकीय तरंगें होती हैं। पाया गया है कि सभी विद्युत-चुम्बकीय तरंगों की ऊर्जा नियमित नहीं होती है, बल्कि अनियमित होती है। इसकी व्याख्या मैक्स प्लैंक नामक वैज्ञानिक ने क्वाण्टम सिद्धान्त की सहायता से की। इसके अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान तक विद्युत चुम्बकीय तरंगों की ऊर्जा का स्थानान्तरण क्वाण्टम के रूप में होता है। क्वाण्टम ऊर्जा की छोटी-से-छोटी इकाई है। फोटॉन विद्युत-चुम्बकीय ऊर्जा के क्वाण्टम का संवाहक (वाहन के समान) है। फोटॉन का एक निश्चित संवेग होता है; लेकिन उसमें न तो संहति होती है और न ही विद्युत-आवेश। फोटॉन की ऊर्जा ($E=h\nu$) से प्रदर्शित की जाती है। वहां h प्लैंक का नियतांक है। विद्युत-चुम्बकीय तरंगों की आवृत्ति (फ्रिक्वेंसी) है।

फोटॉन की तरह ही 'फोनोन' यंत्रिकीय तरंगों की ऊर्जा का वाहक है। इस प्रकार ऊर्जा पदार्थ का ही दूसरा रूप है। वैसे भी आइन्स्टीन के ऊर्जा-द्रव्यमान सम्बन्ध के सिद्धान्त से ऊर्जा तथा द्रव्यमान एक ही वस्तु/पदार्थ के दो पहलू हैं।

11.14.4 प्रारम्भिक कण (Elementary Particles)

हम एटम से सम्बन्धित सभी प्रारम्भिक (मौलिक) कणों की सूची बना सकते हैं। इन कणों को हम इस प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं—1. इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन। 2. न्यूट्रीनो, बीटा कण तथा पोजीट्रॉन। 3. फोटोन, फोनॉन। 4. प्रतिकण (एन्टी-पार्टिकल्स)

इनके अतिरिक्त बहुत से अन्य कण भी एटम से सम्बन्धित हैं, जैसे—मैसॉन, ग्लूओन, बैरिऑन तथा अन्य स्ट्रेंज कण। एटम से सम्बन्धित इस प्रकार के कणों की संख्या सौ से भी अधिक है।

प्रारम्भिक कण पदार्थ तथा विकिरणों के सरलतम कण हैं। इनमें से बहुत से कणों का जीवन-काल बहुत ही अल्प है तथा सामान्यतया वे अस्तित्वहीन हैं। पहले उन सभी कणों को प्रारम्भिक कण कहा जाता था, जिनका पुनः विभाजन न हो सके; लेकिन आजकल इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, मैसॉन, ग्लूओन, बैरिऑन, स्ट्रेंज कण तथा प्रतिकणों के लिए तथा फोटॉन के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है; लेकिन अल्फा कणों तथा ड्यूट्रोन के लिए इसका प्रयोग नहीं करते हैं।

11.14.5 क्वार्क: पदार्थ का मूलभूत कण

समझा जाता था कि विभिन्न प्रारम्भिक कणों की खोज से वैज्ञानिक की पदार्थ के मूलभूत (अंतिम) कणों की खोज-जिज्ञासा समाप्त हो जाएगी; लेकिन ऐसा नहीं हुआ। आज भी बहुत से वैज्ञानिक मूलभूत कणों की खोज में लगे हुए हैं। पाया गया है कि न्यूट्रॉन एक स्थिर कण नहीं है तथा इसका अर्द्ध

जीवन-काल लगभग 12.8 मिनट ही है। न्यूट्रॉन एक प्रोटॉन, एक इलेक्ट्रॉन तथा न्यूट्रिनो में टूट जाता है। प्रोटॉन को हम एटम के मूलभूत कण नहीं मान सकते हैं। ऐसा माना जाता है कि क्वार्क पदार्थ का मूलभूत (अंतिम) कण है तथा इसका और विभाजन नहीं किया जा सकता। सैद्धांतिक रूप से यह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रोटॉन तीन क्वार्कों से मिलकर बना हुआ है। वैज्ञानिक अभी प्रायोगिक तौर पर इसके अस्तित्व को सिद्ध करने में लगे हुए हैं।

11.14.6 मूलभूत कण का वेग

बहुत से वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि प्रकाश का वेग 3×10^{10} से.मी. प्रति सेकण्ड होता है। माइकलसन तथा मोर्ले ने सिद्ध किया कि प्रकाश का वेग किसी भी स्थिति में इससे अधिक नहीं हो सकता है। प्रकाश का वेग नियत है। अब प्रश्न यह है कि क्या किसी वस्तु का वेग प्रकाश के वेग से अधिक हो सकता है? आइन्स्टीन ने इस प्रश्न का उत्तर सापेक्षतावाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित करके दिया। उन्होंने कहा कि किसी भी वस्तु का वेग प्रकाश से अधिक नहीं हो सकता। बहुत समय तक यही माना जाता रहा; लेकिन रूस के वैज्ञानिक कौरनोव ने साबित किया कि कुछ विशिष्ट माध्यम में स्वयं प्रकाश का वेग भी 3×10^{10} से.मी. से अधिक हो सकता है; लेकिन निर्वात में प्रकाश का वेग इतना ही होगा।

11.14.7 आकर्षण के बल

आकर्षण के बल तीन प्रकार के होते हैं। कूलम्ब बल, विद्युत-चुम्बकीय बल तथा नाभिकीय (न्यूक्लीय) बल। सभी प्रारम्भिक कणों को एक साथ ही नाभिक में रखने के लिए जिम्मेदार नाभिकीय बल है। नाभिक तथा इलेक्ट्रॉन को एक साथ एक एटम में रखने के लिए जिम्मेदार विद्युत-चुम्बकीय बल है। कूलम्ब बल एटम के लिए कार्य नहीं करते।

11.15 जैनदर्शन और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन

11.15.1 मूलभूत कण और परमाणु

मूलभूत (अंतिम) कण की परिकल्पना परमाणु की परिकल्पना से मिलती-जुलती है कि यह एक अविभाज्य इकाई है।

1. अब तक लगभग सौ से ऊपर प्रारम्भिक कणों को खोजा जा चुका है। इनमें से कुछ कण मूलभूत (अंतिम या अल्टीमेट) कण नहीं हैं, जैसे—न्यूट्रॉन तथा प्रोटॉन; क्योंकि ये अन्य छोटे कणों में पुनः विभक्त हो जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार, परमाणुओं के दो सौ भेद होते हैं तथा इन सब परमाणुओं के अलग-अलग विशिष्ट गुण होते हैं। यहां यह स्पष्ट है कि अभी इन परमाणुओं को पाने के लिए और अधिक खोज की आवश्यकता है।
2. परमाणु पदार्थ (पदार्थ) का एक द्रव्यमान-रहित (संहति-रहित) कण है। यहां एक सामान्य प्रश्न यह उठ सकता है कि जब परमाणु में द्रव्यमान ही नहीं होता तब वह पदार्थ कैसे हो सकता है? कोई भी भौतिक पिण्ड विभिन्न परमाणुओं से मिलकर बना होता है; लेकिन जब परमाणु में द्रव्यमान ही नहीं होता तब वह पदार्थ कैसे हो सकता है? कोई भी भौतिक पिण्ड विभिन्न परमाणुओं से मिलकर बना होता है; लेकिन जब परमाणु का कोई द्रव्यमान नहीं होता तब उस भौतिक पिण्ड में द्रव्यमान कहां से आ जाता है? इस कथन की व्याख्या वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर की जा सकती है। 'न्यूट्रिनो' एक मूलभूत कण है तथा यह बीटा कणों के क्षय के समय उत्पन्न होता है। यह द्रव्यमान-रहित होता है तथा अन्य कणों के साथ इसका पारस्परिक सम्बन्ध नहीं होता; लेकिन इसकी एक निश्चित ऊर्जा ही होती है। इसी प्रकार बहुत से अन्य कणों के साथ भी होता है। हम परमाणु के बारे में भी कह सकते हैं कि वह द्रव्यमान-रहित है; क्योंकि परमाणु हमेशा गतिशील रहता है, अतः उसकी कुछ निश्चित ऊर्जा अवश्य होती है। वैसे भी आइन्स्टीन के अनुसार ऊर्जा तथा द्रव्यमान पदार्थ के ही गुण हैं। ऊर्जा को द्रव्यमान में तथा द्रव्यमान को ऊर्जा में परिवर्तित किया जा सकता है; अतः परमाणु के बारे में यह कहना कि वह द्रव्यमान-रहित है, सही है।

3. जैसाकि हमने पहले कहा, परमाणुओं के दो सौ भेद होते हैं, लेकिन परमाणु के गुण स्पर्श, रस, गंध तथा वर्ण की तीव्रता के आधार पर परमाणुओं के अनन्त भेद हो सकते हैं। न्यूट्रिनो की धारणा भी कुछ ऐसी है। विभिन्न न्यूट्रिनो की अलग-अलग ऊर्जाएं होती हैं, इनकी यह ऊर्जा इस बात पर निर्भर करती है कि उस समय हुए विकिरण में बीटा कणों की ऊर्जा कितनी है? इसी प्रकार अन्य कणों के साथ भी होता है।
4. विभिन्न नाभिकीय कणों को एक ही नाभिक में रखने के लिए नाभिकीय बल जिम्मेदार है तथा नाभिक और इलेक्ट्रॉनों को एक ही एटम में बनाए रखने के लिए जिम्मेदार विद्युत-चुम्बकीय बल है। जबकि परमाणुओं के स्निग्ध तथा रूक्ष गुण इन्हें एक ही पिण्ड (स्कन्ध) में बनाये रखने के लिए जिम्मेदार हैं। ये दोनों दृष्टिकोण समान प्रतीत होते हैं।
5. किसी भी पिण्ड का वेग चाहे वह बड़ा हो या छोटा, प्रकाश के वेग से अधिक नहीं हो सकता अर्थात् 3×10^{10} से.मी./सेकण्ड से अधिक नहीं हो सकता। विज्ञान का यह एक आधारभूत सिद्धान्त है। परमाणु का वेग प्रकाश के वेग से अधिकतम तक हो सकता है। यहां हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अभी वैज्ञानिकों के पास ऐसे उपकरण का अभाव है जो इतने अधिक वेग नाप सकें। इतना अवश्य है कि प्रकाश का वेग 3×10^{10} से.मी. सेकण्ड से अधिक हो सकता है, जैसाकि वैज्ञानिक कैरनोव ने सिद्ध किया है।
6. प्रकाश बहुत सारे फोटॉनों से मिलकर बना होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या फोटॉन को मूलभूत (अंतिम) कण माना जा सकता है? जैनदर्शन के अनुसार प्रकाश बहुत सारे परमाणुओं का समुदाय है। प्रकाश स्कन्ध के अन्तर्गत आता है; अतः प्रकाश-कणों (फोटॉनों) को परमाणु नहीं माना जा सकता।

11.15.2 द्रव्याक्षरत्ववाद

पुद्गल उत्पाद, व्यय और औव्ययुक्त है। अपनी जाति का त्याग किये बिना नवीन पर्याय की प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व-पर्याय का त्याग व्यय है, द्रव्य के मूल तत्वों का ज्यों-का-त्यों रहना औव्य है। बर्फ गलकर पानी बनता है। इस प्रक्रिया में बर्फ-रूपी पर्याय का व्यय होता है, जल रूपी पर्याय का उत्पाद होता है, किन्तु दोनों अवस्थाओं में पुद्गल-द्रव्य अविनष्ट बना रहता है। इस क्रिया में दो हाइड्रोजन अणुओं (हाइड्रोजन एटम) और एक ऑक्सीजन अणु से बने पानी के अणुगुच्छ (मॉलीक्यूल) नहीं बदलते। पानी के भाप बनने की क्रिया में भी उसके अणुगुच्छ यथापूर्व रहते हैं।

उक्त परिभाषा से दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, जो आधुनिक विज्ञान-सम्मत हैं। एक, पुद्गल (एवं अन्य द्रव्यों) की नित्यता (औव्य) का सिद्धान्त विज्ञान का पदार्थ की अनश्वरता का नियम (लॉ ऑफ इन्डिस्ट्रिक्टबिलिटी ऑफ मैटर) है। इस नियम को प्रसिद्ध वैज्ञानिक लैव्हाइजियर ने 18वीं शती में इन शब्दों में प्रस्तुत किया था—कुछ भी निर्मेय नहीं है और प्रत्येक क्रिया के अंत में पदार्थ की उतनी ही मात्रा रहती है, जितनी उस क्रिया के आरंभ में रहती है। पदार्थों का केवल रूपान्तर (मॉडीफिकेशन) हो जाता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार पदार्थ (मैटर) और ऊर्जा के स्थिरण (कन्जर्वेशन ऑफ मैटर एण्ड एनर्जी) का नियम लागू होता है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि पुद्गल (पदार्थ एवं ऊर्जा) तथा अन्य द्रव्यों को न तो शून्य में विलुप्त किया जा सकता है और न शून्य से बनाया जा सकता है। आधुनिक विज्ञान की भी विश्व (यूनिवर्स) के सम्बन्ध में यह धारणा है।

11.15.3 पदार्थ एवं ऊर्जा (मैटर एण्ड एनर्जी)

आइन्स्टीन के सापेक्षता के सिद्धान्त के पूर्व विज्ञान पदार्थ (मैटर) और ऊर्जा (एनर्जी) को दो विभिन्न द्रव्य मानता था। साथ ही यह धारणा थी कि न तो पदार्थ को ऊर्जा में बदला जा सकता है और न ऊर्जा को पदार्थ में। सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धान्त (स्पेशल थिअरी ऑफ रिलेटिविटी) के $E=mc^2$ -ऊर्जा=(पदार्थ की मात्रा) $\times$ (प्रकाश की गति)² सूत्र के अनुसार पदार्थ को ऊर्जा एवं ऊर्जा को पदार्थ में रूपान्तरित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में पदार्थ और ऊर्जा एक ही द्रव्य के दो रूप हैं। एक किलोग्राम पदार्थ को पूर्णतः रूपान्तरित करके 9×10^{16} जूल (एक माप इकाई) ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। इतनी ऊर्जा से एक छोटे

शहर का बिजली घर कई महीनों तक चलाया जा सकता है। इस प्रकार के पदार्थ और ऊर्जा के परस्पर रूपान्तरण प्रकृति में प्रयोगशाला में, अणु-भट्टियों में और अणु-शस्त्रों में होते रहते हैं।

सारे पदार्थ मॉलीक्यूलों से बनते हैं, प्रत्येक मॉलीक्यूल परमाणुओं (एटमस) के संयोग से बनता है, प्रत्येक परमाणु में एक केन्द्रकण (न्यूक्लियस) और कई इलेक्ट्रॉन होते हैं। प्रत्येक केन्द्रकण में प्रोटॉन एवं न्यूट्रॉन होते हैं, ऋणात्मक (पॉजिटिव) और ऋणात्मक (निगेटिव) विद्युत एक दूसरे को आकर्षित करती हैं। केन्द्रकण से इलेक्ट्रॉन बंधे रहते हैं। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन अणु का केन्द्रकण केवल एक प्रोटॉन होता है और एक इलेक्ट्रॉन उसके चारों ओर चक्कर लगाता रहता है। कार्बन परमाणु के केन्द्र-कण में 6 प्रोटॉन एवं 6 न्यूट्रॉन होते हैं और छह इलेक्ट्रॉन उनकी परिक्रमा करते रहते हैं। परमाणुओं के सम्मिलन से मॉलीक्यूल, क्रिस्टल इत्यादि के बनने में भी ऋणात्मक एवं ऋणात्मक विद्युत आवेश उत्तरदायी है।

जैनदर्शन में स्निग्ध गुण वाले कणों के बंधने से स्कन्ध बनने का भी वर्णन है। केन्द्र कण (न्यूक्लियस) में जो प्रोटॉन बंधे रहते हैं वे ऋणात्मक विद्युत आवेश युक्त हैं। इससे स्पष्ट है कि दो ऋणात्मक विद्युत आवेश-युक्त कणों (पार्टिकल्स) के बीच भी आकर्षण एवं बंधन संभव है। जैनदर्शन का परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इन्द्रियग्राह्य (पर्सिपेबल) का तात्पर्य यदि यह समझा जाए कि परमाणु किसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला के यंत्रों से ग्राह्य (डिटेक्टेबल) नहीं है तो निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक विज्ञान ने जो मौलिक कण (एलीमेंट्री पार्टिकल्स) खोज निकाले हैं, जैनदर्शन के अनुसार वे सब कई परमाणुओं के संयोग से बने स्कन्ध हैं।

जैनदर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सब पदार्थ परमाणुओं से निर्मित हैं। साथ ही, विभिन्न प्रकार की ऊर्जा, आतप (हीट), प्रकाश (लाइट), विद्युत (इलेक्ट्रिसिटी) आदि पुद्गल की पर्याय हैं। इसलिए ऊर्जा में भी परमाणु होने चाहिए जैसे कि जल, स्वर्ण, वायु आदि स्कन्धों में हैं। आधुनिक प्रयोगशालाओं में ऊर्जा (एनर्जी) को पदार्थ (मैटर) के रूप में और पदार्थ को ऊर्जा के रूप में परिवर्तित करने की प्रक्रियाएं होती रहती हैं। इसका तात्पर्य है कि ऊर्जा और पदार्थ दोनों एक ही मौलिक तत्त्व हैं, तथापि आधुनिक विज्ञान पदार्थ को कणात्मक (पार्टिकल आस्पेक्ट) और ऊर्जा को तरंगात्मक (वेव आस्पेक्ट) मानता है; साथ ही ऊर्जा की तरंगें किसी स्थिति (वातावरण) में कणात्मक रूप दर्शाती हैं और पदार्थ के कण समुचित स्थिति में तरंगात्मक रूप दर्शाते हैं। जहां तक मौलिक कणों (एलीमेंट्री पार्टिकल्स) का प्रश्न है, आज के वैज्ञानिक प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन, कई प्रकार के मैसॉन, न्यूट्रिनो, क्वार्क इत्यादि कणों के अनुसंधान में रत हैं। यदि जैनदर्शन का परमाणु इन्द्रियग्राह्य के साथ-साथ यंत्र-ग्राह्य भी नहीं है तो इन सब मौलिक कणों में से कोई भी कण जैनदर्शन का परमाणु नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्यतः जैनदर्शन की पुद्गल की धारणा आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं से मूलरूप से मेल खाती है। सूक्ष्म रूप से दोनों की तुलना कठिन है। लगभग पिछले सौ वर्षों में विज्ञान ने जो प्रगत की है उसमें निःसंदेह पदार्थ और ऊर्जा के विषय में अनगिनत सूक्ष्मतर विवरणों और मौलिक धारणाओं का प्रादुर्भाव हुआ है, जो प्रयोग-सिद्ध है। यह वैज्ञानिक प्रक्रिया आज भी अनवरत चालू है, रुकी नहीं है। लगता है, भविष्य में गहन अध्ययन और अनुसंधान के परिणामस्वरूप आधुनिक विज्ञान और जैनदर्शन की पुद्गल-सम्बन्धी धारणाओं में कुछ तालमेल स्थापित करना संभव होगा।

11.15.4 परमाणु के मूल गुणधर्म

परमाणु के गुणों में जैन दार्शनिकों ने गुरुत्व (भारीपन) और लघुत्व (हलकेपन) को मौलिक स्वभाव नहीं माना है। ये भी विभिन्न परमाणुओं के संयोगज परिणाम हैं। अन्वेषण की दृष्टि से यह संकल्पना भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि आधुनिक विज्ञान भी यह जानने लगा है कि स्थूलत्व से सूक्ष्मत्व की ओर जाते हुए तथाकथित परमाणु के छोटे-छोटे भार आदि गुणों से रहित हो जाते हैं, जैसे फोटॉन, न्यूट्रिनो आदि। जैन दर्शनकारों ने स्निग्धत्व और रूक्षत्व को परमाणुओं के परस्पर बंधन का कारण माना है।

वैज्ञानिकों ने भी परमाणुओं के परस्पर बंधन का कारण ऋण-विद्युत (पॉजिटिव चार्ज)—स्निग्धत्व और ऋण-विद्युत (निगेटिव चार्ज)—रूक्षत्व को माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ने शब्द-भेद से एक ही

बात कह दी है। इससे स्पष्ट है कि स्निग्धत्व और रूक्षत्व इन दो गुणों से धन और ऋण विद्युत पैदा होती है। डॉ. बी.एल. शील ने भी अपनी पुस्तक 'पाजिटीव्स साइंस ऑफ एन्सिएंट हिन्दुज' में इस बात का समर्थन किया है।

जैनदर्शन के अनुसार रूक्ष परमाणु रूक्ष के साथ और स्निग्ध परमाणु स्निग्ध के साथ दो से लेकर अनन्त गुणानुसार की तरतमता से बंधन को प्राप्त होते हैं। भारी ऋणाणु या 'न्यूट्रॉन' इस बात की पुष्टि करता है, क्योंकि यह केवल ऋणाणुओं का ही समुदाय है। इसी प्रकार डॉ. गेलमान के 'क्वार्क-सिद्धान्त' के अनुसार एक प्रोटॉन तीन क्वार्क से मिलकर बना है; जिसमें से एक का आवेश धन $1/3$ तथा दो क्वार्क प्रत्येक धन $2/3$ आवेश के होंगे और इस प्रकार प्रोटॉन का कुल आवेश एक के बराबर होगा।

न्यूट्रॉन भी तीन क्वार्कों से मिलकर बना है, दो ऋण $1/3$ आवेश वाले और एक धन $2/3$ आवेश वाला, जिसमें कुल आवेश शून्य होगा। 'मेसॉन' दो क्वार्कों से मिलकर बना है। डॉ. गेलमान के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि ये गुण स्वतंत्र रूप में ही पाये जाएं। ये केवल बल (फोर्स), ऊर्जा (एनर्जी) अथवा धारा (करंट) के रूप में भी संभव है और इसलिए इन्हें बाहर से शायद कभी नहीं देखा जा सकता। उनकी यह बात जैनदर्शन के परमाणु-सिद्धान्त से कुछ मेल खाती प्रतीत होती है। न्यूट्रॉन्स या भारी ऋणाणु रूक्ष-के-साथ-रूक्ष का बंधन चरितार्थ करता है। 'प्रोटॉन' का 'क्वार्क' स्निग्ध का स्निग्ध के साथ बंधन है। जैन दर्शनकार भी यही कहते हैं कि रूक्ष परमाणु रूक्ष के साथ और स्निग्ध परमाणु स्निग्ध के साथ दो से लेकर यावत् अनन्त गुणानुसार की तरतमता से बंधन को प्राप्त होते हैं। स्निग्ध और रूक्ष परमाणु बिना किसी शर्त के बंध जाते हैं, पर एक गुण रूक्ष और एक गुण स्निग्ध परमाणु कभी बंधन को प्राप्त नहीं होते।

11.15.5 सूक्ष्म परिणमन

आधुनिक भौतिकी की 'क्वाण्टम गतिकी', (जिसे वैज्ञानिक मैक्स प्लांक; नील्स बोहर, लुइस दे ब्रोगली, श्रोडिंगर, हाइजनबर्ग, बोर्न तथा पौली ने विकसित किया) के अनुसार एक गतिशील कण किन्हीं परिस्थितियों में एक कण की भाँति व्यवहार करता है तथा किन्हीं परिस्थितियों में एक तरंग की भाँति। किसी गतिशील कण की सही स्थिति तथा सही वेग का हम एक साथ पता नहीं कर सकते; इन में से यदि एक का मान ठीक से ज्ञात कर भी लिया जाए तो दूसरे के मान में कुछ अनिश्चितता रहती है। किसी गतिशील कण की सही स्थिति तथा वेग को हम एक साथ नहीं जान सकते। उसकी प्राथमिकता (प्राबेबिलिटी) ही ज्ञात की जा सकती है। जैनदर्शन के अनुसार परमाणु की स्वाभाविक गति सरल रेखा में है और वैभाविक गति वक्र रेखा में। परमाणु कम से कम एक समय में एक आकाश-प्रदेश की दूरी तय कर सकता है और अधिक से अधिक उसी समय में चतुर्दश रज्जवात्मक समूचे विश्व की दूरी तय कर सकता है। स्पष्ट है कि अणु-परमाणु कण के गति-सम्बन्धी विचारों में, दर्शन और विज्ञान में समानता भी है और असमानता भी, क्योंकि आधुनिक विज्ञान के अनुसार इलेक्ट्रॉन की गति गोलाकार है।

जैनदर्शन बताता है कि थोड़े से परमाणु विस्तृत आकाश-खण्ड को घेर लेते हैं जिसे परमाणुओं का व्यापतीकरण कहते हैं और कभी-कभी वे परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे से आकाश-देश में समा जाते हैं, जिसे परमाणुओं का समासीकरण कहते हैं। आधुनिक विज्ञान इस बात की पुष्टि करता है। हाल ही में खोजे गये सब-से छोटे तारे के एक क्यूबिक इंच में 16740 मन भार आँका गया है। आधुनिक विज्ञान में कृष्ण-विवर (Black Hole) और जैनदर्शन में कृष्णराजि और तमस्काय का वर्णन बहुत समान हुआ है जिसमें इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। देखें भगवतीसूत्र (भाष्य 6/70-106)

यह सूक्ष्म परिणमन-क्रिया विज्ञान से मेल खाती है। अणु के दो अंग होते हैं—एक मध्यवर्ती नाभिक (न्यूक्लियस) जिसमें धनाणु (प्रोटॉन्स) और न्यूट्रॉन्स होते हैं और दूसरा बाह्य कक्षीय कवच (ऑर्बिटल सेल) जिसमें ऋणाणु चक्कर लगाते हैं। नाभिक का घनफल पूरे अणु के घनफल से बहुत ही कम होता है और जब कुछ कक्षीय कवच अणु से विच्छिन्न हो जाते हैं तो अणु का घनफल कम हो जाता है। ये अणु विच्छिन्न अणु कहलाते हैं। ज्योतिष सम्बन्धी अनुसंधानों से पता चलता है कि कुछ तारे ऐसे हैं जिनका घनत्व हमारी दुनिया की घनतम वस्तुओं से भी 200 गुणित है। एडिंग्टन ने एक स्थान पर लिखा है कि एक टन

(28 मन) नाभिकीय (न्यूक्लियर) पुद्गल हमारे वेस्ट कोट की जेब में समा सकता है। कुछ ही समय पूर्व एक ऐसे तारे का अनुसंधान हुआ है जिसका घनत्व 620 टन (17360 मन) प्रति घन इंच है। इतने अधिक घनत्व का कारण यही है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओं से निर्मित है। उसके अणुओं में केवल नाभिक कण ही हैं, कक्षीय कवच नहीं। जैन सिद्धान्त की भाषा में इसका कारण अणुओं का सूक्ष्म परिणमन है।

11.15.6 परमाणु-ऊर्जा और तेजोलेश्या

परमाणु-शक्ति (न्यूक्लीयर एनर्जी) और तेजोलेश्या में किंचित् साम्य दिखाई देता है। भगवती सूत्र शतक 15 में तेजोलेश्या की प्रक्रिया प्रतिपादित है: 'जो व्यक्ति छह महीने तक बेले का तप करे, ऊर्ध्वबाहु रहकर हमेशा सूर्य की आतापना ले ओर पारणे में एक मुट्ठी उड़द और एक चुल्लू गरम पानी ग्रहण करे, वह तेजोलेश्या को प्राप्त करता है।' तेजोलेश्या परमाणु-शक्ति की भांति ध्वंसकारी बन सकती है। तेजोलेश्या पौद्गलिक है और वह विस्तृत भाव को प्राप्त होकर अंग, बंग, मगध, मलय, मालव—जैसे 16 देशों को एक साथ भस्म कर देती है। क्रुद्ध अनगार में से तेजोलेश्या निकलकर दूर गई हुई दूर गिरती है, पास गयी हुई पास गिरती है। वह जहां गिरती है, वहां उसके अचित् पुद्गल प्रकाश करते यावत् तपते हैं।

आधुनिक परमाणु-ऊर्जा तो केवल उष्मा के रूप में ही प्रकट होती है, पर तेजोलेश्या में उष्णता और शीतलता दोनों गुण विद्यमान हैं। भगवतीसूत्र शतक 15 में तेजोलेश्या के दो भेद बताये गये हैं: उष्ण तेजोलेश्या (न्यूक्लियर एनर्जी), शीतल तेजोलेश्या (एंटीन्यूक्लीयर एनर्जी)।

शीतल तेजोलेश्या उष्ण तेजोलेश्या के प्रभाव को तत्क्षण नष्ट कर सकती है। वैज्ञानिक अभी तक उष्ण तेजोलेश्या अणुबम और उद्जन बम का ही आविष्कार कर पाये हैं, किन्तु अणु-आयुधों का प्रतिकारक अस्त्र उन्हें अभी तक नहीं मिला है। परमाणु-शक्ति दो तरह से उत्पन्न होती है: गलन (परमाणु खण्डन या परमाणु-विगलन; फिसन) से पूरण (परमाणु-संलयन; न्यूक्लीयर फ्यूजन) से। यह परमाणु-विगलन तथा परमाणु-संलयन के सिद्धान्त जैनदर्शन की 'पूरण-गलनधर्मजात् पुद्गलः' की संकल्पना को परिपुष्ट करते हैं। पूरण अर्थात् मिलन या संयोग, गलन अर्थात् वियोग वा पार्थक्य।

11.15.7 भावी संभावना

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक जिस परमाणु (एटम) के अनुसंधान में रत हैं, जैनदर्शन के अनुसार वह अनेक परमाणुओं से संघटित कोई स्कन्ध (मौलीक्यूल) है। क्योंकि जैन शास्त्रों में परमाणु की सूक्ष्मता के विषय में कहा गया है परमाणु इन्द्रियों का एवं प्रयोग का विषय नहीं है अतः वह मनुष्यकृत नाना प्रक्रियाओं से प्रभावित नहीं होता है। जैनदर्शन की परिभाषा के अनुसार इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, फोटॉन, क्वार्क, न्यूट्रिनो आदि में से कोई भी कण परमाणु नहीं है। परमाणु के उदरस्थ जितने भी कण हैं जैन दर्शन मानता है कि वे सूक्ष्मतम, परमाणु या मौलिक कण कहलाने के उपयुक्त नहीं हैं। जैनदर्शनकारों ने परमाणु के दो भेद किये हैं—निश्चय परमाणु और व्यवहार परमाणु। अविभाज्य और सूक्ष्मतमकण निश्चय परमाणु और सूक्ष्मतम स्कन्ध जो इन्द्रिय-व्यवहार में सूक्ष्मतम से लगते हैं, व्यवहार परमाणु हैं। विज्ञान का परमाणु वास्तव में व्यवहार परमाणु ही है।

11.16 सारांश

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जी.ओ. जॉन्स, जै. रोटब्लेट तथा जी.जे. विटरो ने परमाणु और विश्व (एटम एण्ड यूनीवर्स) नामक पुस्तक में जो 1956 ई. में लंदन से प्रकाशित है, स्पष्ट किया है कि "...प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और इलेक्ट्रॉन ये तीन मूलभूत कण माने गये और अब वह संख्या बीस तक पहुंच गयी है (अब यह संख्या बढ़कर 100 हो गई है)। मौलिक अणुओं की यह अप्रत्याशित बढ़त बहुत अस्तोष का विषय है। क्या वास्तव में पदार्थ के इतने टुकड़ों की आवश्यकता है या मूलभूत अणुओं की यह बढ़त पदार्थ मूल सम्बन्धी हमारे अज्ञान की सूचक है? सही तो यह है कि मौलिक कण अर्थात् परम+अणु या परमाणु क्या है? यह पहेली अब तक सुलझ नहीं पायी है।" आशा है भविष्य में विज्ञान और दर्शन के समन्वय से प्राथमिक कण की पहेली को सुलझा कर सत्य के सन्निकट पहुंचा जा सकेगा।

11.17 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन के परमाणुवाद और आधुनिक विज्ञान के परमाणुवाद की तुलना करते हुए बताएं कि भौतिक विश्व के स्वरूप को समझने के लिए इन दोनों को जानना क्यों जरूरी है।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन में प्रदत्त परमाणु की परिभाषाओं के आधार पर परमाणु के मूल स्वरूप को प्रस्तुत करें।
2. काल-क्रम के आधार पर परमाणुवाद के इतिहास को अंकित करते हुए जैनदर्शन एवं बौद्धदर्शन के परमाणु की सूक्ष्मता का तारतम्य स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

सही उत्तर को चिन्हित करें—

1. (क) परमाणु में दो वर्ण, एक गंध, एक रस, एक स्पर्श होते हैं।
(ख) परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस, एक स्पर्श होते हैं।
(ग) परमाणु में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, नहीं होता।
(घ) परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस, दो स्पर्श होते हैं।
2. सबसे प्राचीन परमाणुवाद— (क) डेमोक्रीटस का है। (ख) जैनदर्शन का है।
(ग) कणाद का है। (घ) न्यूटन का है।
3. परमाणु की उत्कृष्ट गति है—(क) एक समय में 14 रज्जु (ख) एक पेकण्ड में 3 लाख किलोमीटर
(ग) आधे समय में 7 रज्जु (घ) एक समय में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर।
4. परमाणु का सर्वाधिक विस्तृत विवेचन जैन आगम में है—
(क) उत्तराध्ययन (ख) भगवती (ग) अनुर्यागद्वार (घ) ठाणं।
5. आधुनिक विज्ञान के अनुसार माने गए मूलभूत कणों में सबसे सूक्ष्म है—
(क) इलेक्ट्रॉन (ख) न्यूट्रिनो (ग) क्वार्क (घ) प्रोटॉन।
6. प्रोटॉन का निर्माण क्वार्कों से होता है—(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) असंख्य
7. (क) जैनदर्शन (ख) बौद्ध दर्शन (ग) आधुनिक विज्ञान (घ) वैशेषिक दर्शन
8. (क) स्थित परमाणु कब चलायमान होगा यह अनियत है।
(ख) परमाणु की समग्र गति नियत है। (ग) सक्रिय परमाणु कितने काल तक सक्रिय रहेगा, यह नियत है।
(घ) अक्रिय परमाणु एजन् की क्रिया नहीं करेगा—यह अनियत है।
9. परमाणु के 200 भेद हो सकते हैं—
(क) आकार के आधार पर (ख) वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की मात्रा के आधार पर
(ग) वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के भेदों के आधार पर (घ) आधुनिक विज्ञान के आधार पर
10. परमाणु को जैन दर्शन ने अस्तित्व की दृष्टि से—
(क) नित्य माना है (ख) अनित्य माना है (ग) नित्यानित्य माना है (घ) न नित्य न अनित्य माना है।



इकाई-11 (ब) : परमाणु, स्कन्ध और उसकी बंध प्रक्रिया

संरचना

- 11.0 प्रस्तावना
- 11.1 उद्देश्य
- 11.2 स्कन्ध
- 11.3 पुद्गल स्कन्ध की पर्याय
 - 11.3.1 शब्द
 - 11.3.2 बन्ध
 - 11.3.3 भेद
- 11.4 सौक्ष्म्य और स्थौल्य
- 11.5 संस्थान
- 11.6 प्रकाश और अंधकार
- 11.7 ताप
- 11.8 आतम, उद्योत, प्रभा
- 11.9 छाया
- 11.10 प्रतिबिम्ब
 - 11.10.1 प्रतिबिम्ब प्रक्रिया और उसका दर्शन
- 11.11 आभामण्डल विज्ञान-सम्मत है
- 11.12 पुद्गल की पर्यायों के अन्य रूप
- 11.13 परमाणु बंध प्रक्रिया
- 11.14 सारांश
- 11.15 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

हमने पिछले पाठों में पुद्गल-द्रव्य के विषय में कुछ मूलभूत तथ्यों की मीमांसा की थी। यह स्पष्ट हो गया है कि सभी पौद्गलिक पदार्थों की संरचना अनेक छोटे-छोटे घटकों की संयोगज निष्पत्ति है। पुद्गल की अंतिम इकाई 'परमाणु' और उनके द्वारा निष्पन्न स्कन्ध का स्वरूप क्या है एवं परमाणुओं के संयोग के द्वारा किन नियमों के आधार पर बंधकर वे स्कन्ध-निर्माण करते हैं—इन सब तथ्यों पर हम प्रस्तुत पाठ में चर्चा करेंगे। पुद्गल की पदार्थों के द्वारा पुद्गल के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट समझने का अवसर भी प्राप्त होगा। साथ ही, वैज्ञानिक दृष्टि से भी इन प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रकाश डाला जाएगा जिससे आधुनिक भौतिक विज्ञान की अवधारणाओं के संदर्भ में जैनदर्शन के निरूपण को हम सरलता से हृदयंगम कर सकेंगे।

11.1 उद्देश्य - इसके अध्ययन से परमाणु स्वरूप एवं बंध प्रक्रिया का ज्ञान हो सकेगा।

11.2 स्कन्ध

पुद्गल-द्रव्य लोक में दो रूपों में उपलब्ध होता है—

1. परमाणु—स्कन्ध से पृथक् निरंश प्रचय।
2. स्कन्ध परमाणु प्रचय।

परमाणु के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हम अगले पाठों में करने जा रहे हैं। स्कन्ध के स्वरूप एवं उसकी मुख्य पर्यायों के माध्यम से उसकी परिणतियों को हम यहां समझने की कोशिश करें।

11.2.1 स्कन्ध-परिभाषा

स्वरूप की दृष्टि से पुद्गल की मूल इकाई परमाणु है, पर पुद्गल का 'स्कन्ध' रूप भी सदा विश्व में विद्यमान रहा है। स्कन्ध की परिभाषा एवं स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका (1/15) में बताया है—

तदेकीभावः स्कन्धः।

तेषां द्वायाद्यनन्तपरिमितानां परमाणूनामेकत्वेनावस्थानं स्कन्धः, यथा द्वौ परमाणू मिलितौ द्विप्रदेशी स्कन्धः,

एवं त्रिप्रदेशी, दशप्रदेशी, संख्येयप्रदेशी, असंख्येयप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी च।

दो से लेकर अनन्त तक के एकीभूत परमाणु स्कन्ध कहलाते हैं। यानी दो, चार, दस, सौ, हजार, करोड़ ... संख्येय, असंख्येय और अनन्त परमाणुओं तक का एक स्कन्ध हो सकता है। दो परमाणुओं से मिलकर बनने वाला द्विप्रदेशी स्कन्ध, तीन परमाणुओं से मिलकर बनने वाला स्कन्ध त्रिप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है। इसी प्रकार दसप्रदेशी, हजारप्रदेशी, लाखप्रदेशी, करोड़प्रदेशी, संख्येयप्रदेशी, असंख्येयप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

हमें केवल अनन्तप्रदेशी स्कन्ध ही दिखलाई देता है। उससे छोटे स्कन्ध हमारी दृष्टि के विषय नहीं बन पाते। अब प्रश्न है कि स्कन्ध केवल परमाणुओं के एकीभाव से ही बनते हैं। या किसी अन्य प्रकार से भी? उसका उत्तर है—“तद्भेदसंघाताभ्यामपि, स्कन्धस्य भेदतः संघातोऽपि स्कन्धो भवति भिद्यमाना शिला संहन्यमानाः तन्तवश्च।” (जै. सि. दी. 1/16)

अर्थात् ‘स्कन्ध का भेद और संघात होने से भी स्कन्ध होता है। भेद से होने वाला स्कन्ध जैसे—एक शिला एक स्कन्ध है उसके टूटने से अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। संघात से होने वाला स्कन्ध, जैसे—प्रत्येक तन्तु स्कन्ध है। उसको समुदित करने से एक नया स्कन्ध बन जाता है।

परमाणुओं के एकीभाव मिलन के अतिरिक्त स्कन्धों के भेद से भी स्कन्ध बनते हैं। एक मोटा लकड़ है। दर्शन की भाषा में वह एक स्कन्ध है। उसे तोड़ कर दो, चार, पांच टुकड़े कर दिए गए। अब उनमें से प्रत्येक टुकड़ा एक स्कन्ध बन गया। एक बीस मीटर कपड़े का धान है। वह एक स्कन्ध है। अब एक-एक मीटर के बीस टुकड़े कर दिए गए तो प्रत्येक टुकड़ा एक स्कन्ध बन गया। स्कन्ध को तोड़ने से तब तक स्कन्ध बनते रहेंगे, जब तक वह परमाणु नहीं बन जाए। यानी जब तक दो प्रदेश अवशिष्ट हैं, तब तक वह स्कन्ध ही कहलाएगा।

स्कन्ध बनने का एक अन्य प्रकार है—स्कन्धों का परस्पर मिलन। दो, चार, सौ, हजार ... स्कन्ध परस्पर एकीभूत होने पर भी स्कन्ध बनता है। उदाहरणार्थ पट्ट एक स्कन्ध है। यह लकड़ी के अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों से मिलकर बना है। ये जितने लकड़ी के टुकड़े हैं, वे सब अलग-अलग स्कन्ध हैं।

यहां यह प्रश्न भी पैदा हो सकता है कि स्कन्ध की तरह क्या परमाणु भी बनता है? एक दृष्टि से परमाणु नहीं बनता। पर चूंकि स्कन्ध के टूटते-टूटते जो अंतिम अविभाज्य खण्ड बच जाता है, वह परमाणु कहलाता है, इसलिए जनभाषा में हम कह सकते हैं कि परमाणु बनता है। उदाहरणार्थ—लड्डू टूटा और बूंदी अलग-अलग बिखर गई। जिस प्रकार एक-एक बूंदी मिलकर एक लड्डू बना था उसी प्रकार लड्डू के टूटने से बूंदी बन गई। परमाणु बनने का यह मात्र प्रकार है। इसके सिवाय और किसी भी प्रकार से परमाणु नहीं बनता।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि स्कन्ध केवल परमाणुओं के एकीभाव को ही कहते हैं या अन्य किसी प्रकार को भी कह सकते हैं?

अविभागी अस्तिकायेऽपि स्कन्धशब्दो व्यवहियते, यथा धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायाः स्कन्धाः।

अर्थात् ‘अविभागी अस्तिकायों के लिए भी स्कन्ध शब्द का व्यवहार होता है। जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय को भी स्कन्ध कहा गया है। यहां हमें यह समझना है कि परमाणुओं के एकीभाव के अतिरिक्त अविभागी अस्तिकायों के लिए भी स्कन्ध शब्द का व्यवहार हुआ है। स्कन्ध दो प्रकार के होते हैं—1. स्वाभाविक, 2. कृत्रिम।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय स्वाभाविक स्कन्ध हैं। क्योंकि वे सदा-सदा से बने हुए हैं। पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध कृत्रिम हैं। वे बनते रहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों का एक-एक स्कन्ध है। जीवास्तिकाय में प्रत्येक जीव का एक स्कन्ध है। पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध अनन्त हैं।

11.2.2 परमाणु-समुदाय—स्कन्ध और परमाणविक जगत्

यह दृश्य जगत् पौद्गलिक जगत् परमाणु-संघटित है। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धों से स्थूल पदार्थ। पुद्गल में संघातक और विघातक—ये दोनों शक्तियाँ हैं। पुद्गल शब्द में ही 'पूरण और गलन' इन दोनों का मेल है। (ठाणं, 2/224-225) दोहिं ठाणेहिं पोग्गला साहण्णंति, सई वा पोग्गला साहण्णंति, परेण वा पोग्गला साहण्णंति एवं भिज्जंति, परिपडंति, परिसंइंति विट्ठसंति।

परमाणुओं के मेल से स्कन्ध बनता है और एक स्कन्ध टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। यह गलन और मिलन की प्रक्रिया स्वाभाविक भी होती है और प्राणी के प्रयोग से भी। कारण पुद्गल की अवस्थाएं सादि-सान्त होती हैं, अनादि-अनन्त नहीं। पुद्गल में अगर वियोजन-शक्ति नहीं होती तो सब अणुओं का एक पिण्ड बन जाता और यदि संयोजक शक्ति नहीं होती तो एक-एक अणु अलग-अलग रहकर कुछ नहीं कर पाते। प्राणी जगत् के प्रति परमाणु का जितना भी कार्य है, वह सब परमाणुसमुदायजन्य है और साफ कहा जाए तो अनन्त परमाणु-स्कन्ध ही प्राणीजगत् के लिए उपयोगी है।

11.2.3 स्कन्ध-भेद की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण

दो परमाणु-पुद्गल के मेल से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के भेद से दो परमाणु हो जाते हैं।

तीन परमाणु मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके अलगाव में दो विकल्प हो सकते हैं—तीन परमाणु अथवा एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

चार परमाणु के समुदाय से चतुःप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उसके भेद के चार विकल्प होते हैं—

1. एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशीय स्कन्ध।
2. दो द्विप्रदेशी स्कन्ध।
3. दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।
4. चारों पृथक्-पृथक् परमाणु।

11.2.4 स्कन्ध की स्थिति (कालावधि)

प्रवाह की अपेक्षा स्कन्ध और परमाणु अनादि-अपर्यवसित (आदि और अंत-सहित) हैं कारण कि इनकी संतति अनादि काल से चली आ रही है और चलती रहेगी। स्थिति की अपेक्षा से यह सादि-सपर्यवसान (आदि और अन्त-रहित) भी है। जैसे परमाणुओं से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध-भेद से परमाणु बन जाते हैं। परमाणु परमाणु के रूप में, स्कन्ध-स्कन्ध के रूप में रहे तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं। (भगवती, 5.8) बाद में तो उन्हें बदलना ही पड़ता है। यह इनकी काल-सापेक्ष स्थिति है। क्षेत्र-सापेक्ष स्थिति परमाणु अथवा स्कन्ध के क्षेत्र में रहने की स्थिति भी यही है।

परमाणु के स्कन्ध रूप में परिणत होकर फिर परमाणु बनने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल लगता है और द्वयणुकादि स्कन्धों के परमाणु रूप में अथवा द्वयणुकादि स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर मूल रूप में आने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल लगता है।

एक परमाणु अथवा स्कन्ध जिस आकाश-प्रदेश में थे और किसी कारणवश वहां से चल पड़े, फिर उसी आकाश-प्रदेश में उत्कृष्टतः अनन्त काल के बाद और जघन्यतः एक समय के बाद ही आ पाते हैं। परमाणु आकाश के एक प्रदेश में ही रहते हैं। स्कन्ध के लिए यह नियम नहीं है। वे एक, दो, संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में रह सकते हैं। यावत् समूचे लोकाकाश तक भी फैल जाते हैं। समूचे लोक में फैले जाने वाला स्कन्ध 'अचित्त महास्कन्ध' कहलाता है।

11.2.5 पुद्गल स्कन्ध का अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व

स्कन्ध-द्रव्य की अपेक्षा से स्कन्ध सप्रदेशी होते हैं। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं वह तत्परिमाणुप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है। क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध सप्रदेशी भी होते हैं और अप्रदेशी भी। जो एक आकाशप्रदेशावगाही होता है, वह अप्रदेशी और जो दो आदि आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह सप्रदेशी।

काल की अपेक्षा से जो स्कन्ध एक समय की स्थिति वाला होता है, वह अप्रदेशी और जो इससे अधिक स्थिति वाला होता है, वह सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा से एक गुण वाला स्कन्ध अप्रदेशी और अधिक गुणवाला सप्रदेशी होता है।

11.3 पुद्गल-स्कन्ध की पर्याय

पुद्गलास्तिकाय के विभिन्न स्कन्धों के स्वरूप को हम उनकी पर्यायों के द्वारा जानते/समझते हैं। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण—ये पुद्गल के मौलिक गुण होने के कारण सदा सभी स्कन्धों में अनिवार्यतः होते ही हैं। इन गुणों की पर्याय भी बदलती रहती हैं। इन गुणों के अतिरिक्त स्कन्धों की पर्याय में जो परिवर्तन होता है, उनके आधार पर पुद्गल-स्कन्धों की जो विभिन्न परिजातियां होती हैं, उनके परिणामस्वरूप पुद्गल-स्कन्ध नाना रूपों को धारण करते रहते हैं। जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल-स्कन्धों का अन्य पुद्गल-स्कन्धों के रूप में परिणमन होने से ही प्रकृति के विभिन्न परिवर्तन घटित होते हैं। यहां कि तक पदार्थ के रूप में विद्यमान पुद्गल-स्कन्ध ऊर्जा के रूप में तथा ऊर्जा के रूप में विद्यमान पुद्गल-स्कन्ध पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो सकता है। प्राचीन वैज्ञानिक अवधारणा में पदार्थ (matter) और ऊर्जा (energy) को दो स्वतंत्र तत्वों के रूप में माना गया था, पर आधुनिक अवधारणा में ऊर्जा को पदार्थ के रूप में एवं पदार्थ को ऊर्जा के रूप में परिणमन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है तथा इसी के आधार पर आइन्स्टीन का प्रसिद्ध समीकरण “ऊर्जा=संहति (पदार्थ) x प्रकाश के वेग का वर्ग” ($E=mc^2$) लागू कर अणुबम जैसे विध्वंसक शस्त्रों का आविष्कार हुआ था।

जैनदर्शन के अनुसार, परमाणुओं के एकीभाव या पृथक्करण के परिणामस्वरूप जो पुद्गल-स्कन्ध बनते हैं, उनकी मुख्य दस अवस्थाएं होती हैं, जो पुद्गल के ही गुणधर्म का कार्य हैं—

1. शब्द (Sound) 2. बन्ध (Fusion) 3. सौक्ष्म्य (Subtlety) 4. स्थौल्य (Grossness)
5. संस्थान (Configuration) 6. भेद (Fission) 7. तम (Darkness) 8. छाया (Shadow)
9. आतप (Sunlight) 10. उद्योत (Moonlight) 11. प्रभा (halo)

ये पौद्गलिक कार्य तीन प्रकार के होते हैं—

1. प्रायोगिक—जीव के प्रयत्न से होने वाले।
2. वैस्रसिक—जीव के स्वभाव से होने वाले।
3. मिश्र—जीव के प्रयत्न और स्वभाव—दोनों के संयोग से होने वाले।

जैन सिद्धान्त दीपिका के अनुसार, शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तम-छाया-तपोद्योत-प्रभावांश्च (1/15) अर्थात् “शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत, प्रभा आदि पुद्गल के लक्षण (धर्म) हैं। ये सब पुद्गल की विभिन्न पर्यायें हैं।”

11.3.1 शब्द

जैन दार्शनिकों ने शब्द को केवल पौद्गलिक कहकर ही विश्राम नहीं लिया किन्तु उसकी उत्पत्ति, शीघ्रगति, लोक-व्यापित्व, स्थायित्व आदि विभिन्न पहलुओं पर पूरा प्रकाश डाला है (प्रज्ञापना, पद 11)। यह विवेचन उस समय का है जबकि रेडियो, वायरलेस आदि का अनुसंधान नहीं हुआ था। हमारा शब्द फैलते-फैलते लोकव्यापी बन सकता है, यह सिद्धान्त भी आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था। तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुधोष घण्टा का शब्द असंख्य योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है। (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र)

वक्ता बोलने से पूर्व भाषा वर्णना के पुद्गल-स्कन्धों को ग्रहण करता है, भाषा के रूप में उनका परिणमन करता है और अंत में उनका उत्सर्जन करता है। उत्सर्जन के द्वारा बाहर निकले हुए भाषा-पुद्गल आकाश में फैलते हैं। वक्ता का प्रयत्न अगर मंद है तो वे पुद्गल अभिन्न रहकर जल-तरंग-न्याय से असंख्य योजन तक फैलकर शक्तिहीन हो जाते हैं और यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो वे भिन्न होकर दूसरे असंख्य स्कन्धों को ग्रहण करते-करते अतिशीघ्र सुदूर तक चले जाते हैं। हम जो सुनते हैं वह वक्ता का मूल शब्द नहीं सुन पाते। वक्ता का शब्द श्रेणियों-आकाश प्रदेश की पंक्तियों में फैलता है। ये श्रेणियां वक्ता

के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊँची और नीची—छहों दिशाओं में हैं। हम शब्द की सम-श्रेणी में होते हैं तो मिश्र शब्द सुनते हैं अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द-द्रव्यों और उनके द्वारा वासित (भावित) शब्द द्रव्यों को सुनते हैं। यदि हम विश्रेणी-विदिशा में होते हैं तो केवल वासित शब्द ही सुन पाते हैं।

शब्द क्यों होता है? कैसे होता है? आप अपने कमरे और खिड़की के दरवाजे बंद करते हैं तो आवाज क्यों होती है? इसीलिए कि दो कपाटों का परस्पर संधान होता है। इसी प्रकार जब आप दरवाजे खोलते हैं, तब भी आवाज होती है। यह ध्वनि और आवाज इसीलिए है कि दो कपाट अलग-अलग हो रहे हैं। दरवाजे ही क्यों, कोई भी दो वस्तुओं का संघात या भेद होता है तो ध्वनि अवश्यभावी है। इस प्रकार एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने या किसी स्कन्ध के टूटने से जो ध्वनि-रूप परिणाम उत्पन्न होता है, उसे शब्द कहते हैं। शब्द कर्ण-श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। परमाणु शब्द उत्पन्न नहीं कर सकता।

जैनदर्शन के अनुसार शब्द पुद्गल की पर्याय है। नैयायिक दर्शन शब्द को आकाश का गुण मानता है। इसके पीछे उनका तर्क है कि शब्द आकाश में होता है। ठीक है, शब्द आकाश में होता है। पर आकाश में होने मात्र से वह आकाश का गुण नहीं हो सकता। आकाश में तो गति भी होती है। यदि आकाश में होने मात्र से शब्द का गुण हो तो अति को भी आकाश का गुण मानना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं माना जाता। अतः उनके उपरोक्त तर्क का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात और है—

“मूर्तोऽयं नहि अमूर्तस्य आकाशस्य गुणो भवति, श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वात्, न च श्रोत्रेन्द्रियममूर्तं गृह्णाति इति।”

शब्द मूर्त है। इसलिए वह अमूर्त आकाश का गुण नहीं हो सकता। जो जिसका गुण होता है, वह सदा उसके समान ही होता है। उसका विरोधी नहीं हो सकता। पूछा जा सकता है, शब्द मूर्त है इसका क्या प्रमाण? यदि मूर्त न हो तो श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा उसका कभी ग्रहण नहीं हो सकता। यह उसकी मूर्तता का सबसे पुष्ट प्रमाण है। अमूर्त को आंख कभी नहीं देख सकती। शब्द यदि अमूर्त है तो वह कान के द्वारा कैसे सुना जाएगा?

उत्पत्ति की दृष्टि से शब्द के मुख्य दो प्रकार हैं—1. प्रायोगिक 2. वैस्रसित।

प्रायोगिक शब्द के दो प्रकार हैं—

1. भाषात्मक—भाषा-युक्त शब्द। कोई प्रवचन कर रहा है, यह भाषात्मक शब्द है। मनुष्य, पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियां भाषात्मक हैं।
2. अभाषात्मक—बिना भाषा का शब्द। किसी ने ताली बजाई। शब्द हुआ। पर यह शब्द भाषारहित है। प्रकृति-जन्य और वाद्य-यंत्रों से उत्पन्न ध्वनियां अभाषात्मक हैं।

वैस्रसिक—अप्रयत्नजन्य शब्द। स्वाभाविक या प्राकृतिक या सहजरूप से अर्थात् अपने आप होने वाला शब्द। आप यह कभी न समझें कि सभी शब्द प्रयत्नपूर्वक होते हैं। बहुत से शब्द सहज रूप में भी होते हैं। मेघ-गर्जना होती है। यह स्वाभाविक ध्वनि है। सहज रूप से बादल आपस में टकराए और ध्वनि हो गई।

भाषात्मक के दो भेद हैं—1. अक्षरात्मक 2. अनक्षरात्मक। पहले वर्ग में ऐसी ध्वनियां आती हैं जो अक्षरबद्ध की जा सके और लिखी जा सके। दूसरे वर्ग में रोने-चिल्लाने, खांसने-फुसफुसाने आदि की तथा पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियां आती हैं जिन्हें अक्षरबद्ध नहीं किया जा सकता।

अभाषात्मक के दो भेद हैं—1. वैस्रसिक 2. प्रायोगिक। वाद्य-यंत्रों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियां दूसरे वर्ग में आती हैं। इसके चार प्रकार होते हैं—तत, वितत, घन, शुषिर।

1. **तत**—जो ध्वनि चर्म-तनन आदि झिल्लियों के कम्पन से उत्पन्न होती है। जैसे—भेरी, तबला, ढोलक आदि आघात वाद्य (percussion instruments)।
2. **वितत**—वीणा आदि तंत्रि-यंत्रों (string instruments) में तंत्री (तार) के कम्पन से उत्पन्न ध्वनि। जैसे—वीणा, तम्बुरा, सितार आदि।
3. **घन**—घण्टा आदि ठोस (घन) द्रव्यों के अभिघात से उत्पन्न ध्वनि। जैसे—घण्टा, ताल आदि।
4. **शुषिर**—बंसी आदि में रहे रिक्त स्थान में रहे वायु-प्रतर के कंपन से उत्पन्न ध्वनि। जैसे—बंसी, शंख आदि।

एक अन्य अपेक्षा से शब्द के तीन भेद किए जाते हैं—

1. जीवशब्द—जीव द्वारा किया गया शब्द। पक्षी चहकते हैं, कुत्ता भौंकता है, आदमी बोलता है—ये सब जीव शब्द के उदाहरण हैं।
2. अजीवशब्द—अजीव द्वारा होने वाला शब्द। मेघ गर्जन इत्यादि।
3. मिश्रशब्द—जीव और अजीव दोनों के योग से होने वाला शब्द। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति वीणा बजा रहा है। व्यक्ति जीव है और वीणा अजीव है। शब्द दोनों के योग से होता है। अकेला व्यक्ति या अकेली वीणा से शब्द उद्भूत नहीं होता।

11.3.2 बन्ध (Fusion) “संश्लेषः बन्धः” (जै.सि.दी. 1/15)

‘बंध’ शब्द का अर्थ है संश्लेष या संयोग। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो अवयवों का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप में परिणमन होता है, उसे बंध कहा जाता है। ‘संयोग’ में केवल अंतर-रहित अवस्थान होता है, किन्तु बंध में एकत्व होता है। रसायन-शास्त्र में संयोग को मिश्रण (mixture) और ‘बंध’ को ‘यौगिक’ (compound) कहते हैं। जैसे रेत और चीनी के कणों को मिलाने से ‘मिश्रण’ होगा, परन्तु ‘पानी’ हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का यौगिक (H_2O) है। तात्पर्य यह हुआ कि दो, तीन, चार, पांच, दस... सौ... पुद्गलों का परस्पर मिलान होकर जुड़ जाना बंध है। बंधना, जुड़ना, मिलाना, संयुक्त होना। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो अवयवों का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप में परिणमन होता है, उसे बंध कहा जाता है। दो से अधिक परमाणुओं का भी बंध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कन्धों का भी। इसी तरह एक या एक से अधिक परमाणुओं का एक या एक से अधिक स्कन्धों के साथ भी बंध होता है। पुद्गल-परमाणुओं (कार्मण वर्णाओं) का जीव द्रव्य के साथ भी बंध होता है।

बंध की एक विशेषता यह है कि उसका विघटन या विखण्डन या अंत अवश्यभावी है, क्योंकि जिसका प्रारम्भ होता है, उसका अंत भी अवश्यमेव होता है। एक नियम यह भी है कि जिन परमाणुओं या स्कन्धों का परस्पर बंध होता है, वे परस्पर सम्बद्ध रहकर भी अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखते हैं। एक द्रव्य दूसरे के साथ दूध और पानी की भाँति अथवा रासायनिक प्रतिक्रिया से सम्बद्ध होकर भी अपनी पृथक् सत्ता नहीं खोता। उसके परमाणु कितने ही रूपान्तरित हो जाएँ फिर भी उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रहता है।

यह तो स्पष्ट है कि पुद्गल-द्रव्य सक्रिय है और जो सक्रिय होता है उसका टूटते-फूटते रहना, जुड़ते-मिलते रहना स्वाभाविक ही है। हाँ, उसमें कोई-न-कोई कारण निमित्त के रूप में अवश्य होता है। उदाहरणार्थ मिट्टी के अनेक कणों का बंध होने पर घड़ा बनता है। इसमें कुम्हार निमित्त है। द्रव्य की अपनी रासायनिक प्रक्रिया भी बंध का कारण बन जाती है। कपूर आदि के सम्मिलन से बनी हुई अमृतधारा और उद्जन (हाइड्रोजन) आदि वायुओं (गैसों) के मिलने से बना हुआ जल ऐसी ही प्रक्रियाओं के प्रतिफल हैं।

बंध के प्रकार

बंध के प्रकारों के विषय में जैन सिद्धान्त दीपिका, (1/15) में बताया गया है—

“अयमापि प्रायोगिकः सादिः, वैस्रसिकस्तु सादिरनादिश्च।”

1. प्रायोगिक—प्रयत्नजन्य या प्रयोजजन्य।
2. वैस्रसिक—स्वाभाविक या स्वभावजन्य।

कपड़े के दो टुकड़ों को सिलाई कर जोड़ दिया गया। दो कपाटों को मिला दिया। यह प्रायोगिक बंध है। आकाश में बादलों की घटा का बनना, मिट्टी के लाखों-करोड़ों कणों का मिलकर पत्थर बन जाना—यह वैस्रसिक बंध है। क्योंकि ये सहज बनते हैं। इन्हें बनाने का किसी के द्वारा कोई प्रयास नहीं किया जाता।

प्रायोगिक बंध और वैस्रसिक बंध के सैकड़ों-हजारों उदाहरण बताए जा सकते हैं। प्रश्न है, ये बंध सादि है या अनादि? प्रायोगिक बंध कभी अनादि नहीं होते। वे सदा सादि-प्रारंभसहित होते हैं। कारं, बसं आदि प्रायोगिक बंध होने से सादि हैं। इस संदर्भ में एक बात और ध्यान में लेने की है कि जो सादि होता

है, वह सान्त भी होता है। अर्थात् जिसका प्रारंभ है, उसका अंत भी निश्चित है। प्रायोगिक बंध सादि है, इसलिए सान्त भी है।

वैज्ञानिक बंध सादि भी है और अनादि भी। जैसे कि बादलों की घटा का उदाहरण दिया गया, यह सादि है। इसी प्रकार आकाश में इन्द्रधनुष बनता है। यह भी सादि है। ये बनते हैं और नष्ट होते हैं। हमें यह बात समझनी है कि बंध चाहे प्रायोगिक हो या वैज्ञानिक, सादि हो या अनादि, सब पुद्गलों के होते हैं। पुद्गल के सिवाय और किसी का भी यह गुण नहीं है। इसलिए बंध पुद्गल की एक पहचान है।

वैसे जीव-कर्म का बंध या धर्मास्तिकाय के असंख्य प्रदेशों का जुड़े रहना भी औपचारिक रूप में बंध कहा जा सकता है, किन्तु वास्तव में तो पुद्गल का ही बंध होता है।

11.3.3 भेद (Fission)

भेद यानी स्कन्धों का विश्लेष या विघटन। अर्थात् कुछ परमाणुओं का स्कन्ध से विच्छिन्न होकर अलग हो जाना भेद है। अंतरंग और बहिरंग—इन दोनों प्रकार के निमित्तों से स्कन्धों का अनेक स्कन्धों अथवा परमाणुओं के रूप में विच्छिन्न होना भेद कहलाता है। भेद के भी दो प्रकार हैं—1. वैज्ञानिक 2. प्रायोगिक।

वैज्ञानिक भेद—किसी भी पौद्गलिक स्कन्ध का स्वाभाविक विघटन वैज्ञानिक भेद कहलाता है। उदाहरणार्थ—बादलों का विघटन। वायु, वर्षा, जल-प्रवाह आदि नैसर्गिक परिबलों द्वारा होने वाला विघटन भी इस कोटि में समाविष्ट है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से रेडियो क्रियात्मक तत्वों में से विकिरण का उत्सर्जन भी वैज्ञानिक भेद का स्पष्ट उदाहरण है।

निमित्त की विविधताओं के कारण भेद के पांच या छह प्रकार होते हैं—

जैन सिद्धान्त दीपिका (1/15) के अनुसार, स च पञ्चधा 1. उत्करः मुद्गशमीभेदवत् 2. चूर्णः गोधूमचूर्णवत् 3. खण्ड-लोहखण्डवत् 4. प्रतः अभ्रपटलभेदवत् 5. अनुत्तटिका—तटाकरेखावत्।

भेद के पांच प्रकार बताए गए हैं—1. उत्कर 2. चूर्ण 3. खण्ड 4. प्रतर 5. अनुत्तटिका।

1. **उत्कर**—फाड़ना। मूंग आदि पदार्थों को दाल के रूप में दो भागों में फाड़ना या विभाजित करना। टूट-टूट कर ऊंचा उठे वह उत्कर कहलाता है। उदाहरणार्थ—मोठ की फली, मूंग की फली। आप ध्यान दें, खेत में मोठ, मूंग आदि की फलियाँ सूखने के बाद जब अपने आप टूटती हैं, तब ऊपर उछलती हैं। इसी प्रकार एरण्ड भी टूटने के बाद ऊपर जाता है। जमीन पर मिट्टी डाली जाती है तो रजें ऊपर उठती हैं। धुआँ धूम से अलग होकर सहज रूप से ऊपर उठता है।
2. **चूर्ण**—अर्थात् पीसा हुआ। टूटने पर चूर्ण-चूर्ण हो जाने को चूर्ण कहा जाता है। गेहूं, बाजरी आदि को जब चक्की में पीसा जाता है तो उनके पुद्गल टूटकर एकदम चूर्ण-चूर्ण हो जाते हैं।
3. **खण्ड**—टुकड़े करना। तोड़ने से छोटे-छोटे टुकड़े होना खण्ड कहलाता है। पत्थर, लकड़ी, लोह इत्यादि को तोड़ने से उसके छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं।
4. **प्रतर**—तट्टी या परतों में विभाजन करना। अभ्रक, प्याज आदि पदार्थों की परत उतारना।
5. **अनुत्तटिका**—दरार पड़ना। कांच, दीवार आदि पदार्थों में दरार पड़ना भी अनुत्तटिका है। टूटने के बाद वस्तु में दरार का पड़ जाना अनुत्तटिका है। जैसे तालाब की मिट्टी। तालाब की मिट्टी जब सूखती है तो उसमें दरारें पड़ जाती हैं।

तत्त्वार्थ की टीका—सर्वार्थसिद्धि के अनुसार भेद के छह प्रकार इस रूप में मिलते हैं—

1. **उत्कर**—करौत आदि से जो लकड़ी आदि को चीरा जाता है।
2. **चूर्ण**—गेहूं आदि का जो सतु (आदि) या कनक आदि बनती है।
3. **खण्ड**—घट आदि के जो कपाल (यानी ठीकरा या ठीकरी) और शर्करा (कंकर) आदि टुकड़े होते हैं।
4. **चूर्णिका**—उड़द या मूंग आदि का जो खण्ड (दाल के रूप में) किया जाता है।
5. **प्रतर**—मेघ के जो अलग-अलग पटल आदि होते हैं।
6. **अनुचटण**—तपाए हुए लोहे के गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो स्फुलिंगें निकलते हैं।

आप जिस किसी चीज में भेद देखें, उसे पुद्गल जानें। आत्मा में कभी भेद नहीं होता। इस संदर्भ में कुछेक प्रश्न सामने आते हैं। बहुत बार आप देखते हैं कि छिपकली की पूंछ कट जाती है। पूंछ भी छटपटाती है और वह स्वयं भी। इस स्थिति में क्या ऐसा माना जाए कि आत्मा खण्ड-खण्ड रहती है। केवल शरीर के टुकड़े से आत्मा का एक सम्बन्ध है, आत्मा अखण्ड है। फैलाव की स्थिति में एक आत्मा समूचे लोक में व्याप्त हो सकती है। विस्तार शुद्ध आत्मा में नहीं, अपितु पुद्गलयुक्त आत्मा में ही होता है।

मारणान्तिक समुद्घात

शास्त्रों में मारणान्तिक समुद्घात का वर्णन आता है। आज कोई जीव मनुष्य-क्षेत्र में है। मर कर उसे स्वर्ग-लोक में पैदा होना है। मरने से एक मुहूर्त पूर्व उसके शरीर से आत्मा प्रदेश बाहर निकलने शुरू हो जाते हैं। जहां उसे जन्मना है, वहां तक उसका अविच्छिन्न तांता लग जाता है। इस क्रम में अपेक्ष्य आत्मा प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं। हमें यहां समझना यह है कि आत्मा चाहे कितनी भी विस्तीर्ण क्यों न हो जाए या फिर कितनी भी संकुचित क्यों न हो जाए, उसका सम्बन्ध सदा एक ही रहता है। उसका विश्लेष/भेद नहीं होता। विश्लेष सदा पुद्गलों में ही हो सकता है।

11.3.4 सौक्ष्म्य और स्थौल्य

सौक्ष्म्य और स्थौल्य भी पुद्गल के लक्षण हैं। इन्हें क्रमशः छोटापन और बड़ापन कह सकते हैं। ये दोनों ही पुद्गल की परिणतियां हैं। “सौक्ष्म्यं द्विविधम्—अन्त्यमापेक्षिकञ्च। अन्त्यं परमाणोः, आपेक्षिकं यथा—नालिकेरापेक्षया आभ्रस्या।” (जै.सि.दी. 1/15) सौक्ष्म्य के दो प्रकार हैं—

1. अन्त्य—अंतिम सूक्ष्म। अर्थात् जिस सूक्ष्म पुद्गल को फिर खण्डित नहीं किया जा सके। जैनदर्शन में ऐसे पुद्गल को ‘परमाणु’ की संज्ञा दी गई है।
2. आपेक्षिक—अपेक्षा से सूक्ष्म। एक व्यक्ति का वजन दो मन है, दूसरे का डेढ़ मन है। डेढ़ मन वाला व्यक्ति दो मन वाले व्यक्ति की अपेक्षा सूक्ष्म है। पर यदि डेढ़ मन वजन वाले व्यक्ति के सामने कोई एक मन वजन वाला व्यक्ति हो तो डेढ़ मन वाला स्थूल और एक मन वाला सूक्ष्म कहलाएगा।

परमाणु किसी अपेक्षा से सूक्ष्म नहीं होता। क्योंकि किसी अपेक्षा से वह स्थूल भी नहीं होता।

स्थौल्यमपि द्विविधम्—अन्त्यं अशेषलोकव्यापिमहास्कन्धस्य। आपेक्षिकं यथा—आम्रापेक्षया नारिकेलस्य।

1. अन्त्य—अंतिम स्थूल, जैसे—लोकव्यापी महास्कन्ध।
2. आपेक्षिक—अपेक्षा से स्थूल, जैसे—आम की अपेक्षा तरबूज स्थूल है।

प्रश्न है अंतिम स्थूल पदार्थ क्या है? चतुर्दश रज्जु परिमाण वाले इस लोक के लिए एक स्कन्ध की कल्पना की गई है। इसे महास्कन्ध कहा जाता है। केवली समुद्घात के समय एक आत्मा समूचे लोक में व्याप्त हो जाती है। समुद्घात के चौथे समय में आत्म प्रदेश पूरे लोकाकाश में फैल जाते हैं। उस समय कर्म-पुद्गलों की निर्जरा होती है। उन निर्जरित पुद्गलों का पांचवें समय में एक लोकव्यापी स्कन्ध बन जाता है। यही स्कन्ध महास्कन्ध कहलाता है।

इस प्रकार सूक्ष्मता और स्थूलता दोनों ही पुद्गल के लक्षण हैं। पुद्गल के अतिरिक्त कोई भी द्रव्य सूक्ष्म या स्थूल होता ही नहीं। इस संदर्भ में इतना और समझ लेना चाहिए कि पुद्गल सूक्ष्म हो जाता है और स्थूल हो सकता है, जैसे आज बच्चा सूक्ष्म है, पर बढ़ते-बढ़ते वह युवक बन जाता है। इसी प्रकार आज व्यक्ति स्थूल है, पर बीमारी, बुढ़ापा या चिन्ता के कारण वह सूक्ष्म होने लगता है और सूक्ष्म होते-होते बिल्कुल अस्थिपंजर-सा रह जाता है।

दिगम्बर-परम्परा में स्थूलता और सूक्ष्मता की परिभाषा इस प्रकार की गई है—जो किसी दूसरे पदार्थ को न रोक सके और न ही स्वयं किसी से रुक सके अथवा एक दूसरे में समाकर रह सके या एक दूसरे में से पार हो जाए उसे सूक्ष्म कहते हैं तथा जो पदार्थ दूसरे को रोके अथवा दूसरे से रुक जाए, एक दूसरे में न समा सके, न पार हो सके, वह स्थूल कहलाता है।

कोई पदार्थ पूर्णतः सूक्ष्म है, कोई कम सूक्ष्म है कोई पूर्णतः स्थूल है, कोई कम स्थूल है। जो किसी से भी किसी प्रकार न रुक सके और प्रत्येक पदार्थ में समाकर रह सके, वह पूर्ण सूक्ष्म है। जो हर पदार्थ

से रुक जाए तथा किसी में भी समाकर रह न सके और किसी में से भी पार न हो सके, वह पूर्ण स्थूल है। जो किसी से रुक जाए और किसी में नहीं तथा किसी में समा जाए और किसी में नहीं अथवा किसी में से पार हो जाए और किसी में से नहीं, वह कम सूक्ष्म तथा कम स्थूल है अर्थात् उसमें सूक्ष्मता तथा स्थूलता दोनों मिले हुए हैं।

इस प्रकार उत्कृष्ट स्थूल का नाम है—‘स्थूल-स्थूल’। मध्यम स्थूल का नाम ‘स्थूल’ और जघन्य का नाम है ‘स्थूल-सूक्ष्म’ (पहले स्थूल फिर सूक्ष्म)। इसी प्रकार उत्कृष्ट सूक्ष्म का नाम है ‘सूक्ष्म-सूक्ष्म’, मध्यम सूक्ष्म का नाम है सूक्ष्म और जघन्य सूक्ष्म का नाम है—‘सूक्ष्म-स्थूल’ (पहले सूक्ष्म फिर स्थूल)। इन्हीं नामों को उत्कृष्ट स्थूलता से क्रमपूर्वक घटाते-घटाते उत्कृष्ट सूक्ष्मता-पर्यन्त यदि गिना जाए तो यों होगा उत्कृष्ट स्थूल, मध्यम स्थूल, जघन्य स्थूल, जघन्य सूक्ष्म, मध्यम सूक्ष्म, उत्कृष्ट सूक्ष्म या स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म।

वह पदार्थ जो किसी दूसरे में न तो समा सकता है, न किसी दूसरे में से आर-पार हो सकता है, न स्वयं अपनी स्थिति तथा शकल बदल सकता है, जहां रख दिया जाए वहां ही ज्यों का त्यों पड़ा रहता है, वह स्थूल-स्थूल पुद्गल स्कन्ध है। इस प्रकार पृथ्वी अर्थात् सभी छोटी या बड़ी ठोस वस्तुएं इस श्रेणी में आ जाती हैं। वे पदार्थ जो सबमें तो नहीं पर किसी पदार्थ में समा सके और किसी पदार्थ में से आर-पार हो सके, स्वयं अपनी स्थिति तथा शकल भी बदल सके, जहां उसे रखा जाए, वहां ही ज्यों के त्यों पड़े न रह सके, जिन्हें टिकाने के लिए बहुत कुछ साधनों की सहायता लेनी पड़े तथा जिन्हें तोड़ने पर पुनः स्वयं मिल जाएं, वे सब ‘स्थूल’ पुद्गल स्कन्ध हैं। इस प्रकार जो कुछ अन्य पदार्थों में से आर-पार हो सके तथा जिसे किसी भी प्रकार पकड़ कर रखा न जा सके, वह स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ है, जैसे प्रकाश, क्योंकि यह शीशे में से आर-पार हो जाता है। स्पर्शेन्द्रिय का जो विषय गर्मी-सर्दी, रसनेन्द्रिय का जो विषय स्वाद, घ्राणेन्द्रिय का जो विषय गंध और कर्णेन्द्रिय का जो विषय शब्द, ये चारों प्रकार के पदार्थ ‘सूक्ष्म-स्थूल’ हैं।

यहां तक के सब पदार्थ तथा विषय तो हम सबको प्रत्यक्ष है, परन्तु इससे आगे की श्रेणी में स्थूलता बिल्कुल नहीं जाती और इसलिए वे हमारी इन्द्रियों के विषय भी नहीं बन सकते। वे हर पदार्थ में से आर-पार भी हो जाते हैं। ऐसे पदार्थ सूक्ष्म कहलाते हैं। आज के भौतिक विज्ञान द्वारा खोजने पर चुम्बक की किरणें तथा रेडियो की तरंगें इस श्रेणी में ग्रहण की जा सकती हैं, क्योंकि ये हर पदार्थ में से आर-पार होने की शक्ति रखती हैं और इन्द्रियों द्वारा किसी प्रकार भी इनका ग्रहण नहीं किया जा सकता। परन्तु आगम के अनुसार कर्मण वर्णाएं इस कोटि में आती हैं। कर्मण वर्णा एक प्रकार का सूक्ष्म पुद्गल

स्कन्ध है, जो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। स्वयं परमाणु ‘सूक्ष्म-स्थूल’ पुद्गल है, जिससे सूक्ष्म अन्य कोई पुद्गल संभव नहीं। इसका तात्पर्य हुआ—

1. बादर-बादर—पत्थर आदि जो विभक्त होकर स्वयं न जुड़े।
2. बादर—प्रवाही पदार्थ जो विभक्त होकर स्वयं मिल जाएं।
3. सूक्ष्म-बादर—धूम आदि जो स्थूल भासित होने पर भी अविभाज्य है।
4. बादर-सूक्ष्म—रस आदि जो सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रिय-गम्य है।
5. सूक्ष्म-कर्म—वर्णा आदि जो इन्द्रियातीत है।
6. सूक्ष्म-सूक्ष्म—कर्म वर्णा से भी अत्यन्त सूक्ष्म-स्कन्ध।

11.5 संस्थान

“आकृतिः—संस्थानम्। तच्चतुरस्रादिकं इत्थंस्थम्, अनियताकारं अनित्यस्थम्।” (जै.सि.दी. 1/15)

संस्थान भी पुद्गल का एक लक्षण है। संस्थान अर्थात् आकृति या रचना-विशेष। हम जितनी भी आकृतियाँ/आकार देखते हैं, वे सारे पौद्गलिक हैं। वे सभी पुद्गल होने की सूचना है।

यद्यपि संस्थान पुद्गल में होता है, फिर भी वह उसका गुण नहीं है। संस्थान पुद्गल का एक महत्वपूर्ण पर्याय है जिसके कारण त्रि-आयामात्मक आकाश में पुद्गल अवगाहन कर सकता है। संस्थान अनन्त प्रकार के हो

सकते हैं। मोटे तौर पर उसे दो प्रकार में बांटा जा सकता है—इत्थं संस्थान, अनित्थं संस्थान। जिसके विषय में यह संस्थान इस प्रकार का है ऐसा निर्देश किया जा सके वह 'इत्थं' लक्षण संस्थान है। उसके मुख्य पांच प्रकार हैं—1. वृत्त-गोलाकार 2. त्रिकोणाकार 3. चतुष्कोण 4. आयत 5. परिमण्डल-वलयाकार।

इस प्रकार नियत आकार वाली संरचना इत्थंस्थ कहलाती है। त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत, परिमण्डल, वृत्त ये सब इत्थंस्थ के भेद हैं। परिमण्डल और वृत्त यों दोनों ही गोलाकार होते हैं, फिर भी इन दोनों में सूक्ष्म अंतर है। वृत्त मोदक की तरह गोल होता है, जबकि परिमण्डल चूड़ी की तरह गोल। यानी जहां परिमण्डल में बीच का भाग खोखला होता है, वहीं वृत्त का यही भाग बिल्कुल सघन होता है।

मेघ आदि के आकार जो कि अनेक प्रकार के हैं और जिनके विषय में यह इस प्रकार है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, वह अनित्थं लक्षण संस्थान है। इस प्रकार आकार वाली संरचना अनित्थंस्थ कहलाती है। नियत आकार के अतिरिक्त जितने भी आकार बनते हैं, वे सभी अनित्थंस्थ हैं।

11.6 प्रकाश और अंधकार

प्रकाश और अंधकार—दोनों ही पुद्गल के ही परिणमन हैं। प्रकाश पुद्गल की पर्याय है जिसके निमित्त से प्राणी देख सकते हैं। अंधकार अदृश्यता का कारण है और यह भी पुद्गल की ही पर्याय है। जैनदर्शन ने अंधकार को प्रकाश का केवल अभाव नहीं माना है।

प्रकाश का वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार है—वह चाहे सूर्य का हो, चाहे दीपक का हो, निरन्तर गतिशील है। वैज्ञानिकों ने लोक (ब्रह्माण्ड) में घूमने वाले आकाशीय पिण्डों की गति, दूरी आदि को मापने के लिए प्रकाश किरण को ही अपना मापदण्ड मान रखा है, क्योंकि उनकी गति सदा समान है। प्रकाश में पहले भार नहीं माना गया था, लेकिन अब यह सिद्ध हो चुका है कि वह एक शक्ति का भेद होते हुए भी भारवान है। वैज्ञानिकों ने यह भी पता लगाया है कि प्रकाश विद्युत-चुम्बकीय तत्व है। वह एक वर्गीकृत क्षेत्र पर प्रति मिनट आधी छटाक मात्रा में सूर्य से गिरता है।

अंधकार—अंधकार भी पुद्गल का एक लक्षण है। कृष्णवर्णबहुलः पुद्गलपरिणामविशेषः तमः। (जै. सि. दी. 1/15)

श्यामवर्ण पुद्गलों के सघन रूप में एकत्र होने का नाम अंधकार है। कुछ दार्शनिक अंधकार को पुद्गल नहीं मानते। उनकी मान्यता के अनुसार अंधकार मात्र प्रकाश का अभाव है। उन्होंने अपने इस कथन को यथार्थ साबित करने के लिए अनेक प्रकार के तर्क दिए हैं। बहुत से लोग उनके इस कथन को सही मानते हैं। पर जैन दार्शनिकों को यह मान्यता स्वीकार नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार अंधकार अभावात्मक नहीं, अपितु भावात्मक स्थिति है।

इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार, जो देखने में बाधक हो, प्रकाश का विरोधी हो, वह अंधकार है। अन्य दार्शनिकों ने जो अंधकार को वस्तु न मानकर केवल प्रकाश का अभाव माना है, यह उचित नहीं। यदि ऐसा मान लिया जाए तो यह भी कहा जा सकेगा कि प्रकाश भी कोई वस्तु नहीं है, वह तो केवल तम का अभाव है। विज्ञान भी अंधकार को प्रकाश का अभावरूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है। विज्ञान के अनुसार अंधकार में भी उपस्थित किरणों (इन्फ्रारेड हीट रेज) का सद्भाव है जिनसे उल्लू और बिल्ली की आंखें तथा कुछ विशिष्ट चित्रिय पट (फोटोग्राफी प्लेट्स) प्रभावित होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अंधकार का अस्तित्व दृश्य प्रकाश (विजिबिल लाइट) से पृथक् है।

प्रकाश के अभाव का नाम अंधकार है—इस कथन के विरोध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अंधकार प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है, अर्थात् जिसका वर्ण प्रत्यक्ष है, उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। क्योंकि वर्ण किसी वस्तु/पुद्गल का ही होता है। अवस्तु का नहीं। और जब वर्ण प्रत्यक्ष है तो उसके स्पर्श, रस, गंध आदि स्वतः सिद्ध प्रमाणित हैं। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—इनमें से किसी एक के होने का अर्थ होता है, ये सभी हैं। इनमें से एक का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब प्रकाश के वर्ण, गंध, रस व स्पर्श है तो अंधकार के भी वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श है। इसलिए प्रकाश के अस्तित्व की तरह अंधकार का भी स्वतंत्र अस्तित्व है। अंधकार और

प्रकाश—दोनों अष्टस्पर्शी पुद्गल हैं अतः हम उन्हें देख पाते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अंधकार के सम्बन्ध में जैनदर्शन की मान्यता विज्ञान-सम्मत है।

11.7 ताप

ताप को हम उष्णता कहकर समझ सकते हैं। इसे पुद्गल के उष्ण स्पर्श गुण का पर्याय कहा जाना चाहिए। परमाणु में घनाणु और ऋणाणु निरन्तर गतिशील रहते हैं और इसी तरह अणु में स्वयं परमाणु और अणु-गुच्छकों में अणु निरन्तर गतिशील रहते हैं। यही आंतरिक गति जब बहुत बढ़ जाती है और सूक्ष्म कण परस्पर टकराते हुए इधर-उधर दौड़ने लगते हैं, तब वे ताप के रूप में दिखने लगते हैं।

11.8 आतप, उद्योत, प्रभा

सूर्यादीनामुष्णः प्रकाश आतपः।

चन्द्रादीनामनुष्णः प्रकाश उद्योतः।

मण्यादीनां रश्मिः प्रभा।

सर्व एव एते पुद्गलधर्माः, अत एतद्दानपि पुद्गलः।

सूर्य आदि के उष्ण प्रकाश को आतप कहा जाता है। यह भी पुद्गलों की परिणति है। इसलिए इसे भी पुद्गल का लक्षण माना गया है। चन्द्र आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहा जाता है। यह भी पुद्गल की परिणति है। रत्न आदि की रश्मियों को प्रभा कहते हैं। यह भी पुद्गल की एक परिणति है। जैन सूत्रों ने आतप, उद्योत और प्रभा में प्रकाश के तीन प्रकार बताए हैं—

आतप—सूर्य, अग्नि आदि का उष्ण प्रकाश। उसमें ऊर्जा प्रकाश के साथ मुख्यतः ताप-किरणों (heat rays) के रूप में प्रगट होती है।

उद्योत—शीतल प्रकाश की किरणें उद्योत हैं। चन्द्रमा, जुगू आदि का शीतल प्रकाश उद्योत है। उसमें ऊर्जा का अधिकांश प्रकाश-किरणों (lightrays) के रूप में प्रगट होता है, ताप की अल्प मात्रा होती है।

प्रभा—रत्न आदि प्रकाश देने वाले पदार्थों से निकलने वाले प्रकाश को प्रभा कहते हैं।

11.9 छाया

“प्रतिबिम्बरूपः पुद्गलपरिणामः छायाः” (जै.सि.दी. 1/15)

जो पुद्गल प्रतिबिम्ब के रूप में परिणत हो जाते हैं, उन्हें छाया कहा जाता है। हम देखते हैं कि जब कोई व्यक्ति धूप में चलता है तो ठीक उसके शरीर के आकार की ही छाया पड़ती रहती है। इसी प्रकार दर्पण के सामने जब कोई व्यक्ति खड़ा होता है, तो ठीक उसके शरीर के आकार का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। यह पुद्गल-परिणति है। इस विषय में एक मान्यता है कि तदाकार छाया के रूप में पुद्गल हर प्राणी के शरीर से सदा निकलते ही रहते हैं। यह दूसरी बात है कि वे कभी पकड़े जाते हैं और कभी पकड़ में नहीं भी आते। इस संदर्भ में एक दूसरी मान्यता और भी है—हम जहां खड़े रहते हैं, वहां के पुद्गल उस रूप में रूपान्तरित हो जाते हैं। इतना तो दोनों ही मान्यताओं से निर्विवाद रूप से प्रमाणित है कि छाया पुद्गल है।

11.10 प्रतिबिम्ब

गौतम ने पूछा—भगवन्! कांच में देखने वाला व्यक्ति क्या कांच को देखता है? अपने शरीर को देखता है? अथवा अपने प्रतिबिम्ब को देखता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! कांच में देखने वाला व्यक्ति कांच को नहीं देखता—यह स्पष्ट है। अपने शरीर को भी नहीं देखता—वह उसमें नहीं है। वह अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है।

प्रज्ञापना पद 15 वृत्ति—

भासा उ दिवा छाया, अभासुरगतानिसितु कालाभा।

सचेव भासुराया, सदेहवन्ना मुणेयव्वो॥

जे आदरिसं ततो, देहावयवा हवंति सकंता।

तेसि तत्थुवलद्धी पगासजोगा न इयरेसिं॥

11.10.1 प्रतिबिम्ब-प्रक्रिया और उसका दर्शन

पौद्गलिक वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं—सूक्ष्म और स्थूल। इन्द्रिय-गोचर होने वाली सभी वस्तुएं स्थूल होती हैं। स्थूल वस्तुएं चयापचय-धर्मक (घट बढ़ जाने वाली) होती हैं। इसमें से रश्मियां निकलती हैं—वस्तु-आकार के अनुरूप छाया-पुद्गल निकलते हैं और वे भास्वर या अभास्वर वस्तुओं में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। अभास्वर वस्तु में पड़ने वाली छाया दिन में श्याम और रात को काली होती है। भास्वर वस्तुओं में पड़ने वाली छाया वस्तु के वर्णानुरूप होती है। आदर्श में जो शरीर के अवयव संक्रांत होते हैं। वे प्रकाश के द्वारा दृष्टिगत होते हैं। इसलिए आदर्शद्रष्टा व्यक्ति आदर्श में न आदर्श देखता है, न अपना शरीर किन्तु अपना प्रतिबिम्ब देखता है।

प्रतिबिम्ब के अभिव्यक्त होने में उस पदार्थ का बहुत महत्त्व है, जिसमें वह प्रतिबिम्बित होता है। वह पदार्थ जितना स्वच्छ व स्थिर होगा, प्रतिबिम्ब भी उतना ही साफ अभिव्यक्त हो सकेगा। पानी स्वच्छ और स्थिर है तो उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब बहुत साफ उभरता है। पर वही पानी जब गंदा और अस्थिर होता है तो प्रतिबिम्ब साफ नहीं उभरता।

वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश पर आवरण पड़ने पर छाया उत्पन्न होती है। प्रकाश-पथ में अपारदर्शक वस्तुओं (ओपेक बॉडीज) का आ जाना आवरण कहलाता है। छाया को अंधकार के अंतर्गत रखा जा सकता है और इस प्रकार वह भी प्रकाश का अभाव-रूप नहीं, अपितु पुद्गल की पर्याय सिद्ध होती है।

प्रतिबिम्ब विज्ञान की दृष्टि में अणुवीक्षों (लेंसों) और दर्पणों के द्वारा निर्मित प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते हैं—वास्तविक और अवास्तविक। इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि ये ऊर्जा/प्रकाश के ही रूपान्तर हैं। ऊर्जा की छाया (शेडो) और वास्तविक (रीयल) एवं अवास्तविक (अनरीयल) प्रतिबिम्बों (इमेज) के रूप में लक्षित होती हैं। व्यक्तिकरण पट्टियों (इंटरफेरेन्स बैंड्स) पर यदि एक गणनायंत्र (काउंटिंग मशीन) चलाया जाए तो काली पट्टी (डार्क बैंड) में से भी प्रकाश-विद्युत रीति से (फोटो-इलेक्ट्रिकली) ऋणुओं (इलेक्ट्रॉन्स) का निःसरित होना सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि काली पट्टी केवल प्रकाश का अभाव रूप नहीं, उसमें भी ऊर्जा होती है और इसी कारण उससे विद्युदणु निकलते हैं। काली पट्टी के रूप में जो छाया होती है वह भी ऊर्जा का ही रूपान्तर है।

वर्गीकरण—प्रकाश-पथ में दर्पणों (मिरर्स) और अणुवीक्षों (लेंसेस) का आ जाना भी एक प्रकार का आवरण ही है। इस प्रकार के आवरण से वास्तविक और अवास्तविक प्रतिबिम्ब बनते हैं। ऐसे प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते हैं—वर्णादि विकार परिणत और प्रतिबिम्बमात्रात्मक। वर्णादि विकार परिणत छाया में विज्ञान के वास्तविक प्रतिबिम्ब लिए जा सकते हैं, जो विपर्यस्त (इन्वर्टेड) हो जाते हैं और जिनका परिमाण (साइज) बदल जाता है। ये प्रतिबिम्ब प्रकाश-रश्मियों के वस्तुतः मिलन से बनते हैं और प्रकाश का ही पर्याय होने से पौद्गलिक है। प्रतिबिम्बमात्रात्मक छाया के अंतर्गत विज्ञान के अवास्तविक प्रतिबिम्ब (वर्चुअल इमेजेज) रखे जा सकते हैं, जिसमें केवल प्रतिबिम्ब ही रहता है, प्रकाश-रश्मियों के मिलने से ये प्रतिबिम्ब नहीं बनते।

11.11 आभामण्डल विज्ञान-सम्मत है

छाया पुद्गल है, यह बात हम शास्त्रों में सदा से पढ़ते रहे हैं। पर आज विज्ञान ने भी अनेकानेक प्रयोगों के द्वारा इसे साबित कर दिया है। हम सदा से पढ़ते और सुनते आए हैं कि तीर्थंकरों के आभामण्डल होता है। आज विज्ञान ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। स्वीकार ही नहीं किया है, विभिन्न प्रयोगों के द्वारा इसे प्रमाणित भी कर दिया है। विज्ञान तो यहां तक कहता है कि तीर्थंकरों/महापुरुषों के ही नहीं, अपितु प्रत्येक प्राणी के आभामण्डल होता है। चूंकि तीर्थंकरों/महापुरुषों का आभामण्डल स्वच्छ होता है, इसलिए बिल्कुल स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। लेकिन दूसरे प्राणियों का आभामण्डल इतना स्वच्छ नहीं होता, इसलिए दिखाई नहीं देता। आजकल किर्लियन फोटोग्राफी के द्वारा ऐसा कैमरा विकसित किया गया है, जिसके माध्यम से सामान्य प्राणियों के आभामण्डल के फोटो लिए जा सकते हैं और लिए भी गए हैं। उन चित्रों के आधार पर एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य यह सामने आया है कि जिस व्यक्ति के अच्छे या बुरे जैसे विचार होंगे, उसके आभामण्डल का चित्र भी उसके अनुरूप आएगा। इस क्रम से विभिन्न व्यक्तियों के

आभामण्डल के चित्र भी अलग-अलग प्रकार के आएंगे। चित्र ही क्यों, रंग भी अलग-अलग आएंगे। (आभामण्डल के रंग आदि को सविस्तार समझने के लिए जैन दर्शन के लेखों का अवधानपूर्वक अध्ययन आवश्यक है। लेखों का जैसा सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन जैनदर्शन में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, लगभग अप्राप्त है।)

11.12 पुद्गल की पर्यायों के अन्य रूप

शब्द आदि पूर्वोक्त पदार्थों के अतिरिक्त पुद्गल की अन्य अनेक पर्यायों के विषय में आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में विश्लेषण किया जा सकता है। पदार्थ (मैटर) और ऊर्जा (energy) के रूप में जो पौद्गलिक द्रव्यों की भिन्न-भिन्न पर्याय बन सकती हैं, उनका बृहद् विवेचन हमें आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों में उपलब्ध होता है। विद्युत (electricity), चुम्बकीय बल (magnetic force), आणविक प्रक्रियाएं (atomic processes) आदि के क्षेत्र में आधुनिक विज्ञान बहुत आगे बढ़ा है। उनमें से कुछ एक का संक्षिप्त विवेचन उनके पुद्गल-पर्याय रूप को उजागर करने की दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है।

11.12.1 विद्युत (बिजली)

विद्युत को हम साधारणतः धन विद्युत और ऋण विद्युत दो रूपों में देखते हैं। ये दोनों ही पुद्गल-पर्याय हैं और दोनों का वैज्ञानिक आधार एक ही है।

वैज्ञानिक दृष्टि से विद्युत के दो रूप हैं—धन और ऋण। धन का आधार उद्युत्कण (प्रोटोन) और ऋण का आधार विद्युत्कण (इलेक्ट्रॉन) है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व का प्रत्येक पदार्थ विद्युन्मय है।

11.12.2 रेडियो

क्रियातत्त्व (रेडियो-एक्टिविटी)

जब किसी परमाणु (एटम) से किसी कारणवश उसका मूलभूत कण, विद्युत्कण और उद्युत्कण पृथक् होते हैं तब बम फटने की तरह धमाके की आवाज होती है। साथ ही उससे एक प्रकार की लौ निकलती है जो प्रकाश की तरह आगे-आगे बढ़ती चली जाती है। इसी के प्रसारण को रेडियो-क्रियातत्त्व या किरण-प्रसारण (रेडिएशन) कहते हैं।

आधुनिक विज्ञान के 103 तत्त्व

वैज्ञानिकों ने पुद्गल की कुछ ऐसी पर्यायों का पता लगाया है, जो अपनी एक स्वतंत्र जाति रखती हैं और जिनमें किसी अन्य जाति का मिश्रण स्वभावतः नहीं होता। ऐसी अमिश्रित जाति की पुद्गल-पर्यायों को ही विज्ञान में तत्त्व कहा जाता है। जैनदर्शन को इस 103 की संख्या से भी कोई आपत्ति नहीं। ये 103 तत्त्व केवल पुद्गल-द्रव्य की ही पर्याय हैं।

11.12.3 अणुबम

पहले वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि उसका तथाकथित परमाणु टूटता नहीं, विच्छिन्न नहीं होता, लेकिन धीरे-धीरे उनकी यह मान्यता खण्डित होती गयी। धीरे-धीरे यह भी अन्वेषण हुआ कि परमाणुओं के बीजाणुओं की इतनी में अपार शक्ति भरी पड़ी है। उन्होंने यह अन्वेषण भी किया कि यूरेनियम नामक तत्त्व के परमाणुओं का विकिरण हो सकता है। इन्हीं सब अन्वेषणों के नाम पर अणुबम को जन्म मिला। यूरेनियम तत्त्व, जिसके परमाणुओं के विकिरण से अणु-विस्फोट होता है, पुद्गल-द्रव्य की पर्याय है। अतः यह सब पुद्गल-द्रव्य का ही चमत्कार है।

11.12.4 उद्जन बम

उद्जन बम का सिद्धान्त अणुबम के सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। अणुबम अणुओं के विभाजन (fission) का। यह भी स्पष्टतः पुद्गल की ही पर्याय है।

11.12.5 रेडियो/टेलीग्राम आदि

रेडियो, टेलीग्राम, ट्रांजिस्टर, टेलीफोन, टेलिप्रिंटर, बेतार का तार, ग्रामोफोन और टेप रिकार्डर आदि अनेक यंत्र आज विज्ञान के चमत्कार माने जाते हैं पर इन सबके मूलभूत सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने से हम

इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि यह सब 'शब्द' शक्ति तथा विद्युत विकिरणों की तीव्रगति का ही परिणाम है और शब्द व विद्युत-पुद्गल की ही पर्याय है।

11.12.6 टेलीविजन

जैसे रेडियो-यंत्र गृहीत शब्दों को विद्युत-प्रवाह से आगे बढ़ाकर सहस्रो मील दूर ज्यों का त्यों प्रकट करता है, वैसे ही टेलीविजन भी प्रसारणशील प्रतिच्छाया को सहस्रो मील दूर ज्यों का त्यों व्यक्त करता है।

जैन शास्त्रों में बताया गया है कि विश्व के प्रत्येक मूर्त पदार्थ से प्रतिक्षण तदाकार प्रतिच्छाया निकलती है और पदार्थ के चारों ओर आगे बढ़कर विश्व भर में फैल जाती है। जहां वह उससे प्रभावित भी होती है। टेलीविजन का आविष्कार इसी सिद्धान्त का उदाहरण है, अतः टेलीविजन का अंतर्भाव पुद्गल की छाया नामक पर्याय में किया जाना चाहिए।

11.12.7 एक्स-रेज (X-Rays)

एक्स-रेज भी विज्ञान जगत का एक महत्वपूर्ण आविष्कार है। प्रकाश-किरणों की तीव्र गति एवं तरंग-लम्बाई की अत्यन्त सूक्ष्मता ही इस आविष्कार का मूल है। अतः एक्स-रेज को पुद्गल की प्रकाश नामक पर्याय के अंतर्गत जानना चाहिए।

11.12.8 अन्य

विश्व में जो भी छूने, चखने, सूंघने, देखने और सुनने में आता है, वह सब पुद्गल की पर्याय है। प्राणिमात्र के शरीर, इन्द्रिय और मन आदि पुद्गल से ही निर्मित हैं। विश्व का ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जहां पुद्गल-द्रव्य किसी न किसी पर्याय में विद्यमान न हो।

11.13 परमाणु-बंध-प्रक्रिया

परमाणुओं से स्कन्ध-निर्माण की प्रक्रिया का बहुत ही सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विश्लेषण हमें जैनदर्शन में उपलब्ध होता है। पुद्गल की बंध पर्याय की चर्चा में इसका उल्लेख किया था। अब हम विस्तार से उसे समझने का प्रयत्न करें।

11.13.1 भेद और संघात की प्रक्रिया

“तदेकीभावः स्कन्धः तद् भेद-संघाताभ्यामपि।” (जै.सि.दी. 1/18, 19)

इन सूत्रों के अनुसार हमने देखा कि परमाणुओं के एकीभाव से तथा स्कन्धों के भेद और संघात से नए स्कन्धों का निर्माण हो सकता है। अब हम इनके नियमों की चर्चा कर रहे हैं।

जैनाचार्यों ने बंध की प्रक्रिया का जो अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है उसे यद्यपि विज्ञान के प्रयोगों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सका है, तथापि इसकी पौद्गलिकता में कोई संदेह नहीं है। परमाणु से स्कन्ध, स्कन्ध से परमाणु और स्कन्ध किस प्रकार बनते हैं इस विषय में हम मुख्यतः चार तथ्य पाते हैं—

1. स्कन्धों की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी संघात से और कभी भेद-संघात से होती है। स्कन्धों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओं का एक स्कन्ध से विच्छेद होकर दूसरे स्कन्ध में मिल जाना भेद कहलाता है। दो स्कन्धों का संघटन या संयोग हो जाना संघात है और इन दोनों प्रक्रियाओं का एक साथ हो जाना भेद-संघात है।
2. परमाणु की उत्पत्ति केवल भेद-प्रक्रिया से ही संभव है।
3. पुद्गल में पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष नामक दो गुणों के कारण ही यह प्रक्रिया संभव है।
4. बंध की प्रक्रिया में संघात से उत्पन्न स्निग्धता अथवा रूक्षता में से जो भी गुण अधिक परिमाण में होता है, नवीन स्कन्ध उसी गुण-रूप में परिणत होता है। उदाहरण के लिए एक स्कन्ध पंद्रह स्निग्धगुणयुक्त स्कन्ध और तेरह रूक्षगुणयुक्त स्कन्ध से बने तो वह नवीन स्कन्ध स्निग्ध गुणरूप होगा। आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि यदि किसी परमाणु में से ऋणाणु (इलेक्ट्रॉन) निकाल लिया जाए तो वह धन-विद्युत आवेशित (पॉजिटिवली चार्ज्ड) और यदि एक ऋणाणु जोड़ दिया जाए तो वह ऋणाणु-विद्युत आवेशित (निगेटिवली चार्ज्ड) हो जाता है।

11.13.2 स्निग्ध और रुक्ष

हमने देखा था कि सादि बंध केवल पुद्गलों का होता है। द्वयणुक आदि स्कन्ध बनते हैं, वह सादि बंध है। उसकी प्रक्रिया यह है—

स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं बनता। स्निग्ध और रुक्ष गुण वाले परमाणुओं का परस्पर एकत्व होता है तब स्कन्ध बनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओं का स्निग्धत्व और रुक्षत्व है। स्निग्धत्व और रुक्षत्व को वैज्ञानिक परिभाषा में पॉजिटिव व नैगेटिव विद्युत् कहा जा सकता है।

‘तत्त्वार्थसूत्र’ के पांचवें अध्याय, सूत्र क्रमांक 33 में कहा गया है—‘स्निग्धर्वा-रुक्षत्वाद् बंधः’—अर्थात् स्निग्धत्व और रुक्षत्व गुणों के कारण अणु एक सूत्र में बंधा रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि टीका में एक स्थान पर लिखा है—‘स्निग्धरुक्षाणुनिमित्तो विद्युत्’ अर्थात् बादलों में स्निग्ध और रुक्ष गुणों के कारण विद्युत् की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध का अर्थ चिकना और रुक्ष का अर्थ खुरदरा नहीं है। ये दोनों शब्द वास्तव में विशेष (तकनीकी) अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। जिस तरह एक अनपढ़ मोटर-चालक बैटरी के एक तार को ठंडा और दूसरे को गर्म कहता है (यद्यपि उनमें से कोई तार न ठंडा होता है न गरम) और जिन्हें विज्ञान की भाषा में ‘पॉजिटिव’ और ‘नैगेटिव’ कहा जाता है। ठीक उसी तरह जैनधर्म में स्निग्ध और रुक्ष शब्दों का प्रयोग किया जाता है। डॉ.बी.एन. सील ने केम्ब्रिज से प्रकाशित पुस्तक ‘पॉजिटिव साइन्सेज ऑफ एनशियेंट हिन्दुज’ में स्पष्ट लिखा है कि जैनाचार्यों को यह बात मालूम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं के आपस में रगड़ने से बिजली उत्पन्न की जा सकती है। इस तरह कोई संदेह नहीं रह जाता कि स्निग्ध का अर्थ पॉजिटिव और रुक्ष का अर्थ नैगेटिव विद्युत् है। सर अर्नेस्ट रदरफोर्ड ने अपने प्रयोगों द्वारा यह असंदिग्ध कर दिया है कि प्रत्येक एटम में चाहे वह किसी भी वस्तु का क्यों न हो, पॉजिटिव और नैगेटिव बिजली के कण भिन्न-भिन्न संख्या में विद्यमान रहते हैं। लोहा, चांदी, सोना आदि सभी द्रव्यों के अणुओं में यही रचना पायी जाती है और कोई अन्तर नहीं है।

11.13.3 श्वेताम्बर-परम्परा

जैन सिद्धान्त दीपिका में आचार्यश्री तुलसी ने प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर इसका विवेचन इस प्रकार किया है—

“स्निग्धरुक्षत्वाद् अजघन्यगुणानाम्।

अजघन्यगुणानाम्—द्विगुणादिस्निग्धरुक्षाणां परमाणूनां तद्विषमैः समैर्वा द्विगुणाधिकस्निग्धरुक्षैः परमाणुभिः समं स्निग्धरुक्षत्वाद्धेतोरेकीभावो भवति न तु एकगुणानामेकगुणैः सममित्यर्थः।

अयं हि विसदृशापेक्षयाः एकीभावः।” (जै.सि.दी. 1/20)

अर्थात् अजघन्य गुणवाले परमाणुओं का चिकनेपन और रूखेपन से एकीभाव होता है।

गुण का अर्थ है—अंश। अजघन्य गुणवाले अर्थात् दो या दो से अधिक गुण वाले चिकने एवं रूखे परमाणुओं का क्रमशः अजघन्य गुणवाले रूखे एवं चिकने परमाणुओं के साथ एकीभाव होता है।

पृथक्-पृथक् परमाणु आपस में मिलते हैं, उनका हेतु स्निग्धता और रुक्षता है। परमाणु चाहे विषम गुणवाले हों, चाहे सम गुणवाले हों, उनका परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। केवल एक ही शर्त है कि वे सब अजघन्य गुण वाले होने चाहिए।

एक गुणवाले परमाणुओं का एक गुणवाले परमाणुओं के साथ सम्बन्ध नहीं होता। इसका फलितार्थ यह है कि स्निग्ध परमाणु रुक्ष परमाणु के साथ मिलें तब वे दोनों ही कम से कम द्विगुण स्निग्ध एवं द्विगुण रुक्ष होने चाहिए। यदि इनमें एक ओर भी कमी हो तो उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यह विसदृश (विजातीय) परमाणुओं के एकीभाव की प्रक्रिया है। इससे अगले सूत्र में सदृश परमाणुओं के एकीभाव की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए बताया गया है—

“द्वयधिकादिगुणत्वे सदृशानाम्।

अजघन्यगुणानां सदृशानां—सह स्निग्धनां रुक्षैः सह रुक्षाणां च परमाणूनाम् एकत्र द्विगुणस्निग्धत्वम्, अन्यत्र चतुर्गुणस्निग्धत्वमितिरूपे द्वयधिकादिगुणत्वे सति एकीभावो भवति, न तु समानगुणानामेकाधिकगुणानाञ्च। उक्तञ्च—

निद्धस्स निद्धेण दुआहियेण, लुक्खस्स लुक्खेण दुआहियेण।

निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहन्नवज्जो विसमो समो वा। (पन्नवणा पद 13)” (जै.सि.दी. 1/29)

अर्थात् अजघन्य गुणवाले सदृश परमाणुओं का एकीभाव दो गुण अधिक या उससे अधिक गुणवाले परमाणुओं के साथ होता है।

स्निग्ध परमाणुओं का स्निग्ध परमाणुओं के साथ एवं रुक्ष परमाणुओं का रुक्ष परमाणुओं के साथ सम्बन्ध तब होता है जब उनमें (स्निग्ध या रुक्ष परमाणुओं में) दो गुण या उनसे अधिक गुणों का अंतर मिले। उदाहरणस्वरूप दो गुण स्निग्ध परमाणु का चार गुण स्निग्ध परमाणु के साथ सम्बन्ध होता है किन्तु उनका समान गुणवाले एवं एक गुण अधिक वाले परमाणु के साथ सम्बन्ध नहीं होता।

व्याख्या: उपर्युक्त सूत्रों में निबद्ध नियमों की व्याख्या इस प्रकार है—परमाणुओं के परस्पर एकीभाव के सम्बन्ध में श्वेताम्बर शास्त्रों में बताया गया है कि अजघन्य गुणवाले अर्थात् दो या दो से अधिक गुणवाले स्निग्ध एवं रुक्ष परमाणु क्रमशः अजघन्य गुणवाले रुक्ष एवं स्निग्ध परमाणुओं से मिलते हैं। यदि परमाणु जघन्य गुणवाले (एक गुणवाले) हैं तो उनका कभी भी परस्पर एकीभाव नहीं होता। अर्थात् परमाणुओं के मिलने में एक परमाणु कम-से-कम द्विगुण एवं दूसरा द्विगुण स्निग्ध अवश्य चाहिए।

सम गुणवाले परमाणु परस्पर मिल सकते हैं तो विषम गुणवाले परमाणु भी परस्पर एकीभूत हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—एक परमाणु द्विगुण स्निग्ध है और दूसरा त्रिगुण रुक्ष है तो उनका परस्पर एकीभाव हो जाएगा। इसी प्रकार एक परमाणु द्विगुण रुक्ष है और दूसरा परमाणु त्रिगुण स्निग्ध है तो उनका परस्पर एकीभाव हो जाएगा। सारांश यही है कि परमाणु चाहे विषम गुणवाले हों या सम गुण वाले, उनका परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। केवल एक ही शर्त है कि वे सब अजघन्य गुणवाले होने चाहिए। आप पूछेंगे, क्या जघन्य गुणवाले भी परमाणु होते हैं? हां, बहुत होते हैं और उनका कभी भी परस्पर एकीभाव नहीं हो पाता।

परमाणुओं के परस्पर मिलने के सम्बन्ध में एक प्रश्न और पूछा जा सकता है—क्या स्निग्ध परमाणुओं के साथ स्निग्ध परमाणुओं का तथा रुक्ष परमाणुओं के साथ रुक्ष परमाणुओं का एकीभाव हो सकता है?

हां, स्निग्ध परमाणुओं के साथ स्निग्ध परमाणुओं का तथा रुक्ष परमाणुओं के साथ रुक्ष परमाणुओं का एकीभाव हो सकता है। पर होता उसी स्थिति में है, जब परस्पर मिलने वाले परमाणुओं में द्विगुण या उससे अधिक गुणों का अंतर हो। उदाहरणार्थ—दो गुण स्निग्ध परमाणु का चार गुण स्निग्ध परमाणु के साथ सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार रुक्ष परमाणु का रुक्ष परमाणु के साथ सम्बन्ध होने के लिए कम-से-कम दो गुणों का अंतर अवश्यभावी है। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार—

1. जघन्य अंश वाले परमाणु का अजघन्य अंश वाले परमाणु के साथ बंध होता है।
2. सदृश परमाणुओं में तीन-चार आदि अंश अधिक होने पर भी बंध होना माना जाता है।
3. दो अंश आदि अधिक हों तो बंध होता है—यह सदृश परमाणुओं के लिए ही है।

श्वेताम्बर-ग्रन्थ तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी टीका के अनुसार—

अंश	सदृश	विसदृश
1. जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2. जघन्य + ऐकाधिक	नहीं	है
3. जघन्य + द्वयाधिक	है	है
4. जघन्य + त्रयादि अधिक	है	है
5. जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
6. जघन्येतर + ऐकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
7. जघन्येतर + द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
8. जघन्येतर + त्रयादि अधिक जघन्येतर	है	है

11.13.4 दिगम्बर-परम्परा

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार (तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5/35)

1. एक जघन्य अंश वाले परमाणु का दूसरे जघन्य अंश वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता।
 2. सदृश परमाणु में केवल दो अंश अधिक होने पर ही बंध माना जाता है।
 3. दो अंश अधिक होने का विधान सदृश-सदृश की तरह असदृश-असदृश परमाणुओं के लिए भी है।
- दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद कृत तत्त्वार्थ की टीका सर्वार्थसिद्धि के अनुसार,

अंश	सदृश	विसदृश
1. जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2. जघन्य + ऐकाधिक	नहीं	नहीं
3. जघन्य + द्वयाधिक	नहीं	नहीं
4. जघन्य + त्रयादि अधिक	नहीं	नहीं
5. जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
6. जघन्येतर + ऐकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
7. जघन्येतर + द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
8. जघन्येतर + त्रयादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

बंध-काल में अधिक अंश वाले परमाणु हीन-अंश वाले परमाणुओं में अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला स्निग्ध परमाणु पांच अंश वाला हो जाता है। इसी प्रकार पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला रूक्षा परमाणु पांच अंश वाला हो जाता है। इसी प्रकार पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला रूक्षा परमाणु स्निग्ध हो जाता है जिस प्रकार स्निग्धत्व हीनांश रूक्षत्व को अपने में मिला लेता है उसी प्रकार रूक्षत्व भी हीनांश स्निग्ध को अपने में मिला लेता है। कभी-कभी परिस्थितिवश स्निग्ध परमाणु समांश-रूक्ष परमाणुओं को और रूक्ष परमाणु समांश-स्निग्ध परमाणुओं को भी अपने-अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (तत्त्वार्थ, 5/36)

दिगम्बर-परम्परा को यह समांश-परिणति मान्य नहीं है (तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 5/36)

जैन सिद्धान्त दीपिका के अनुसार पुद्गलों के संयोग के नियम इस प्रकार हैं—

1. एक गुण स्निग्ध या रूक्ष परमाणु का संयोग नहीं होता।
2. विरोधी स्पर्श वाले परमाणु स्कन्ध जिनमें दो या दो गुण से अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व होता है, संयुक्त हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—2 गुण स्निग्ध + 2 गुण रूक्ष पुद्गल मिल सकते हैं।
3. समान स्पर्श वाले परमाणु स्कन्ध जिनमें दो गुण या दो गुण से अधिक स्निग्धत्व (या रूक्षत्व) हो तथा इनके गुणों में दो का अंतर हो, तो ये परमाणु 'स्कन्ध' परस्पर संयुक्त हो सकते हैं।

उदाहरणार्थ—2 गुण स्निग्ध + 4 गुण स्निग्ध पुद्गल मिल सकते हैं। पर 2 गुण स्निग्ध + 3 गुण स्निग्ध पुद्गल नहीं मिल सकते।

इन नियमों के आधार पर स्कन्धों का निर्माण कैसे होगा, यह निम्न कोष्ठक से स्पष्ट होता है—

गुण	सदृश	विसदृश
1 + 1	नहीं	नहीं
1 + 2	नहीं	नहीं
1 + 3	नहीं	नहीं
1 + 4 या 4 से अधिक	नहीं	नहीं
X + X (x=1 से अधिक)	नहीं	हां
X + X (x+1)	नहीं	हां
X + X (x + 2)	हां	हां
X + X (x + 3) या अधिक	हां	हां

11.13.5 परमाणु-मिलन (Fusion) के नियम

जैनदर्शन ने परमाणुओं के 'संघात' (मिलन) के लिए उनके स्निग्ध-रुक्ष स्पर्श को कारण माना है। स्निग्ध-रुक्ष स्पर्शों की तुलना आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित धन विद्युत (positive electricity) और ऋण-विद्युत (negative electricity) आवेश के साथ की जा सकती है, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार विद्युत या बिजली (lightening) की उत्पत्ति में स्निग्ध-रुक्ष गुण ही निमित्त बनते हैं। इसके लिए सूत्र है—“स्निग्धरुक्षगुणनिमित्तो विद्युत्।”

11.14 सारांश

प्रत्येक पुद्गल-परमाणु और पुद्गल-स्कन्ध में स्निग्ध या रुक्ष स्पर्श अवश्य ही होता है। इन स्पर्शों की मात्रा जिसे गुण (unit) कहा जाता है उसके आधार पर यह निर्धारित होता है कि दो पुद्गलों का संघात हो सकता है या नहीं। इनकी न्यूनतम मात्रा एक गुण होती है, जिससे कम मात्रा नहीं होती। यह एक प्रकार से 'क्वाण्टम' यानी एक पूर्ण राशि या 'पैकट' है जो अपूर्णाक या भिन्न (fraction) द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य हुआ कि कोई परमाणु एक गुण स्निग्ध या एक गुण रुक्ष हो सकता है, पर आधा ($1/2$) या पाव ($1/4$) नहीं। इसी तरह दो, तीन गुण वाला हो सकता है पर डेढ़, ढाई नहीं। आधुनिक क्वाण्टम सिद्धान्त द्वारा भी यही प्रतिपादन हुआ है।

ऊर्जा का एक न्यूनतम अंश 'क्वाण्टम' कहलाता है। विज्ञान के अनुसार $1h$ ($h=6.62517 \times 10^{-34}$ जूल सैकण्ड) $2h$ आदि के रूप में यह ऊर्जा हो सकती है, जहाँ h को Planck's Constant कहा जाता है। इस प्रकार परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण करते हैं। परमाणु-मिलन के नियमों में अभी और खोज की संभावनाएं भी हैं।

11.15 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पुद्गल स्कन्ध की विभिन्न पर्यायों के नामोल्लेख के साथ किन्हीं दो पर विस्तार से प्रकाश डालें। (शब्द को छोड़कर)

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर सृष्ट परमाणुओं के संश्लेष की प्रक्रिया का विवेचन करें।
2. शब्द के स्वरूप का जैनदर्शन के आधार पर विवेचन करते हुए अन्य दर्शन के साथ तुलना करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

एक वाक्य में उत्तर लिखें:

1. हमें कितने प्रदेशी स्कन्ध दिखाई दे सकते हैं?
2. पुद्गलास्तिकाय के अतिरिक्त किन द्रव्यों के स्कन्ध हो सकते हैं?
3. चतुःप्रदेशी स्कन्ध के भेद के कितने विकल्प होते हैं?
4. जैनदर्शन ने तमस् को पुद्गल की पर्याय क्यों माना है?
5. इत्थंस्थ संस्थान का क्या अर्थ है?
6. सूक्ष्म-बादर स्कन्ध किसे कहते हैं?
7. क्या दस गुण स्निग्ध और एक गुण रुक्ष परमाणुओं का बंध हो सकता है?
8. सर्वार्थसिद्धि के अनुसार उत्कर किसे कहते हैं?
9. अचित्त महास्कन्ध किसे कहते हैं?
10. अणुबम और उद्जन बम का निर्माण पुद्गल किन-किन पर्यायों का परिणाम है?



संवर्ग-6 : जैन आगमों का स्वरूप

इकाई-12 : आचार की जैन अवधारणा तथा उसकी तात्त्विक पृष्ठभूमि

संरचना

- 12.0 प्रस्तावना
- 12.1 उद्देश्य
- 12.2 आचार का लक्ष्य
- 12.3 आचार -साधना की क्रमिकता
- 12.4 जैन आचार मीमांसा की विशेषताएं
- 12.5 आचार की तात्त्विक पृष्ठभूमि
- 12.6 वर्तमान युग की समस्याएं एवं जैन आचार
- 12.7 सारांश
- 12.8 अभ्यास प्रश्नावली

12.0 प्रस्तावना

दर्शन के अनेक पक्ष हैं—तत्त्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा, प्रमाण मीमांसा, आचार मीमांसा आदि। इसमें से जैन चिन्तन में आचार का स्थान सर्वोपरि है। तत्त्वार्थ सूत्रकार उपास्वाति के टीकाकार पूज्यपाद का कहना है—चरित्र ही मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है—‘चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थम्’ कुन्दकुन्दाचार्य ने तो चरित्र को ही धर्म बताया है—‘चारित्रं खलु धम्मो।’ आचार्य तुलसी ने अपने अणुव्रत आंदोलन के केन्द्र में चरित्र को ही मुख्यता दी।

12.1 उद्देश्य - इसके अध्ययन से जैन आचार का सम्यक् ज्ञान कर सकेंगे।

12.2 आचार का लक्ष्य

जैन परम्परा चरित्र का प्रयोजन हित की प्राप्ति तथा अहित की निवृत्ति मानती है—‘चरित याति तेन हितप्राप्तिम् अहितनिवारणं चेति चारित्रम्।’ क्योंकि परमहित मोक्ष है, अतः चरित्र का पारमार्थिक उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही है। किन्तु चरित्र का आनुषंगिक अर्थात् गौण फल इस लोक और परलोक का सुख भी है। इस प्रकार चरित्र के दो रूप बन जाते हैं—पारमार्थिक चरित्र और व्यावहारिक चरित्र। इन दोनों प्रकार के चरित्रों में कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत् ये एक-दूसरे के सहायक हैं। जैन शास्त्रों में इन दोनों ही प्रकार के चरित्रों का विस्तार से वर्णन है।

12.2.1 व्यष्टि तथा समाष्ट—पारमार्थिक एवं लौकिक

पारमार्थिक चरित्र में पर की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वह आत्माश्रित है—‘आत्माश्रितो निश्चयः।’ व्यवहार में पर की अपेक्षा रहती है—‘पराश्रितो व्यवहारः।’ जैन आचार मीमांसा इतनी व्यापक है कि उसमें जहां एक ओर व्यक्ति प्रधान मोक्षधर्म समाहित हो जाता है, वहां दूसरी ओर समष्टि प्रधान समाजधर्म का भी समावेश उसमें है। वस्तुस्थिति यह है कि धर्म अखण्ड है, वह यदि व्यक्ति के लिए हितकर है तो समाज के लिए भी कल्याणकारी होगा ही।

उदाहरण के रूप में हम अहिंसा के सिद्धान्त को लें। जैन शास्त्र कहते हैं—

जं इच्छसि अप्यणतो, जं च ण इच्छसि अप्यणतो।

तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं ॥

जो तुम अपने लिए चाहते हो वही दूसरों के लिए भी चाहो तथा जो तुम अपने लिए नहीं चाहते वह दूसरों के लिए भी न चाहो। यही जिनशासन है—तीर्थंकर का उपदेश है। स्पष्ट है कि इस नियम का पालन व्यक्ति को तो पाप से बचाएगा ही, व्यक्ति के द्वारा ऐसे कर्म भी नहीं होने देंगे जो समाज में

अव्यवस्था, शोषण अथवा अन्याय को प्रश्रय दे। इस प्रकार से यह आदर्श व्यक्ति और समष्टि दोनों के लिए हितकारी सिद्ध होगा।

इसी प्रकार एक दूसरा सिद्धान्त लें, जिसके अनुसार पापकर्म के दो स्रोत माने गये हैं—राग और द्वेष।
प्रासूको रागे दोसे य दो पावे, पापकम्मपवत्ताणे।

पापकर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष—ये ही दो पाप हैं। परमार्थ के मार्ग में तो राग और द्वेष बाधक हैं। कहा भी गया है—**न वि तं कुणइ अमित्तो, सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो वि।**

जं दो वि अनिगहिया, करंति रागो य दोसो य ॥

राग और द्वेष कर्म के बीज (मूल कारण) हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। (वह जन्म-मरण का मूल है) जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है। अनुभव बताता है कि राग और द्वेष हमारे लौकिक व्यवहार को भी दूषित करते हैं। अपने लौकिक व्यवहार में हम जब भी कोई कार्य करते हैं, तो उसके पीछे राग और द्वेष का आधिक्य ही होता है। यदि हमारी वस्तु के प्रति अत्यधिक आसक्ति न हो अथवा किसी के प्रति अत्यधिक द्वेषभाव न हो तो हमारे निर्णय संतुलित होंगे और हमारा व्यवहार निर्दोष होगा।

एक अन्य उदाहरण लें—जैन आचार्य चार कषायों को छोड़ने की बात कहते हैं—

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।

वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंती हियमप्पणो ॥

क्रोध, मान, माया व लोभ सभी पाप की वृद्धि करने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े।

उपर्युक्त चारों कषाय लोक व्यवहार में भी निन्दित हैं, अर्थात् के क्षेत्र में तो निन्दित हैं ही। इस प्रकार जैन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित आचार सम्बन्धी नियम लौकिक तथा पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से हितकारी हैं।

12.3 आचार-साधना की क्रमिकता

जैन आचार्यों के सम्मुख यह प्रश्न था कि हिंसा हो या राग-द्वेष या कषाय—इनको पूर्णतः छोड़ना सबके लिए संभव नहीं है। इसीलिए उन्होंने चारित्र्य के क्रमिक विकास की बात की और इस विकासक्रम की मुख्यतया चौदह अवस्थाएं बताईं, जिन्हें गुणस्थान कहा जाता है। इन चौदह अवस्थाओं का वर्णन एक पृथक् पाठ में रहेगा, किन्तु यहां हम इनमें से केवल दो अवस्थाओं का वर्णन करेंगे—एक गृहस्थ और दूसरी साधु की स्थिति।

12.3.1 श्रावक धर्म

जैन आचार्यों का मानना था कि जो साधक मुनि बनने का मनोबल न रखता हो, वह गृहस्थ में रहते हुए भी ऐसे मध्यम मार्ग का अनुसरण करे जिससे परिवार और समाज के प्रति भी अपने लौकिक दायित्व का धर्म की मर्यादा में रहते हुए निर्वाह कर सके और मोक्ष के चरम लक्ष्य की ओर भी अग्रसर हो सके। धर्म का यह स्वरूप श्रावक धर्म कहलाता है।

नो खलु अहं तहा, संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए।

अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं, सत्तसिक्खाइयं

इवात्तसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि ॥

जो व्यक्ति मुण्डित (प्रव्रजित) होकर अनार धर्म स्वीकार करने में असमर्थ होता है, वह जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित श्रावकधर्म को अंगीकार करता है। सभी प्रकार की हिंसा छोड़ने पर पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए श्रावक के लिए जिन नियमों का विधान किया जाता है, वे अणुव्रत कहलाते हैं जिनके अंतर्गत श्रावक स्थूल पापों से बचता है।

12.3.2 मुनि धर्म

जैसे ही साधक सूक्ष्म पापों को भी छोड़ने का मनोबल जुटा लेता है, वैसे ही वह दूसरे सोपान की आचार संहिता का पालन करने लगता है, जिन्हें मुनिधर्म कहा जाता है, जिसके अंतर्गत महाव्रतों का पालन करना होता है। गृहस्थ के लिए और साधु के लिए जो आचार संहिता विहित है, उसका हम अलग-अलग

पाठों में विस्तार से विवरण देंगे। प्रस्तुत पाठ में जैन आचार मीमांसा की कुछ विशेषताओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करेंगे।

12.4 जैन आचार मीमांसा की विशेषताएं

12.4.1 आचार और व्यवहार

जैन आचार मीमांसा की प्रथम विशेषता यह है कि वह व्यावहारिक है। चारित्र्य का अंतिम उद्देश्य मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है—आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाना। आत्मा का शुद्ध रूप ज्ञानमय है। यह ज्ञानमय रूप पाप-पुण्य दोनों से परे है। क्योंकि पाप-पुण्य क्रियारूप है और शुद्ध ज्ञान रूप है, जिसमें कर्तृत्व का स्थान नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की अमृतचन्द्राचार्य विरचित आत्मख्याति टीका में कहा गया है—

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।

यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्।

जो करता है सो मात्र करता ही है और जो जानता है सो जानता ही है। जो करता है सो जानता नहीं और जो जानता है वह कभी करता नहीं।

12.4.2 पाप पुण्य

ऐसी स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा को अंततोगत्वा अपने शुद्ध ज्ञातृ स्वरूप में ही आना है तो पाप-पुण्य का महत्त्व ही क्या है? उत्तर यह है कि एक स्थिति ऐसी अवश्य है, जहां पाप-पुण्य का भेद महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। क्योंकि पुण्य भी अंततोगत्वा एक कर्म है और वह भी आत्मा के शुद्ध ज्ञातृ रूप को ढकता ही है। इस अर्थ में आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है—यदि पाप लोहे की बेड़ी है तो पुण्य भी सोने की बेड़ी है। दोनों ही बंधन का कारण है।

सोवर्णियं पि णियलं, बन्धदि कालायसं पि जह पुरिसं।

बन्धदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥

बेड़ी सोने की हो अथवा लोहे की पुरुष को दोनों ही बेड़ियां बांधती हैं। इसी प्रकार जीव को उसके शुभ-अशुभ कर्म बांधते हैं। प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति में मनुष्य पुण्य क्यों करे? उत्तर यह है कि कुछ बहुत ही विरले अपवादों को छोड़ दें तो हममें से अधिकतर विशुद्ध ज्ञातृ भाव में तत्काल नहीं जा सकते। अतः हमें शनैः शनैः ही उस लक्ष्य की ओर बढ़ना है। जब तक वह लक्ष्य हमें प्राप्त नहीं हो जाए तब तक हमें यथाशक्ति पाप को छोड़कर पुण्य को अपनाना है क्योंकि पुण्य का भाव शुभ है, पाप का भाव अशुभ है।

कम्मं पुण्णं पातं, हेऊ तेसिं च होति सच्छिदरा।

मन्दकसाग सच्छा, तिक्कसाया असच्छा हु ॥

कर्म दो प्रकार का है—पुण्य और पापरूप। पुण्य कर्म के बंध का हेतु स्वच्छ या शुभभाव है और पाप कर्म के बंध का हेतु अस्वच्छ या अशुभ भाव है। मंदकषायी जीव स्वच्छ भाव वाले होते हैं तथा तीव्र कषायी जीव अस्वच्छ भाव वाले होते हैं।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकम्।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥

अर्थात् व्रतों के पालन द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति उत्तम है न कि अव्रत द्वारा नरक की प्राप्ति। यद्यपि स्वर्ग और नरक दोनों ही मोक्ष नहीं हैं, तथापि स्वर्ग में रहने वाले मानों छाया में बैठे हैं और नरक में रहने वाले मानों धूप में बैठे हैं। इन दोनों को जब तक शुद्ध आत्म-स्वभाव की उपलब्धि नहीं हो जाती, तब तक पुण्य का इतना फल तो होता ही है कि पुण्यात्मा का जीवन-यापन सुखपूर्वक होता है, जबकि पापात्मा का जीवन-यापन दुःख हो जाता है। ऐसी स्थिति में जैन आचार्य पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य को उपादेय न मानने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से पुण्य को पूर्णतः उपादेय मानते हैं। इस प्रकार वे साधक को जहां एक ओर निरन्तर चरम लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देते हैं, वहां दूसरी ओर उसकी कमजोरियों को ध्यान में रखते हुए रागात्मक होने पर भी उसकी शुभ प्रवृत्तियों का समर्थन करते हैं। इस प्रकार वे जहां एक ओर अभ्यात्म

के नाम पर व्यक्ति और समाज के जीवन में भ्रष्टाचार नहीं आने देते, वहां दूसरी ओर साधक को लोकधर्म में ही उलझकर न रह जाने की भी प्रेरणा देते हैं। पश्चिमी विचारकों में कान्ट का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वे यह मानते हैं कि जब भी किसी कर्म के पीछे शुद्ध कर्तव्य की भावना के अतिरिक्त भी कोई प्रेरक तत्त्व रहता है तो उस कर्म का नैतिक मूल्य नहीं है। क्रोध, घृणा, ईर्ष्या जैसे निन्दित भावों से प्रेरित कर्म तो त्याज्य हैं ही किन्तु सामाजिक दृष्टि से उपयोगी सहानुभूति जैसे भावों से प्रेरित होकर किये गये कर्म भी निर्दोष नहीं कहे जा सकते। कान्ट के इन विचारों की तुलना कुन्दकुन्द के इस विचार से की जा सकती है कि अंततोगत्वा पुण्य भी बंधन का कारण होने से त्याज्य ही है।

कान्ट की दृष्टि में भी कर्तव्य पालन का लक्ष्य आत्मा की पूर्णता है जैन दृष्टि में धर्म का लक्ष्य आत्मा की निर्मलता ही है। आचार्य भिक्षु ऐसे कर्मों को जो समाज की दृष्टि से उपयोगी हैं किन्तु आत्मा की निर्मलता के साधक नहीं हैं, धर्म के अंतर्गत नहीं मानते, भले ही उन्हें लौकिक धर्म मान लिया जाये। कान्ट भी ऐसे कर्मों को नैतिक मानने को तैयार नहीं, भले ही सामाजिक दृष्टि से उनकी प्रशंसा की जाए।

12.4.3 आन्तरिक या बाह्य निर्मलता

जैन आचार मीमांसा की एक दूसरी विशेषता है कि जहां वह आन्तरिक शुद्धि पर बल देती है वहां उतना ही बल वह बाह्य शुद्धि पर भी देती है।

12.4.4 आन्तरिक तथा बाह्य निर्मलता

उदाहरणतः अपरिग्रह के व्रत को लें। परिग्रह का मूल आसक्ति है। जैन विचारक इस तथ्य को जानते हैं—मूर्च्छा परिग्रहः। प्रश्न होता है कि यदि कोई व्यक्ति सब प्रकार के सुख-साधनों की सामग्री अधिकाधिक जुटाता चला जाए और यह कहे कि वह परिग्रही नहीं है क्योंकि उसके मन में सुख-सामग्री के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है, तो जैन चिन्तक ऐसा मानते हैं कि उसका यह कहना ठीक नहीं है। आन्तरिक आसक्ति का भाव बाह्य व्यवहार में प्रकट होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जैसे-जैसे आन्तरिक अनासक्ति का भाव बढ़े, वैसे-वैसे बाह्य पदार्थ का भी त्याग होना चाहिए। बिना बाह्य पदार्थों के त्याग के आन्तरिक अनासक्ति की दुहाई देते रहना एक प्रकार का पखण्ड ही है। ठीक इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति बाह्य रूप से पदार्थों को छोड़ता रहे, किन्तु आन्तरिक रूप से पदार्थ के प्रति उसकी आसक्ति न छूटे तो उसका ऐसा त्याग द्रव्य त्याग ही कहलाएगा और उसका कोई विशेष फल नहीं होगा, क्योंकि भाव शून्य क्रिया सफल नहीं होती। 'यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।'

12.4.5 निवृत्ति तथा प्रवृत्ति

जैन दृष्टि से संस्कार तीन माध्यमों से आते हैं—मन, वचन और शरीर। इन तीनों की क्रिया में एकरूपता रखने के लिए यह आवश्यक है कि इन तीनों पर नियंत्रण किया जाए। इसे त्रिगुप्ति कहा जाता है। इसके अंतर्गत मन के संयम के साथ वाचिक तथा शारीरिक प्रवृत्तियों पर भी नियंत्रण आवश्यक है। त्रिगुप्ति के द्वारा हमारी प्रवृत्तियों का नियंत्रण होता है। प्रवृत्तियों में शुद्धि के लिए पांच प्रकार की क्रियाओं में सावधानी बरतने का विधान है, जिन्हें पञ्चसमिति कहा जाता है। वे पांच क्रियाएं निम्नलिखित हैं— 1. चलना-फिरना, 2. बोलना, 3. भिक्षा-चर्चा, 4. चीजों को उठाना-धरना और 5. मल-मूत्र विसर्जन। इन पांचों क्रियाओं में सावधानी बरतने को क्रमशः ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेप समिति और उत्सर्ग समिति कहते हैं। ये सब नियम जिनकी चर्चा विस्तार से हम अगले पाठों में करेंगे, इस बात की सूचक हैं कि जैन आचार में बाह्य क्रियाओं में पूरी सावधानी बरतने पर बल देते रहे हैं।

12.5 आचार की तात्त्विक पृष्ठभूमि

जैन आचार-मीमांसा की तीसरी विशेषता है कि वह तत्त्व ज्ञान पर आधारित है। जैन जहां चारित्र को धर्म कहता है, वहां वस्तु के स्वभाव को भी धर्म कहता है। इसका कारण यह है कि जैन यह मानता है कि जब तक वस्तु के स्वरूप को ठीक से न समझा जाये तब तक चारित्र के पालन की युक्तिसंगतता नहीं बन सकती। हम अनेक पाठों में जैन तत्त्वों की चर्चा करेंगे। वह समस्त तत्त्वचर्चा आचार मीमांसा में उपयोगी है। उदाहरणतः यदि हम बौद्धों के समान पदार्थ को क्षणभंगुर मानेंगे तो कर्म का करने वाला तब तक रहेगा

ही नहीं, जब तक वह कर्म परिपक्व होकर फल देने योग्य न हो जाये। परिणाम यह होगा कि कर्म करेगा कोई और कर्म का फल किसी और को भोगना पड़ेगा। अतः यह आवश्यक है कि कर्म करने वाला कर्मफल भोगने तक बना रहे, ताकि जो कर्म करे, वही कर्म का फल भोगे, कोई दूसरा नहीं। इसी प्रकार वेदान्त की दृष्टि में यदि वस्तुतः कोई दूसरा है ही नहीं तो हम किसी की हिंसा कर ही नहीं सकते। यदि यह माना जाए कि दूसरे की सत्ता व्यवहारिक है, भले ही पारमार्थिक न हो तो ऐसी स्थिति में आचारशास्त्र का आधार भी टोस नहीं बनता है। अतः यह मानना होगा कि पदार्थ न सर्वथा परिवर्तनशील है, न सर्वथा अपरिवर्तनशील। जैन आचार्यों का कहना है कि एकान्तवाद के अंतर्गत तो संसार की सुख-दुःख, पुण्य-पाप तथा बंध-मोक्ष की सभी व्यवस्थायें गड़बड़ा जायेंगी—

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ, न पुण्यपापे न च बंधमोक्षा।

दुर्नीतिवादव्यसनासिनैव, परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥

12.5.1 विचारों की उदारता तथा चरित्र की कठोरता

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि जैन, पदार्थ में परस्पर नित्य-अनित्य जैसे विरुद्ध धर्मों की सत्ता स्वीकार करता है। क्योंकि वह यह मानता है कि विभिन्न अपेक्षाओं से परस्पर विरोधी धर्म भी एक पदार्थ में रह सकते हैं। इस दृष्टि का यह फल हुआ कि जैन अपने विचारों में उदारता पर बल देते हैं—

सयं सयं पसंसता, गरहंता परं वयं।

जे ऽ तथ्य विञ्जसन्ति, संसारं ते विजिस्सया ॥

जो अपने मतकी प्रशंसा और दूसरों के मत की निन्दा करने में अपना पाण्डित्य दिखाते हैं तथा तथ्य अथवा सत्य का विलोपन करते हैं, वे एकान्तवादी स्वयं ही विशेष चक्र में भटकते हैं। उन्होंने यहां तक कह दिया कि सभी मत एक न एक दृष्टि से समीचीन होते हैं। अतः द्वेष-मूलक कलह युक्तियुक्त नहीं है।

सज्जेवि होति सुद्धा, नत्थि असुद्धो नय उ सद्वाणे।

सभी नय अपने-अपने स्थान पर शुद्ध हैं, कोई भी नय अपने स्थान पर अशुद्ध नहीं है। यद्यपि जैन आचरण के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिथिलता को अवाञ्छनीय मानने के कारण चरित्र के सम्बन्ध में कठोरतावादी है, तथापि विचार के क्षेत्र में समन्वयवादी होने के कारण जैन दृष्टि अत्यन्त लचीली है।

12.5.2 स्वावलम्बन

जैन आचार की चौथी विशेषता स्वावलम्बन का भाव है; दूसरा कोई भले ही हमारे उत्थान-पतन में निमित्त बन जाए किन्तु वास्तविक रूप में अपना उत्थान-पतन हम स्वयं ही करते हैं।

अप्या कत्ता चिकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

अप्या मित्तममित्तं च, दुप्पड्डिय सुप्पड्डिओ ॥

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता व भोक्ता है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दृष्टप्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है। इसलिए महावीर का कहना है अपने से बाहर अपने शत्रु और मित्र मत खोजो—‘पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि।’

अप्याणमेव जुज्झहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।

अप्याणमेव अप्याणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध कर! आत्मा को आत्मा के द्वारा जीतने वाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है। इस विशेषता के कारण ही जैन आचार मीमांसा का मेरुदण्ड कर्म सिद्धान्त है। हम जैसा करेंगे, वैसा भरेंगे, कोई दूसरा हमें हमारे बुरे कर्मों के फल से बचा नहीं सकता है और न कोई दूसरा हमें ऐसा अच्छा फल दे सकता है, जिसे हमने अपने स्वयं के अच्छे कर्मों से अर्जित न किया हो।

जहां तक पुरुषार्थ और भाग्य का सम्बन्ध है जैन कर्म सिद्धान्त दोनों को स्वीकार करता है किन्तु इन दोनों में मुख्य पुरुषार्थ ही है क्योंकि हमारे द्वारा पूर्व में किये गये पुरुषार्थ का ही फल वर्तमान में भाग्य बनता है। इस दृष्टि से महावीर ने अपने ही समकालिक मक्खली गोशालक द्वारा प्रतिपादित एकान्तिक

नियतिवाद को स्वीकार न करते हुए पुरुषार्थ की स्थापना की। इस सम्बन्ध में महावीर के विचारों की तुलना आधुनिक पश्चिमी विद्वान् स्टीवेन्सन, मूर, नॉबेल स्मिथ आदि से की जा सकती है जो मनुष्य के आचरण में कार्य-कारण सिद्धान्त का समर्थन करने के कारण भाग्य को मानते हैं किन्तु मनुष्य की इच्छा-शक्ति के स्वातंत्र्य को भी मानते हैं और यह नहीं मानते कि भाग्य ही सब कुछ है।

12.5.3 साम्य-दृष्टि

जैन आचार मीमांसा की पाँचवीं विशेषता यह है कि वह सभी जीवों को समान मानता है। अधिक प्राणियों के हित में कम प्राणियों के हित की या बड़े प्राणियों के हित में छोटे प्राणियों के हित की बलि देना जैनधर्म को स्वीकार नहीं है। इस मान्यता का परिणाम यह हुआ कि जैन आचार मीमांसा के बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं जो हमें अटपटे प्रतीत होंगे। उदाहरणतः यदि कोई जैन साधु किसी व्यक्ति को जल में डूबते देखे तो उसे बचाने के लिए स्वयं जलधारा में नहीं कूदेगा। कारण यह है कि उसकी दृष्टि में जल का जीवन भी (जैन दृष्टि से जल, अग्नि, वायु तथा पृथ्वी भी जीवन युक्त हैं) उतना ही अहिंस्य है, जितना किसी अन्य प्राणी का जीवन। अतः वह किसी अन्य प्राणी के जीवन को बचाने के लिए अपकाय जीव की हिंसा नहीं कर सकता। इस प्रकार के प्रश्न जैन आचार मीमांसा के सर्वाधिक विवादास्पद मुद्दे हैं। जिनके विषय में आपकी दृष्टि धीरे-धीरे साफ होगी। इस प्रकार के सिद्धान्तों पर प्रायः आक्षेप किया जाता है, इसलिए उसका संकेत मात्र यहां कर दिया गया है। समझना यह है कि जैन आचार मीमांसा किसी भी साध्व की प्राप्ति के लिए सावध साधन को समीचीन नहीं मानती। जैन की सजीवता की दृष्टि भी इतनी व्यापक है कि संसार में हमें जो भी कुछ दीखता है, वह कभी ना कभी किसी न किसी जीव का शरीर रह चुका है। इस मान्यता को हम जीव पर विचार करते समय और अधिक स्पष्ट करेंगे तथा अहिंसा पर विचार करते समय अहिंसा सम्बन्धी ऐसे प्रश्नों की चर्चा करेंगे। प्रस्तुत पाठ में तो इस सम्बन्ध में आचार्य भिक्षु के एक कथन को ही उद्धृत करना हम पर्याप्त समझते हैं—

रांका ने मार घोंगा ने पोछा, ए तो बात दीसै घणी गेरी।

तिण मांहे दुष्टी धर्म बतावे, ते रांक जीवां रा उट्या वेरी ॥

अर्थात् छोटे जीवों को मारकर बड़ों को पोषण करने को जो अहिंसा कहते हैं, वे छोटे जीवों के दुश्मन हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य महाप्रज्ञ का कहना है—‘बड़ों के लिए छोटे का बलिदान क्षम्य है, यह राजतंत्र की मान्यता है, पर अहिंसा की नहीं।’ आचार्य भिक्षु ने इस संदर्भ में कथोपकथन के माध्यम से एक तर्क दिया है—‘एकेन्द्रिय को मारकर पंचेन्द्रिय का पोषण करने में लाभ है?—किसी ने पूछा। आचार्य भिक्षु बोले—किसी व्यक्ति ने तुम्हारा लौलया छीनकर दूसरे व्यक्ति को दे दिया, उसमें लाभ है या नहीं? एक व्यक्ति ने गेहूँ के कोठों को लूट लिया, उसमें लाभ है या नहीं?’

वह बोला—नहीं।

आचार्य बोले—क्यों?

वह बोला—उनके स्वामी के मन के बिना दिया गया, इसलिए।

आचार्य—एकेन्द्रिय ने कब कहा कि हमारे प्राण लूटकर दूसरे का पोषण करना। यह बलात्कार है, एकेन्द्रिय की चोरी है। इसलिए एकेन्द्रिय को मार पंचेन्द्रिय का पोषण करने में धर्म नहीं है।

स्पष्ट है कि जैन पश्चिम के बेन्थम आदि उन उपयोगितावादियों से सहमत नहीं है जो अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को कर्तव्य निर्धारित करने की कसौटी मानते हैं। जैन दृष्टि में छोटे-बड़े सभी जीव समान हैं और हर जीव की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को जैन सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। अतः उपयोगितावादियों के साथ उनका साम्य नहीं है।

12.6 वर्तमान युग की समस्याएं एवं जैन आचार

बर्टण्ड रसल ने वर्तमान युग की समस्याओं को निम्न कोटियों में बांटा है—1. अज्ञान, 2. अभाव, 3. अन्याय।

इन तीनों ही समस्याओं पर जैन आचार्यों द्वारा विशिष्ट समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। अज्ञान का समाधान अनेकान्त में है, अभाव का समाधान अपरिग्रह में है तथा अन्याय का समाधान अहिंसा में है।

12.6.1 अज्ञान तथा अनेकान्त

आज के समय में ज्ञान निरन्तर विकासशील है। प्रतिदिन नये-नये तथ्य सामने आते हैं। अनेकान्त यह मानता है कि ज्ञान अनन्त है। हम उसका एक अंश ही जानते हैं। ऐसी स्थिति में विज्ञान की नई-नई खोजें स्वागतयोग्य हैं, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि जीवन के शाश्वत मूल्यों को प्रतिपादित करने वाले प्राचीन ज्ञान की उपेक्षा की जाए। सभी प्रकार के ज्ञान को सही परिप्रेक्ष्य में देखने पर प्राचीन और नवीन के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

12.6.2 अभाव तथा अपरिग्रह

जहां तक अभाव की समस्या का प्रश्न है, महात्मा गांधी ने कहा था—पृथ्वी पर इतनी साधन सामग्री है कि वह प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता पूरी कर सकती है किन्तु वही साधन-सामग्री किसी एक मनुष्य की भी इच्छाओं को पूरा नहीं कर सकती। वस्तुतः इच्छाओं का निग्रह होते ही आवश्यकताओं का अल्पीकरण स्वयं होने लगता है। यही अपरिग्रह है, इच्छा निग्रह के बिना मनुष्य के लालची पंजे के आक्रमण से प्रकृति को नष्ट होने से नहीं बचाया जा सकता।

12.6.3 अन्याय तथा अहिंसा

विश्व में दुःख अभाव के कारण उतना नहीं है, जितना अन्याय के कारण। हम अपने थोड़े से ही सुख के लिए दूसरों को बड़े से बड़ा दुःख देने के लिए तैयार हैं। कर्म सिद्धान्त पर आधारित अहिंसा का अर्थ है कि हम किसी को दुःख देकर बदले में दुःख पा सकते हैं, सुख नहीं। यह समझ पैदा हो जाने पर अन्याय की समस्या स्वयं ही सुलझ जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि जैन आचार-मीमांसा आधुनिक संदर्भ में अत्यन्त प्रासंगिक है। उसका पालन न केवल मोक्ष का साधन है, प्रत्युत आज की आर्थिक व सामाजिक समस्याओं का समाधान भी उसमें निहित है।

12.7 सारांश

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां जैन आचार-मीमांसा सत्य आदि कुछ ऐसे मूल्यों को प्रतिपादित करती है, जो सर्वमान्य हैं, वहां अहिंसा जैसी अवधारणाओं के विषय में कुछ ऐसे सूक्ष्म प्रश्न भी उठाती है, जिन पर पर्याप्त ऊहापोह किया गया है। आप जितना जैन आचार-मीमांसा की गहराई में जाएंगे, उतना ही पाएंगे कि यह अत्यन्त सूक्ष्म विषय है। जैन आचार्य जिन मूल्यों का प्रतिपादन करते हैं, वे सार्वभौम और सार्वकालिक हैं। अतः वर्तमान युग में भी उनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

12.8 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन आचार मीमांसा की प्रमुख विशेषताएं बताइये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आचार साधना के क्रमिक विकास को निरूपित कीजिए।
2. वर्तमान युग की समस्याओं के निदान में जैन आचार की भूमिका को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. परिग्रह का मूल—अ. आसक्ति ब. क्रोध स. माया द. घृणा ()
2. तत्त्वार्थमंत्र के लेख हैं—अ. पूज्यपाद ब. समन्तभद्र स. उमास्वाति द. हरिभद्र ()
3. सुख-दुःख का कर्ता व भोक्ता है—अ. इन्द्रियां ब. आत्मा स. मन द. बुद्धि ()
4. गुणस्थान के प्रकार हैं—अ. 18 ब. 17 स. 14 द. 10 ()
5. मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है—अ. त्याग ब. करुणा स. ज्ञान द. चारित्र ()
6. कषाय है—अ. 4 ब. 7 स. 3 द. 5 ()
7. गुप्ति हैं—अ. ज्ञान, दर्शन, चारित्र, ब. मन, वचन, काय, स. सत्व, रज, तम, द. इनमें से कोई नहीं ()
8. बर्ट्रेण्ड रसल के अनुसार वर्तमान युग की समस्याएं हैं—
अ. सम्प्रदाय, आतंकवाद, निरक्षरता ब. विलासिता, माया, मोह
स. अज्ञान, अभाव, अन्याय द. इनमें से कोई नहीं। ()
9. समिति है—अ. 5 ब. 10 स. 7 द. 4 ()
10. क्या पुण्य भी बंधन का कारण है—अ. नहीं ब. हाँ स. किंचित मात्र द. है भी नहीं भी ()

इकाई-13 : जैनाचार के सिद्धान्तों का उद्भव और विकास

संरचना

- 13.0 प्रस्तावना
- 13.1 उद्देश्य
- 13.2 आचार शास्त्र की प्रेरकता
- 13.3 बन्धन मुक्ति के उपाय
- 13.4 सारांश
- 13.5 अभ्यास प्रश्नावली

13.0 प्रस्तावना

इस जगत् में सभी कुछ द्वन्द्वात्मक है, भूप है तो छांव भी है दिन है तो रात भी है। सुख है तो दुःख भी है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख का इच्छुक होता है। दसवैकालिक में कहा गया है—‘सव्वे पाणा परमाहम्मिया’ और उसकी हर प्रवृत्ति दुःख निवृत्ति के लिए होती है। बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्य का वर्णन आता है। दुःख, दुःखसमुदय, दुःख निरोध और दुःखनिरोध का उपाय। दुःख है तो दुःख निरोध का उपाय भी है। जैन शास्त्रों में भी आचार का उद्भव दुःख निरोध के लिए हुआ।

प्रश्न पूछा गया कि ज्ञान का सार क्या है? निर्युक्तिकार ने कहा ‘णाणस्स सारमायारो’ ज्ञान का सार है—आचार। पहले दृष्टि—दर्शन होता है और फिर उससे फलित होता है आचार। यदि दर्शन की पृष्ठभूमि न हो तो आचार होता ही नहीं। दर्शन की निष्पत्ति है आचार। दर्शन की सार्थकता है आचार।

जैन अंगों में सूत्रकृतांग दूसरा अंग है। यह आचार शास्त्र का प्रतिपादित ग्रंथ है। उसका प्रारम्भ का वाक्य है बुद्धेज्ज। इसका अर्थ है जानो। यदि जानें नहीं तो आचार का निर्धारण कैसे होगा। इस शब्द की विस्तृत व्याख्या दसवैकालिक सूत्र (4-10) में उपलब्ध होती है। वहां का वाक्य है ‘किं वा नाहिइ छेय पाकां’ जो ज्ञानी नहीं, वह कैसे जानेगा कि श्रेय क्या है, अश्रेय क्या है? पुण्य क्या है, पाप क्या है? इसको नहीं जानने वाला आचार शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकता। जीवन में दो बातें होती हैं—श्रेय या अश्रेय। इसी के आधार पर व्यवहार को अच्छा बुरा कहा जाता है। इसका अध्ययन ही आचार शास्त्र का विषय है और यही आचार शास्त्र है।

पहला धर्म है ज्ञान। पहला निर्देश है ‘बुद्धेज्ज’ जानो। प्रश्न होता है कि जानना किसलिए? जहां जानना केवल जानने के लिए नहीं, ज्ञान केवल ज्ञान के लिए नहीं किन्तु उद्देश्यपूर्ति के लिए हो।

ज्ञान ज्ञान के लिए भी हो सकता है। मैं जानता हूँ क्योंकि मुझे ज्ञान उपलब्ध है। यह अपने आप उद्देश्य की सार्थकता है। यह अनुचित नहीं है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में ‘बुद्धेज्ज’ शब्द का प्रतिपाद्य है कि ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं, कर्तव्य कर्तव्य के लिए नहीं किन्तु लक्ष्यपूर्ति के लिए हो।

काण्ट ने कहा—“कर्तव्य कर्तव्य के लिए होना चाहिए किसी लाभ विशेष के लिए नहीं।” यह कथन उचित है किन्तु पूर्ण नहीं है। यदि कर्तव्य कर्तव्य के लिए हो तो शून्यता होगी। उसका अवश्य ही कोई उद्देश्य होना चाहिए, लक्ष्य होना चाहिए। क्या आदमी केवल कार्य करने के लिए ही जन्मा है? क्या उसका कोई लक्ष्य नहीं है? क्या वह लक्ष्यहीन जीवन जी रहा है? क्रिया क्रिया के लिए होगी तो वह व्यर्थ होगी। मनुष्य अनावश्यक क्रियाओं में उलझ जाएगा। क्रिया उद्देश्यपूर्ति के लिए होनी चाहिए। जितना प्रयोजन उतनी क्रिया—यह व्यवहार का बहुत ही महत्वपूर्ण सूत्र है। यदि क्रिया केवल क्रिया के लिए ही हो तो वह अनन्त हो जाएगी और उसकी पूर्ति का विरामचिह्न कहीं नहीं लगेगा।

ज्ञान और कर्तव्य किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होने चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में ‘बुद्धेज्ज’ के बाद का शब्द है—‘तिउट्टेज्जा’। इसका अर्थ है—तोड़ो। पहले जानो फिर आचरण करो, तोड़ो। ज्ञान और आचरण—दोनों साथ-साथ चलें। केवल जानना पर्याप्त नहीं है। यह अपूर्ण है। उसमें तोड़ने का—आचरण

करने का प्रश्न ही नहीं आता। किन्तु 'बुद्धेज्ज तिउद्धेज्जा' यह ज्ञान और आचरण का समन्वय सूत्र है। जानो और तोड़ो। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। दोनों साथ होकर पूर्ण होते हैं। इसलिए इस सूत्र से स्पष्ट रूप से उद्भाषित होता है कि आचार का प्रारम्भ या उद्भव स्थल है ज्ञान।

13.1 उद्देश्य- इसके अध्ययन से जैन आचार सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास का ज्ञान कर सकेंगे।

13.2 आचार शास्त्र की प्रेरकता

आचार शास्त्र का एक महत्वपूर्ण विषय है—आचार शास्त्र की प्रेरकता। प्रश्न है—हम क्या जानें? यदि कोई प्रेरणा न हो तो जानने की सार्थकता नहीं होती। वह प्रेरणा है—तोड़ना, आचरण करना। सामान्यतः हर व्यक्ति की यह मनोवृत्ति है कि वह हर समय सुख का अनुसंधान करता रहता है। आचार शास्त्र ने सुखवादी दृष्टिकोण के आधार पर प्रतिपादित किया कि मनुष्य सुख चाहता है, दुःख नहीं। इसलिए हमारे समूचे आचार शास्त्र का आधार बनता है—सुखवाद। लेकिन मूल सुख है यह बात नहीं—मूल है राग, काम। वह सुख से प्रेरित नहीं किन्तु कामना से प्रेरित होकर कार्य करता है। भगवान् महावीर ने कहा—'कामकामी खलु अयं पुरिसे' मनुष्य काम से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करता है।

भारतीय आचार शास्त्र में दो धाराओं का अनुशीलन और अनुचिन्तन किया गया है। इन दो धाराओं के आधार पर दो पक्ष बनते हैं—लौकिक और आध्यात्मिक। आचार शास्त्र के लौकिक पक्ष में काम और अर्थ पर विचार किया गया और आध्यात्मिक पक्ष में धर्म और मोक्ष पर चिन्तन किया गया। दोनों पक्षों में चारों पुरुषार्थ समा जाते हैं। लेकिन जैनाचार के संदर्भ में धर्म और मोक्ष ही जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिए अभिप्सित हैं। जैन दर्शन में जीवन को उत्कर्षता की ओर ले जान के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और वीर्य पांच प्रकार के आचार पालन का विधान है।

पश्चिम दार्शनिक हेराक्लाइटस ने यह प्रश्न उपस्थित किया—आचार क्यों? आचार को जानने के लिए जगत् की प्रकृति का अध्ययन जरूरी है? निष्कर्ष निकाला कि जगत् का मूल तत्त्व है—कठोरता और रूक्षता। हमारे जीवन का उद्देश्य है—प्रकाश को प्राप्त करना, अन्धकार को समाप्त करना। आर्द्रता को समाप्त कर रूक्षता का विकास करना, रूक्षता का अर्जन करना। हेराक्लाइटस ने कहा—Keep Your Life Dry जीवन को रूक्ष बनाओ। उनके दर्शन के आधार पर संयम का विकास हुआ। इच्छाओं पर नियंत्रण पाना उनका मुख्य आधार सूत्र बन गया।

आश्चर्य की बात है Dry का पर्याय शब्द रूक्ष है। भगवान् महावीर की वाणी में संयम का पर्यायवाची शब्द रूक्ष है। महावीर और हेराक्लाइटस का समय आसपास का ही है। क्षेत्रीय दूरी होने पर भी दोनों ने संयम के अर्थ में एक ही शब्द का प्रयोग किया। हेराक्लाइटस के रूक्षता के सिद्धान्त के आधार पर इच्छाओं पर नियंत्रण पाने, संयम करने के सिद्धान्त का विकास हुआ। यही आचार शास्त्र का मूल सूत्र बना।

कुछ समय परवात् डेमोक्रेटस ने इच्छा तृप्ति और सुखोपलब्धि का सूत्र दिया। इसके आधार पर आचार शास्त्र की नींव डाली गई। महावीर ने जिस आचार शास्त्र का प्रतिपादन किया। उसमें सुख और दुःख की परिभाषा बदल गई महावीर ने दुःख, सुख के स्थान पर बंध और मोक्ष शब्द का प्रयोग किया।

फिर प्रश्न उठा बंधन और मोक्ष क्या है? आर्य जम्बू ने गणधर सुधर्मा से पूछा किमाहु बंधणे वीरे—बंधन क्या है? 'किं वा जाणं तिउद्धई' क्या जानने से बंधन टूटता है? बंधन क्या है—इसे जानना है। उसको तोड़ने का उपाय क्या है—इसे जानना है, और करना है।

आर्य सुधर्मा ने आचारशास्त्रीय दृष्टि से यहां एक बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन किया है। उन्होंने कहा—'परिग्रह बंधन है।' यह सूत्र समूचे आचार शास्त्र का आधार सूत्र है। हमारी जीवन यात्रा परिग्रह से शुरू होती है। यदि परिग्रह नहीं है तो समाज भी नहीं है और जीवन यात्रा भी नहीं है। परिग्रह का अर्थ है—बाहर से कुछ लेना। बाहर से लेना बंधन है। हम श्वास लेते हैं, चिन्तन के परमाणुओं को ग्रहण करते हैं, संस्कारों को ग्रहण करते हैं—यह सब परिग्रह है, बंधन है। परिग्रह तीन भागों में विभक्त है। कर्म, शरीर और धन-धान्य आदि। महावीर ने कहा—परिग्रह बंधन है। यदि यहां कर्मशास्त्रीय विवेचन होता तो कहा जाता कि राग द्वेष

बंधन है, पर यहां कर्मशास्त्रीय विवेचन नहीं है, यहां आचार शास्त्रीय विवेचन है। आदमी सबसे पहले परिग्रह से बंधता है। और अंत तक उसी से बंधा रहता है। उसके जीवन की सारी यात्रा परिग्रह से होती है।

बंधन का प्रेरक तत्त्व है ममत्व। आदमी ममत्व के कारण ही संग्रह करता है। उसका शरीर के प्रति, परिवार और समाज के प्रति ममत्व है, इस ममत्व के कारण ही वह बंधा हुआ है। उसी की प्रेरकता के कारण वह परिग्रह-संग्रह करता है।

13.3 बन्धन मुक्ति के उपाय

13.3.1 अन्यत्वानुप्रेक्षा

प्रश्न है परिग्रह के बंधन की मुक्ति का उपाय क्या है? इसका पहला उपाय है अन्यत्वानुप्रेक्षा अर्थात् अत्राण की अनुभूति। जो आचार शास्त्र का मूल सिद्धांत बनता है। परिवार धन आदि के प्रति भेदानुभूति का होना ही बंधन मुक्ति का उपाय है। मनुष्य को यह अनुभव होना चाहिए कि परिवार और धन में त्राणशक्ति नहीं है। वे त्राण नहीं दे सकते। वे अक्षय हैं। बंधन मुक्ति का यह पहला प्रेरक तत्त्व या आचार शास्त्र का पहला सिद्धांत है।

13.3.2 नश्वरता का बोध

बंधन मुक्ति का दूसरा प्रेरक तत्त्व है—सुख-दुःख की क्षणिकता या नश्वरता का अनुभव। भारतीय दर्शनों में धर्म और अध्यात्म पर जो विचार हुआ, जो प्रेरक तत्त्व और आधार बतलाए वे शाश्वत हैं। वे दो हैं—अत्राण की अनुभूति और सुख दुःख की नश्वरता। इन दो मूलभूत बातों पर अध्यात्म (आचार) का विकास हुआ।

इन्द्रियजन्य सुख आत्यन्तिक अर्थात् शाश्वत नहीं होता। एक बार सुख मिला, दूसरी बार नहीं भी मिलता। तृप्ति हुई फिर अतृप्ति हो गई। आत्यन्तिक वह होता है जो एक बार तृप्ति देता है और फिर अतृप्ति कभी नहीं होती। पदार्थजन्य सुख निर्बाध नहीं है। उसमें अनेक अवरोध हैं, बाधाएं हैं। वीतराग चेतना से उपलब्ध सुख अनैकान्तिक, आत्यन्तिक और निर्बाध है, इसी आधार पर अध्यात्म का विकास हुआ, बंधन तोड़ने की प्रेरणा मिली। यह सुख शाश्वत है। इसमें त्राणशक्ति है। यह आचार शास्त्र का दूसरा सिद्धान्त है।

13.3.3 आत्मा की परिणामी नित्यता

आचार शास्त्र का तीसरा सिद्धांत है—आत्मा की परिणामी नित्यता। यदि आत्मा न हो तो आचार शास्त्र का कोई आधार नहीं बनता। आत्मा हो और वह कर्त्ता न हो, उसका स्वतंत्र कर्त्तृत्व न हो तो आचार शास्त्र की दिशा भिन्न होगी।

13.3.4 श्रेय का आचरण और अश्रेय का निरोध

आचार शास्त्र का चौथा आधारभूत सिद्धांत है—श्रेय का आचरण और अश्रेय का निरोध। यही इसका स्वरूप है। आचार शास्त्र कोई तत्त्वविद्या नहीं है। वह जीवन का मूल्य है, श्रेय का आचरण और अश्रेय का बचाव। श्रेय और अश्रेय का उत्पादक कौन है? यह आचार शास्त्र का ज्वलंत प्रश्न है। क्या मनुष्य श्रेय और अश्रेय का आचरण करने में स्वतंत्र है या परतंत्र? इन प्रश्नों के उत्तर में निष्कर्ष के रूप में तीन सिद्धांत सामने आये। 1. संकल्प की स्वतंत्रता। 2. नियतिवाद। 3. आत्म नियतिवाद।

1. संकल्प की स्वतंत्रता

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि मनुष्य कर्म और संकल्प करने में स्वतंत्र है यूनानी दार्शनिक का यही अभिमत रहा। काण्ट ने आचार शास्त्र के दो आधार प्रस्तुत किए। उनमें पहला है—संकल्प की स्वतंत्रता। उनका तर्क था कि यदि मनुष्य में संकल्प की स्वतंत्रता न हो तो उससे सदाचार की आशा नहीं की जा सकती। भले-बुरे के लिए उसे उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता फिर उत्तरदायी कोई दूसरा ही होगा।

जो ईश्वरवादी दार्शनिक है उनके सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न है। वे मनुष्य के संकल्प की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करते वे मानते हैं कि मनुष्य जो भी कर्म करता है, प्रवृत्ति करता है, वह सब ईश्वर प्रेरित होती है। अब प्रश्न आता है कि मनुष्य के कर्म का उत्तरदायी कौन।

पश्चिम के धर्म प्रधान दार्शनिकों में यह विचार प्रचलित रहा कि ईश्वर ने श्रेय ही उत्पन्न किया था। किन्तु बाद में अश्रेय हो गया। मनुष्य पहले अच्छा ही था बाद में वह बुरा बना। वह बुरा इसीलिए है कि

वह ईश्वरीय आदेशों का अतिक्रमण करता जा रहा है। भारतीय दर्शनों—ईश्वरवादी दर्शनों के सामने भी यह प्रश्न है कि मनुष्य के भले बुरे आचरण का उत्तरदायी कौन? कहा गया है—‘ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा नरकं’ तथा फिर मनुष्य को क्यों उत्तरदायी माना जाए। इस जटिल प्रश्न का समाधान बहुत कठिन है, यदि हम उसके कर्तृत्व की स्वतंत्रता स्वीकार न करें। यदि कर्म करने में स्वतंत्र नहीं है तो श्रेय और अश्रेय का उत्तरदायी भी नहीं माना जायेगा।

2. नियतिवाद

दूसरा दृष्टिकोण है नियतिवाद। नियतिवादी मानते हैं कि सब कुछ नियत है, अनियत कुछ भी नहीं, सारे भौतिक पदार्थ नियत हैं। एक परमाणु का भी क्रम नियत है। अनियत कुछ भी नहीं है। इसलिए समूचा भौतिकवादी विज्ञान एक निश्चित सिद्धांत के आधार पर निष्कर्ष निकालता है, भौतिक पदार्थ की व्याख्या करता है, भविष्यवाणी करता है। भविष्यवाणी इसीलिए की जा सकती है कि भौतिक पदार्थ में अनियमितता नहीं है, अव्यवस्था नहीं है। नियतिवादी विचारधारा मनुष्य को भौतिक पदार्थ की भांति यांत्रिक मानती है। इसी के आधार पर मनुष्य की नियति को व्याख्यायित करती है। सूत्रकृतांग में नियतिवाद का उल्लेख है यह आजीवक सम्प्रदाय का अभिमत है। इसके अनुसार मनुष्य एक नियत क्रम से चलता है। वह नियति के अधीन है।

आचार शास्त्र के तीन मूल तत्त्व हैं—दुःख, दुःख का उत्पाद और दुःख का निरोध। दुःख को जानना है, दुःख के उत्पाद को जानना है और दुःख के निरोध को जानना है। सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि दुःख क्या है? दूसरी बात है कि दुःख उत्पन्न कैसे होता है? और तीसरी बात है कि दुःख का निरोध कैसे होता है। सूत्रकार इस बात का समर्थन करते हैं कि व्यक्ति संकल्प में स्वतंत्र है। यदि वह स्वतंत्र न हो तो दुःख को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि व्यक्ति कर्म करने में और संकल्प करने में स्वतंत्र न हो तो फिर उसने दुःख उत्पन्न किया, वह कभी प्रस्थापित नहीं किया जा सकता। दुःख की स्थापना में व्यक्ति की कर्म और संकल्प की स्वतंत्रता ही मूल तत्त्व है। किन्तु संकल्प की स्वतंत्रता एकान्तिक नहीं हो सकती। नियतिवाद का अस्वीकार एकान्तिक नहीं हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र में नियति और संकल्प की स्वतंत्रता इन दोनों का समन्वय उपलब्ध होता है। यदि संकल्प ही सब कुछ हो तो कार्य-कारण के सिद्धांत की सर्वथा अवहेलना हो जाती है। कार्य-कारण के सिद्धांत में संकल्प की स्वतंत्रता एकान्तिक स्वीकृत नहीं हो सकती। संकल्प के पीछे भी कोई कारण है। संकल्प एक कार्य है। उसका कारण अवश्य होना चाहिए। कार्य जब कारण से प्रतिबद्ध है तो उसे एकान्तिक रूप से स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता, वह सापेक्ष है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य किसी भी कार्य के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। इसलिए नियतिवाद भी सापेक्ष है। नियतिवाद या कारणकार्यवाद या संकल्प की स्वतंत्रता और नियति—इन दोनों की सापेक्ष स्वीकृति ही दुःख के उत्पाद और निरोध में सहायक बनती है।

नियतिवाद को यदि हम वर्तमान चिन्तन के संदर्भ में प्रस्तुत करें तो उसे हम सार्वभौम नियम कह सकते हैं। विश्व के कुछेक सार्वभौम नियम होते हैं, जिनसे विश्व की सारी व्यवस्था संचालित होती है। ये नियम शाश्वत हैं। इनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। अब हम इन सार्वभौम नियम (युनिवर्सल लॉज) को ईश्वरीय सत्ता माने, काल का विपाक कहे, कोई अन्तर नहीं आता। भिन्न-भिन्न शब्दों का अभ्युगम हो सकता है। किन्तु ये सब नियम नियत हैं, जागतिक हैं, युनिवर्सल हैं। ये सब अपरिवर्तनीय हैं। जैसे पुद्गल के लिए नियम हैं, वैसे ही चेतन के लिए भी नियम हैं। परमाणुओं का एक नियम है कि अमुक काल के बाद वर्ण का गंध का, रस का और स्पर्श का परिवर्तन अवश्य ही होगा। यह निश्चित नियम है। इसे टाला नहीं जा सकता। इसी प्रकार चेतन के लिए यह निश्चित नियम है कि अमुक काल के पश्चात् जीव अव्यवहार-राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आएगा। अविकास की श्रृंखला से छूटकर विकास की श्रृंखला में जुड़ जाएगा। यह नियति है। हम इसे सर्वथा अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि हम नियतिवाद को स्वीकार नहीं करते तो व्यवस्था में बहुत गड़बड़ियां हो जाती हैं। जागतिक नियम बहुत स्पष्ट हैं, उन्हें अमान्य नहीं किया जा सकता किन्तु हम नियति को ही सब कुछ मानकर चलें तब हमारा सारा संकल्प यंत्रवत् हो जाएगा फिर विकास की सारी कल्पनाओं पर विरामचिह्न लग जाएगा। भगवान् महावीर ने जिस आचार-शास्त्र

का निरूपण किया उसके पीछे नियतिवाद और स्वतंत्र संकल्पवाद—ये दोनों सिद्धांत सम्मत हैं। ये दोनों मिलकर ही हमारे आचार-शास्त्र की दिशाओं का निर्धारण करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में एकांगी मतों का भी उल्लेख हुआ है। जो एकांतवादी दर्शन है। वे दुःख के उत्पाद को नहीं जानते और उनमें दुःख का उत्पाद संभव भी नहीं होता। जो भूतवादी हैं, वे आत्मा का शाश्वत अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, इसलिए उनके लिए दुःख की बात प्राप्त नहीं होती। उनका दुःख मात्र वर्तमान का होता है। उस दुःख के पीछे कोई हेतु नहीं होता जिसके आधार पर आचार शास्त्रीय मीमांसा की जा सके। इस दुःख का हेतु क्या है और उस हेतु को निरस्त कैसे किया जा सकता है—ये प्रश्न वहां प्राप्त नहीं होते। उन दर्शनों के अनुसार गहरे में जाने की जरूरत नहीं होती। वे मानते हैं कि वर्तमान परिस्थिति जो मन के प्रतिकूल है, वही दुःख है और यदि उस परिस्थिति को बदल दिया जाए तो दुःख समाप्त हो जाता है। वहां केवल परिस्थिति के परिवर्तन की ही बात आती है, आगे-पीछे की बात नहीं आती। उन दर्शनों में इस संबंध की गहरी मीमांसा भी नहीं है।

3. आत्म नियतिवाद

आत्मवादी दर्शनों के अनेक प्रकार हैं। दर्शन आत्मवादी है, किन्तु वह अक्रियावाद को मानता है तो वहां आत्मा का कोई स्वतंत्र कर्तृत्व प्राप्त नहीं होता। वहां दुःख आत्म-चेतित नहीं होता। दुःख सुख आत्म-चेतित नहीं है, मात्र संयोग है। यह संयोग आत्मा के विकास में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं करता और आत्मा के मुक्त होने में कोई नयी दिशा प्रदान नहीं करता। एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है कि जहां हमारी आत्मा का कोई कर्तृत्व नहीं है, दुःख के प्रति और सुख के प्रति, वहां फिर आत्मा से कोई संबंध स्थापित नहीं होता। यह सारा एक वलय में होता है, परिधिगत होता है। उसका कोई केन्द्र नहीं होता। केन्द्र है ही नहीं, सारा परिधिगत है। परिधि केन्द्र के बिना होती है, यह बात सहजगम्य नहीं है। अक्रियावाद या अकारकवाद में सबसे बड़ी कठिनाई है—केन्द्रशून्य परिधि का प्रपंच। जिस सुख दुःख या श्रेय-अश्रेय के निर्माण में केन्द्र की शून्यता और परिधि की स्वीकृति है, वह तथ्य संगत नहीं हो सकता क्योंकि अक्रियावाद यदि सम्मत है तो भी दुःख का उत्पाद कैसे होता है, यह नहीं जाना जा सकता और दुःख के निरोध को भी नहीं जाना जा सकता।

एकात्मवाद में भी यही समस्या है। यदि एक ही आत्मा है और वह व्यापक है तो दुःख के उत्पाद और निरोध की बात ही प्राप्त नहीं हो सकती। कौन दुःख भोगने वाला है, कौन दुःख करने वाला है और दुःख क्या है? सब कुछ आत्मा ही आत्मा है।

जो एकांगी मतों की चर्चा करने वाले दर्शन हैं वे इस चर्चा को नहीं जानते कि आत्मा अनादि है, अकृत है। पर्याय उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, दुःख सुख उत्पन्न होता है नष्ट होता है। वह सारा आत्मा के द्वारा कृत है, अकृत नहीं है। आत्म-संचेतित है। गणधर सुधर्मा ने कहा—‘सुयं च मे अञ्जत्थियं च मे, बंध पमोक्खो तुज्झ अञ्जत्थेव’—मैंने सुना और जाना है कि बंध और मोक्ष तुम्हारे अंतःकरण में है, तुम्हारी लेश्या में, अध्यवसाय में है दुःख और सुख बाहर से प्रेरित नहीं है। यह आत्म कर्तृत्ववाद है। आत्म-कर्तृत्ववाद में यह स्पष्ट अभिमत है कि दुःख का कर्ता स्वयं आत्मा है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है ‘आप्ता कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाणय’ दूसरी कोई सत्ता नहीं है जो दुःख का उत्पादक हो। अश्रेय का उत्पादक हो। फिर प्रश्न होता है कि दुःख क्यों उत्पन्न होता है? दुःख का उत्पादक तत्त्व है—असंयम। और दुःख निरोध का मूल तत्त्व है संयम।

सूत्रकार ने कहा संयम करो उससे दुःख का निरोध होता है। जब बाहर से लेना बंद होता है तब संयम घटित होता है। जब तक बाहर से लेना चलता रहता है तब तक असंयम बना रहता है।

आचार शास्त्र का मूल अंग है—मनोगुप्ति, वाक्गुप्ति और कायगुप्ति की साधना—इसका आधार है असंयम का निरोध। असंयम का निरोध यानी भाषा के परमाणुओं का अग्रहण, मन के परमाणुओं का अग्रहण। जब ये दोनों घटित हो जाते हैं। तब काया के परमाणुओं का अग्रहण स्वयं प्राप्त हो जाता है। जब तीनों प्रकार की गुप्तियां स्रब्धी हैं तब श्वास संयम की बात होती है।

13.4 सारांश

हमारे विकास का एक क्रम है—सबसे पहले शरीर का विकास होता है। उसके बाद भाषा का विकास होता है। भाषा के विकास के पश्चात् मन का विकास होता है। इसी क्रम से चले तो पहले मन का निरोध फिर भाषा का निरोध और फिर शरीर का निरोध। शरीर का ही एक सूक्ष्म भाग है—श्वास। फिर उसका निरोध। आगम कहते हैं—‘मणजोगं निरुब्धई वईजोगं निरुब्धई, कायजागं निरुब्धई फिर आणापाणं निरुब्धई’ जब इन सबका निरोध होता है तब कर्म परमाणुओं का भी निरोध होने से दुःख का निरोध स्वतः हो जाता है इसी प्रकार पूर्णतया निरोध ही आचार शास्त्र के विकास का अन्तिम पड़ाव है।

भगवान् महावीर ने जिस आचार का प्रतिपादन किया उसके तेरह मूलभूत अंग हैं—पांच महाव्रत, पांच समितियाँ और तीन गुणितियाँ—ये सारे अंग संयम के आधार पर विकसित हुए हैं। आगम का वह वाक्य—‘आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं’—आचार का उद्भव स्थल है ज्ञान और विकास का स्रोत है—ज्ञान और आचार का समन्वित रूप और अन्तिम निष्पत्ति है संयम यानी त्रिगुणित की साधना।

1. पांच महाव्रत—अहिंसा सत्य अचर्य ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। पांच समिति—ईर्या, भाषा, एहणा, आदान-निक्षेप और ऋसर्ग। गुणिति—मन गुणिति, वचनगुणिति, कायगुणिति।

13.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आचार शास्त्र के सिद्धांतों की चर्चा करें?
2. श्रेय और अश्रेय का उत्पादक कौन है? स्पष्ट करें?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. परिग्रह का क्या अर्थ है?
2. हेराक्लाइटस के अनुसार जगत् का मूल तत्त्व क्या है?
3. नियतिवाद को समझाइए?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ज्ञान का सार क्या है?
2. सूत्रकृतांग कौनसा अंग है?
3. किं वा नाहिइ छेय पावणं—कौन से आगम में है?
4. बौद्ध दर्शन में कितने आर्य सत्य बतलाए हैं?
5. चार पुरुषार्थ कौन से हैं?
6. पांच आचार कौन से हैं?
7. भगवान् महावीर ने रुक्क्ष का क्या अर्थ किया?
8. बंधन का प्रेरक तत्त्व क्या है?
9. आचार शास्त्र के मूल तत्त्व कौन से हैं?
10. त्रिगुणित साधना का आधार क्या है?



संवर्ग-7 : श्रावकाचार एवं करुणा

इकाई-14 : श्रावकाचार

संरचना

- 14.0 प्रस्तावना
- 14.1 उद्देश्य
- 14.2 पांच अणुव्रत
- 14.3 गुणव्रत
- 14.4 शिक्षाव्रत
- 14.5 संलेखना
- 14.6 प्रतिमा
- 14.7 वर्तमान में अणुव्रत आन्दोलन
- 14.8 सारांश
- 14.9 अभ्यास प्रश्नावली
- 14.10 प्रश्नावली

14.0 प्रस्तावना

जैन परम्परा में तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। धर्मतीर्थ के लिए श्रमणसंघ, जिनशासन आदि शब्दों का प्रयोग होता है। श्रमणसंघ के चार अंग होते हैं। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका। यह विभाजन लिंग एवं व्रत के आधार पर किया गया है। लिंग के आधार पर भेद किया जाए तो संघ चार प्रकार का होता है। महाव्रत और अणुव्रत के आधार पर व्याख्या की जाए तो संघ दो प्रकार का होता है। साधु-साध्वी महाव्रत का पालन करते हैं। श्रावक-श्राविका महाव्रतों का पालन करने में असमर्थ होते हैं। अतः उनके लिए अणुव्रत का प्रावधान रखा गया है। अणुव्रत और महाव्रत की यात्रा प्रत्याख्यान से शुरू होती है। भक्ति और शक्ति में संतुलन बिठाने के दृष्टि से भगवान् महावीर ने अणुव्रत एवं महाव्रत की परिकल्पना की। जिसमें संपूर्ण व्रत पालन की क्षमता हो वह महाव्रतों की आराधना करे यानी साधुव्रत स्वीकार करे। शारीरिक या मानसिक दृष्टि से जो अपने आपको अक्षम महसूस करे वह अणुव्रत आंशिक व्रतों की आराधना कर श्रावक के महत्त्वपूर्ण पद को विभूषित करे।

महाव्रत में अहिंसा आदि नियमों का पालन देश-काल निरपेक्ष होता है। इन नियमों का पालन हर परिस्थिति में साधु को करना होता है। अणुव्रत में अहिंसा आदि नियम देशकाल सापेक्ष होते हैं। अणुव्रतों के सामने अनेक विकल्प होते हैं।

श्रावक जीवन की न्यूनतम अर्हता है सम्यक् दर्शन। श्रावक जीवन की पृष्ठभूमि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है सम्यक् दर्शन। जीवन में एक बार भी सम्यक् दर्शन का स्पर्श हो जाए तो मोक्ष का आरक्षण हो जाता है। सम्यक् दर्शन प्राप्त करने के बाद ही कोई जीव आत्मविकास के अग्रिम पड़ावों को तय कर सकता है।

भगवान् महावीर ने जीवन को प्रायोगिक बनाने की दृष्टि से श्रावक के लिए बारह व्रतों की व्यवस्था की। इन बारह व्रतों की पहचान पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत के रूप में होती है।

पांच अणुव्रत—1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अचौर्य, 4. ब्रह्मचर्य, 5. अपरिग्रह

तीन गुणव्रत—6. दिग्गम, 7. भोगोपभोग, 8. अनर्थदण्ड

चार शिक्षाव्रत—9. सामायिक, 10. देशवकाशिक, 11. पौषपोषवास, 12. अतिथि-संविभाग

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के नाम तथा क्रम में अंतर पाया जाता है फिर भी मूलभूत अंतर नहीं है।

जैन परम्परा में तीर्थंकर जब तीर्थ की स्थापना करते हैं तो उसके चार भाग होते हैं—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका। साधु-साध्वी महाव्रत का पालन करते हैं। श्रावक-श्राविका महाव्रतों का पालन करने में

असमर्थ होते हैं अतः उनके लिए अणुव्रत रूप श्रावकाचार का प्रतिपादन किया गया जिसकी चर्चा हम प्रस्तुत पाठ में करने जा रहे हैं।

‘श्रावक’ शब्द में उन सभी लोगों का समावेश हो जाता है जो सम्यग्दृष्टि हैं किन्तु जिन्होंने साधुत्व स्वीकार नहीं किया है।

श्रावकाचार को समझने से पूर्व महाव्रत और अणुव्रत का भेद जान लेना भी आवश्यक होगा। महाव्रत पूर्णतः पालन किए जाते हैं, अणुव्रत अंशतः पालन किए जाते हैं। महाव्रत में अहिंसा आदि नियमों का पालन देश-काल निरपेक्ष होता है अर्थात् उसका पालन उन्हें हर परिस्थिति में करना होता है। ये नियम त्रैकालिक होते हैं। किन्तु अणुव्रत में देश-काल सापेक्ष नियम होते हैं जिनसे कि व्यवहारिक जीवन भी सुचारु रूप से चल सके। महाव्रत में हिंसा आदि कराने और अनुमोदन करने का निषेध होता है जबकि अणुव्रत में करने, कराने और अनुमोदन करने में यथावसर लचीलापन होता है। अणुव्रती स्थूल हिंसा आदि का त्याग करता है। महाव्रती सूक्ष्म-स्थूल सब प्रकार की हिंसा को त्याग करता है। श्रावक वह होता है जिसकी दृष्टि सम्यग् हो और जो व्रतों का आंशिक पालन करता हो। जैन परम्परा में सम्यग् दर्शन का बहुत महत्व है। तत्त्वों के प्रति यथार्थ श्रद्धा को सम्यग् दर्शन कहा जाता है। सम्यग्-दर्शन प्राप्त करने के बाद ही कोई जीव आत्म-विशुद्धि की अग्रिम भूमिकाओं को पा सकता है अर्थात् दृष्टि सम्यग् हुए बिना कोई साधु या श्रावक नहीं हो सकता।

14.1 उद्देश्य—इसके अध्ययन से श्रावकाचार का सम्यक् ज्ञान हो सकेगा।

श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान किया गया है। उनमें से पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। यह वर्गीकरण पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत के रूप में भी मिलता है—

14.2 पांच अणुव्रत

1. अहिंसा अणुव्रत, 2. सत्य अणुव्रत, 3. अचौर्य अणुव्रत, 4. ब्रह्मचर्य अणुव्रत, 5. अपरिग्रह अणुव्रत

14.3 तीन गुणव्रत

6. दिग्व्रत, 7. भोग-परिभोगव्रत, 8. अन्वर्षदण्ड

14.4 चार शिक्षाव्रत

9. सामायिक, 10. देशावकाश, 11. पोषधोपवास, 12. अतिथि संविभाग।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के नाम तथा क्रम में अन्तर पाया जाता है फिर भी मूलभूत अन्तर नहीं है।

14.2 अणुव्रत

14.2.1 अहिंसा अणुव्रत

विचार प्रवृत्ति का जनक है। मनुष्य हिंसा की प्रवृत्ति करने से पूर्व विचारों में हिंसा कर देता है। विचारों में की जाने वाली हिंसा भाव-हिंसा है, बाहर की जाने वाली हिंसा द्रव्य-हिंसा है। केवल प्राणवियोजन को हिंसा की पूर्ण परिभाषा नहीं कहा जाता है। प्रमाद के योग से होने वाली हिंसा भी है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार किसी का प्राणवियोजन हो या न हो किन्तु प्रमादी व्यक्ति हिंसा का दोषी हो जाता है। आचारांग सूत्र इस सन्दर्भ में कहता है—पुरुष! जिसे तु हन्तव्य मानता अर्थात् मारने योग्य मानता है वह तू ही है। अर्थात् हिंसात्मक प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब स्वयं पर ही पड़ता है। आचार्य जयसेन के रूपक से यह और भी स्पष्ट हो जाता है—कोई व्यक्ति गर्म लोहे की सलाख से दूसरों को मारना चाहता है किन्तु वह उससे पहले स्वयं के ही हाथ जला डालता है।

व्यवहारतः जीव के दस प्राणों में से किसी को भी नुकसान पहुंचाना हिंसा है। हिंसा केवल शारीरिक स्तर पर ही नहीं होती अपितु किसी की स्वतंत्रता का हनन, किसी को इच्छा के विपरीत कार्य में मजबूरन लगाना आदि भी हिंसा के विविध रूप हैं। ये द्रव्यहिंसा में अन्तर्गर्भित हो जाएगी।

प्रश्न हो सकता कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे के सुख दुःख का जिम्मेदार नहीं हो सकता तो वह हिंसा के लिए जिम्मेदार कैसे होगा? उत्तर में कहा जा सकता है कि यह सत्य है कि व्यक्ति स्वयं अपने सुख दुःख के लिए जिम्मेदार होता है दूसरों के नहीं किन्तु हिंसा का तात्पर्य समझ लेने पर यह प्रश्न स्वतः समाहित हो जाता है—हिंसा का तात्पर्य है प्रमाद। प्रमाद पूर्वक होने वाली हर प्रवृत्ति का संबंध हिंसा से है। दूसरे को कष्ट पहुंचना यह द्रव्य हिंसा है। भावहिंसा उसके साथ रहने वाला प्रमाद है। निरपराध प्राणी की संकल्पपूर्वक हत्या नहीं करना अहिंसा की न्यूनतम सीमा है, इस अणुव्रत को व्यापक बनाया जाए तो आतंकवाद की समस्या स्वतः समाहित हो जाएगी।

हिंसा के प्रकार

एक प्राचीन गाथा में हिंसा के 8 प्रकार बताए गए हैं—

जीवा सुहुमाथूला, संकप्पा आरम्भा भवे दुविहा।

सावराहा निरवराहा सविक्खा चेव निरविक्खा।।

1. सूक्ष्म जीव हिंसा, 2. स्थूल जीव हिंसा, 3. संकल्प हिंसा, 4. आरम्भ हिंसा, 5. सापराध हिंसा, 6. निरपराध हिंसा, 7. सापेक्ष हिंसा, 8. निरपेक्ष हिंसा

श्रावक इनमें से चार प्रकार की हिंसा (2, 3, 6, 8) का त्याग करता है।

इसी प्रकार से हिंसा के चार विभाग भी किए गए हैं—1. आरम्भी हिंसा 2. उद्योगी हिंसा 3. विरोधी हिंसा 4. संकल्पी हिंसा।

1. **आरम्भी हिंसा**—रोटी, कपड़ा, मकान आदि मूलभूत आवश्यकताओं के निमित्त से की जाने वाली हिंसा।

2. **उद्योगी हिंसा**—खेती, व्यवसाय आदि के निमित्त से होने वाली हिंसा।

3. **विरोधी हिंसा**—राष्ट्र, कुटुम्ब, आश्रितों आदि की रक्षा के निमित्त की जाने वाली हिंसा।

4. **संकल्पी हिंसा**—द्वेषवश या लोभवश—बिना किसी प्रयोजन के की जाने वाली हिंसा।

प्रथम तीन प्रकार की हिंसा को श्रावक पूर्णतः नहीं छोड़ सकता, आंशिक रूप से छोड़ता है किन्तु संकल्पी हिंसा उसके लिए सर्वथा वर्जनीय है।

अहिंसा अणुव्रत के अतिचार

सामान्यतः प्रत्येक अणुव्रत के पाँच-पाँच अतिचार बताये गये हैं—

1. **बंध**—किसी प्राणी को उसके इष्टस्थान पर जाने से रोकना या जंजीर-डोरी आदि से बांध देना।

2. **वध**—लाठी या चाबुक आदि से प्रहार करना।

3. **अंग विच्छेद**—नाक-कान आदि का छेदन करना। किसी की आजीविका का विच्छेदन भी इसके अन्तर्गत आ जाता है। इसे वृत्तिच्छेद भी कहते हैं।

4. **अतिभार रोपण**—मनुष्य या पशु पर शक्ति से अधिक भार लाद देना। कार्य का भार लादना भी अतिभार आरोपण है।

5. **अन्नपान निरोध**—किसी के खाने-पीने में रुकावट डालना। श्रावक इन दोषों का सेवन नहीं करता किन्तु रुग्ण को पथ्यापथ्य की अपेक्षा से खाने-पीने में रुकावट डालना, पागल आदि को बांधना आदि कार्य यदि करते पड़े तो भी कोमलभाव से करता है।

14.2.2 सत्य अणुव्रत

इसका सीधा संबंध भाषा से है। श्रावक के लिए स्थूल मृषावाद (असत्य) वर्जित है। जिस वचन से सामाजिक प्रतिष्ठा को हानि पहुंचे; किसी का अहित होता प्रतीत हो; जिसे कानूनन अप्रामाणिक माना जाए। लोगों में अविश्वास पैदा हो उसे स्थूल मृषावाद कहते हैं। असत्य के पाँच प्रकार बताए गए हैं—

1. **कन्यालीक**—वैवाहिक संबंध में असत्य का प्रयोग अर्थात् वर, कन्या के संदर्भ में असत्य का प्रयोग कर संबंध बनवाना या बने हुए संबंध को बिगाड़ देना।

2. **गवालीक**—पशु विक्रय के संदर्भ में झूठ बोलना।

3. **भूम्यलीक**—भूमि के संबंध में झूठ बोलना।

4. **स्थापना मूषा**—थरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के संदर्भ में असत्य संभाषण।

5. **कूटसाक्षी**—जानबूझकर झूठी गवाही देना।

आचार्य हेमचन्द्र ने चार प्रकार के असत्य की चर्चा की है—

1. द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा पदार्थ के अस्तित्व का अस्वीकार करना।
2. क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा अनस्तित्ववान् पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार करना।
3. किसी पदार्थ को अन्य रूप में प्रस्तुत करना।
4. चतुर्थ प्रकार के असत्य में गृहित, सावद्य और अप्रिय संभाषण का समावेश होता है।

सभी प्रकार के असत्य हिंसा को पोषण देने वाले हैं।

सत्य अणुव्रत के अतिचार

उपासकदशांग के अनुसार सत्य अणुव्रत के 5 अतिचार हैं—

1. **सहसाभ्याख्यान**—सहसा, बिना किसी प्रयोजन के दोषारोपण करना, गलत धारणा बना देना आदि।
2. **रहोऽभ्याख्यान**—दूसरों के मर्म (रहस्यों) को प्रकट कर देना।
3. **स्वदारमन्त्रभेद**—पति-पत्नी अथवा स्नेहीजन को एक-दूसरे से अलग कर देना।
4. **मूषोपदेश**—सही को गलत समझाकर किसी को विपरीत मार्ग में डालना।
5. **कूटलेखकरण**—मोहर, हस्ताक्षर आदि के द्वारा झूठी लिखा पढ़ी करना तथा खोटा-सिकका चलाना।

श्रावक इन अतिचारों से निवृत्त रहने का प्रयत्न करता है।

14.2.3 अचौर्य अणुव्रत

श्रावक के लिए स्थूल चौर्यकरण का वर्जन है। किसी का ताला तोड़कर, गठरी खोलकर, जेब काटकर, सैन्ध लगाकर धन का अपहरण कर लेना स्थूल चौर्य के अन्तर्गत आते हैं।

आचार्यों ने उस वस्तु का ग्रहण, जिसका स्वामी ज्ञात न हो उसे भी निषिद्ध माना है। स्वामी समन्तभद्र ने किसी का रखा हुआ, गिरा हुआ, भूला हुआ अदत्त लेने का भी निषेध किया है और ऐसी वस्तु किसी को देने का भी निषेध किया है। चौर्य का कार्य प्रमाद के योग से होता है अतः इसका संबंध भी हिंसा से है।

अचौर्य अणुव्रत के अतिचार

अचौर्य अणुव्रत के 5 अतिचार उपासकदशांग में बतलाये गये हैं—

1. **स्तेनाहत्य**—चोरी की गई वस्तु को खरीदना।
2. **तस्करप्रयोग**—तस्करों को उनके तस्कर कार्य के लिए प्रेरणा या प्रोत्साहन देना। इसको तत्त्वार्थसूत्र में स्तेनप्रयोग कहा गया है।
3. **विरुद्धराज्यातिक्रम**—एक दूसरे के विरोधी राज्यों की सीमा का अतिक्रमण करना। पूज्यपाद के अनुसार नियमविरुद्ध व्यापार भी इसके अन्तर्गत आ जाता है।
4. **कूटतौल-कूटमाप**—राज्य द्वारा मान्य माप तौल से कपटपूर्वक कम देना और ज्यादा लेना। तत्त्वार्थसूत्र में इसे हीनाधिक मानोन्मान कहा गया है।
5. **प्रतिरूपक व्यवहार**—विक्रययोग्य वस्तु में उसके सदृश पदार्थ मिला देना।

14.2.4 ब्रह्मचर्य अणुव्रत

ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है ब्रह्म (आत्मा) में रमण करना। यहाँ पर इसका तात्पर्य है—मैथुनविरति। श्रावक स्वपत्नी तथा श्राविका स्वपति के अतिरिक्त मैथुनसेवन का त्याग करते हैं। गृहवास में भी जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है। ब्रह्मचर्य अणुव्रत आत्मसुरक्षा का सहज उपाय है और उन्मुक्त भोग की समस्या से बचने का प्रशिक्षण है।

पूर्ण या आंशिक ब्रह्मव्रत धारण करने वालों के लिए मद्य, मांस, जुआ, विलासपूर्ण संगीत, श्रृंगार, तामसिक भोजन आदि का निषेध किया गया है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार

उपासकदशांग में 5 प्रकार के अतिचारों की चर्चा आती है—

1. **इत्थरिक परिगृहीतागमन**—कुछ समय के लिए पैसे देकर या अन्य प्रकार से अपने यहां रखी हुई स्त्री के साथ भोग-सेवन करना।
2. **अपरिगृहीतागमन**—वेश्या, विधवा अथवा परित्यक्ता के साथ गमन करना।
3. **अनंगक्रीड़ा**—अप्राकृतिक मैथुन सेवन अथवा कृत्रिम साधनों से काम-भोग क्रीड़ा करना।
4. **परविवाहकरण**—अपने पुत्र-पुत्रियों के अतिरिक्त अन्य लोगों के विवाह से संबन्धित प्रयत्न करना।
5. **कामभोगतीव्राभिलाषा**—विषयभोग और काम क्रीड़ा में तीव्र आसक्ति होना। कामोद्दीपक औषधि आदि का सेवन करना।

14.2.5 अपरिग्रह अणुव्रत

परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा। वस्तु या व्यक्ति के प्रति मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहा गया है। आचार्य अमितगति कहते हैं—हिंसा का कारण परिग्रह है। आचार्य तुलसी ने 'अहिंसा परमो धर्म' की जगह अपरिग्रह: परमो धर्म की बात कही। क्योंकि संग्रह की मनोवृत्ति के कारण व्यक्ति हिंसा में प्रवृत्त होता है। श्रावक ममत्व का अल्पीकरण करता है तदर्थ वस्तुओं का भी सीमाकरण करता है। परिग्रह के दो प्रकार हैं—आभ्यन्तर और बाह्य।

आभ्यन्तर—चार कषाय और नौ नो-कषाय हैं।

बाह्य—उपासकदशांग में आभ्यन्तर परिग्रह नौ प्रकार का है। बाह्य परिग्रह के नौ प्रकार के बतलाये गये हैं—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्क, कुप्य।

चारित्रसार में 10 प्रकार के बाह्य परिग्रहों की चर्चा है।

अपरिग्रह अणुव्रत के अतिचार

1. **क्षेत्र वस्तु प्रमाणातिक्रमण**—खेतीबाड़ी के योग्य जमीन तथा रहने योग्य वास्तु के प्रमाण का निश्चय करने के बाद उल्लंघन करना।
2. **हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रमण**—चांदी और स्वर्ण के स्वीकृत प्रमाण का अतिक्रमण करना।
3. **धनधान्य-प्रमाणातिक्रमण**—गाय-भैंस आदि पशुधन और गेहूँ-बाजरा आदि धान्य के स्वीकृत प्रमाण का उल्लंघन करना।
4. **दासी-दास प्रमाणातिक्रमण**—नौकर-चाकर आदि कर्मचारियों के प्रमाण का अतिक्रमण करना।
5. **कूप्यप्रमाणातिक्रमण**—बर्तनों और वस्त्रों के प्रमाण का अतिक्रमण करना।

14.3 गुणव्रत

अणुव्रतों के विकास तथा संरक्षण के लिए गुणव्रतों का विधान किया गया है।

14.3.1 दिग्व्रत

यह क्षेत्र से संबंध रखने वाला व्रत है। पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशाओं की सीमा निश्चित करके उससे बाहर गमनागमन तथा अन्य अधार्मिक कार्यों से निवृत्त होना दिग्व्रत है। यह मर्यादा जीवन भर के लिए होती है। इससे हिंसा और परिग्रह दोनों में न्यूनता हो जाती है।

दिग्व्रत के अतिचार

1. **ऊर्ध्वदिशाप्रमाणातिक्रम**—ऊर्ध्वदिशा में स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन।
2. **अधोदिशा प्रमाणातिक्रम**—अधोदिशा में स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन।
3. **तिर्यग्दिशा प्रमाणातिक्रम**—तिर्यग् दिशा में स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन।
4. **क्षेत्रवृद्धि**—स्वीकृत क्षेत्र मर्यादा को विस्तृत कर देना।
5. **स्मृतिभ्रंश**—स्वीकृत मर्यादा को भूल जाना और स्मृति के अभाव में उल्लंघन करना।

14.3.2 उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत

जो वस्तु एक बार काम में आती है उसे उपभोग और जो बार-बार काम में आती है उसे परिभोग कहते हैं। उपभोग और परिभोग की सीमा निश्चित करना उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत। इसे भोगोपभोग भी कहते हैं। तब भोग का अर्थ वही होगा जो उपभोग का बतलाया गया है और उपभोग का वह अर्थ होगा जो परिभोग का बतलाया गया है। इस व्रत से भोग की लालसा और अनुचित उद्योग-धन्यों पर नियंत्रण होता है।

उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत के अतिचार

1. सचित्ताहार—जीव सहित (सक्तेन) पदार्थ का आहार करना।
2. सचित्तसम्बद्धआहार—सचित्त पदार्थयुक्त अचित्त पदार्थ का आहार करना।
3. सचित्त संमिश्र आहार—सचित्त और अचित्त पदार्थ के मिश्रण का आहार करना।
4. अभिषव—मादक पदार्थ का सेवन करना।
5. दुष्पक्व आहार—अर्धपका या ठीक से न पके आहार का सेवन करना।

आचार्य समन्तभद्र ने उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार अन्य प्रकार से बताये हैं—

1. विषय रूप विष के प्रति आदर रखना।
2. भोग्य पदार्थों का बार-बार स्मरण करना।
3. पदार्थों के प्रति लोलुपता।
4. भविष्य में भोगों की लालसा रखना।
5. भोगों में तल्लीन हो जाना।

उपभोग-परिभोग के लिए वस्तुओं की प्राप्ति हेतु श्रावक व्यवसाय करता है किन्तु महापाप के अर्जन में निमित्त-भूत 15 प्रकार के व्यवसायों का श्रावक के लिए वर्जन है। वे पन्द्रह कर्मादान कहलाते हैं।

1. अंगारकर्म—अग्निकाय के महाआरम्भ वाला कार्य।
2. वनकर्म—जंगल को काटने का व्यवसाय।
3. शाटकर्म—वाहन चलाने का व्यवसाय।
4. भाटकर्म—किराये का व्यवसाय।
5. स्फोटकर्म—खदान, पत्थर आदि फोड़ने का व्यापार।
6. दन्तवाणिज्य—हाथीदाँत, मोती, सीरा, चर्म, अस्थि आदि का व्यापार।
7. लाक्षावाणिज्य—लाख, मोम आदि का व्यापार।
8. रसवाणिज्य—घी, दूध, दही तथा मद्य-मांस आदि का व्यापार।
9. विषवाणिज्य—कच्चीधातु, संखिया, अफीम आदि विषैली वस्तु तथा अस्त्र-शस्त्र आदि का व्यापार।
10. केशवाणिज्य—चमरा गाय, घोड़ा, हाथी तथा ऊन एवं रेशम आदि का व्यापार।
11. यंत्र-पीलनकर्म—ईख, तिल आदि को कोल्हू में पीलने का धंधा।
12. निलाँछन कर्म—बैल आदि को नपुसंक करने का धंधा।
13. दावानल कर्म—खेत या भूमि को साफ करने के लिए आग लगाना तथा जंगलों में आग लगाना।
14. सरद्रह तडाग शोषण—झील, नदी, तालाब आदि को सुखाना।
15. असतीजनपोषण—दास, दासी, पशु, पक्षी आदि का व्यापारार्थ पोषण करना।

14.3.3 अनर्थदण्ड व्रत

अपनी आवश्यकता से अतिरिक्त अधर्मव्यापार से विरत हो जाना अर्थात् निरर्थक प्रवृत्तियों से निवृत्त हो जाना अनर्थदण्ड विरमण व्रत है।

किसी आवश्यक कार्य के आरम्भ-समारम्भ में त्रस-स्थावर जीवों को जो कष्ट होता है वह अर्थदण्ड है और निष्प्रयोजन ही केवल प्रमाद, कुतूहल, अविवेक आदि के कारण प्राणियों को कष्ट देना या मारना अनर्थदण्ड है। श्रावक के लिए अनर्थदण्ड त्याज्य है। अनर्थदण्ड के चार आधार बताए गए हैं—

1. **अपध्यानचरित**—अप्रशस्त ध्यान, बुरा चिन्तन।
2. **प्रमादाचरित**—कुतूहलवश अश्लील-गीत, नृत्य आदि देखना उत्तेजक साहित्य पढ़ना, मद्यपान आदि का सेवन करना अनावश्यक हास्य करना।
3. **हिंसाप्रदान**—हिंसा में सहयोगी शस्त्रास्त्र या अन्य उपकरण दूसरों को देना।
4. **पापोपदेश**—पापकर्म का उपदेश देना प्रेरित करना। आचार्य समन्तभद्र ने पांच प्रकार के अनर्थदण्ड माने हैं— 1. पापोपदेश 2. हिंसादान 3. अपध्यान 4. प्रमादचर्या 5. दुःश्रुति। (कामोत्तेज कथा-कहानी पढ़ना, सुनना कहना।)

अनर्थदण्ड के अतिचार

1. **कन्दर्प**—रागवश अश्लील संभाषण तथा हास्यादि करना।
2. **कौतुक्य**—परिहास, अश्लील संभाषण के साथ-साथ नट-भांड जैसी शारीरिक कुचेष्टाएं करना।
3. **मौख्य**—निर्लज्जता से असम्बद्ध बोलना।
4. **असमीक्ष्याधिकरण**—अनेक प्रकार के सावध उपकरण बिना सोचे समझे दूसरों को देना।
5. **उपभोगाधिकरण**—उपभोग-परिभोग की सामग्री का आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना।

14.4 शिक्षाव्रत

शिक्षा का अर्थ है—अभ्यास। जिन व्रतों का श्रावक पुनः-पुनः अभ्यास करता है वे शिक्षा-व्रत कहलाते हैं। गुणव्रत एक बार में ही पूरे जीवन के लिए ग्रहण किये जाते हैं जबकि शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं। ये चार हैं।

14.4.1 सामायिक व्रत

सामायिक का तात्पर्य है—आत्मा के साथ एकीभूत हो जाना। दूसरे शब्दों में कहें तो मन, वचन और काया की समता। श्रावक जब सामायिक करता है तो साधु के ही समान सावध (पाप सहित) प्रवृत्तियों का त्याग करता है। सामायिकव्रत का समय 48 मिनट है। सामायिक व्रत के दौरान श्रावक आध्यात्मिक साहित्य का स्वाध्याय, ध्यान, जप आदि कर सकता है।

सामायिक व्रत के अतिचार

1. **कायदुष्प्रणिधान**—हाथ, पैर आदि अंगों को व्यर्थ और बुरी तरह से चलाते रहना।
2. **वचनदुष्प्रणिधान**—संस्कार-रहित तथा अर्थ-रहित एवं हानिकारक भाषा बोलना।
3. **मनोदुष्प्रणिधान**—क्रोध, द्रोह आदि विकारों के वश होकर चिन्तन आदि मनोव्यापार करना।
4. **अनादर**—सामायिक में उत्साह का न होना अर्थात् समय होने पर भी प्रवृत्ति न होना अथवा ज्यों त्यों प्रवृत्ति करना।
5. **स्मृति-अनुपस्थापन**—एकाग्रता का अभाव अर्थात् चित्त के अव्यवस्थित होने से सामायिक की स्मृति का न रहना।

14.4.2 देशावकाशिक व्रत

इस व्रत में अल्पकालिक तथा छोटे-छोटे नियम के लिए अवकाश रहता है। जो लोग एक साथ दीर्घकालीन त्याग नहीं कर सकते, उनके लिए यह अभ्यास का सरल क्रम है। दिव्रत में आजीवन दिशाओं की मर्यादा की जाती है। उन दिशाओं की मर्यादा में कुछ घण्टों के लिए या दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना देशावकाशिक व्रत है। वसुनन्दी ने कहा है उन स्थानों पर जाने का त्याग जहाँ पर अणुव्रत नहीं पाले जा सकें वह देशावकाशिक व्रत है।

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

1. **आनयनप्रयोग**—जितने प्रदेश का नियम लिया हो, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं न जाकर संदेश आदि द्वारा दूसरे से उसके बाहर की वस्तु मंगवा लेना।

2. **प्रेष्य प्रयोग**—स्थान संबंधी स्वीकृत मर्यादा के बाहर काम पड़ने पर स्वयं न जाना और दूसरे से ही उस वस्तु को मंगवाना अर्थात् नौकर आदि से आज्ञापूर्वक वहां बैठे-बिठाए काम करा लेना।
3. **शब्दानुपात**—स्वीकृत मर्यादा के बाहर स्थित व्यक्ति को बुलाकर काम कराने के लिए खांसी आदि द्वारा उसे पास आने के लिए सावधान करना।
4. **रूपानुपात**—किसी तरह का शब्द न कर आकृति आदि बतलाकर दूसरे को अपने पास आने के लिए सावधान करना।
5. **पुद्गलक्षेप**—कंकड़, ढेला आदि फेंककर किसी को अपने पास आने के लिए सूचना देना।

14.4.3 पौषधोपवास व्रत

प्रायः सभी धर्म सम्प्रदायों में आहार-संयम की बात स्वीकृत है। उपवास को शुद्धि का साधन माना गया है। जैनधर्म में भी उपवास का बहुत महत्त्व है। पौषधोपवास व्रत में जैन-श्रावक उपवास के साथ-साथ पौषध भी ग्रहण करता है। पौषध का तात्पर्य है—सम्पूर्ण दिन-रात के लिए साधु के समान चर्या को धारण करना। प्रायः अष्टमी चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को पौषधोपवास करने का विधान है।

पौषधोपवास व्रत के अतिचार

1. **अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित में उत्सर्ग**—आंखों से बिना देखे ही कि कोई जीव है या नहीं एवं कोमल उपकरण से प्रामर्जन किए बिना ही जहां-तहां मल, मूत्र, श्लेष्म आदि का त्याग करना।
2. **अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदाननिक्षेप**—इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किए बिना ही लकड़ी, चौकी आदि वस्तुओं को लेना व रखना।
3. **अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित संस्तार का उपक्रम**—प्रत्यवेक्षण एवं प्रमार्जन किए बिना ही बिछौना करना या आसन बिछाना।
4. **अनादर**—पौषध में उत्साहरहित ज्यों-त्यों करके प्रवृत्ति करना।
5. **स्मृत्यनुपस्थापन**—पौषध कब और कैसे करना या न करना एवं किया है या नहीं इत्यादि का स्मरण न रहना।

14.4.4 अतिथिसंविभाग व्रत

संयमी (मुनि) को जीवन-निर्वाह के योग्य शुद्ध वस्तु का भक्तिपूर्वक दान देना। इसमें चार बातें ध्यान देने योग्य हैं।

1. दान देने की विधि सम्यक् हो।
2. जो वस्तु दान दी जा रही है वह शुद्ध तथा एषणीय (अपेक्षित) हो।
3. जिसको दान दिया जा रहा है, वह सुपात्र हो।
4. देने वाला स्वयं शुद्ध तथा भक्त-हृदय हो।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार

1. **सचित्त निक्षेप**—साधु के ग्रहण योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रखना।
2. **सचित्त पिधान**—इसी प्रकार देय वस्तु को सचेतन वस्तु से ढंक देना।
3. **परव्यपदेश**—अपनी देय वस्तु को दूसरे की बताकर उसके दान से अपने को मानपूर्वक बचा लेना।
4. **मात्सर्य**—दूसरों को दान देते देखकर प्रतिस्पर्धात्मक भाव से दान देना।
5. **कालातिक्रम**—किसी को कुछ देना न पड़े इस आशय से भिक्षा से पूर्व ही समय खा-पी लेना।

14.5 संलेखना

समाधिमरण की तैयारी को संलेखना कहा गया है। श्रावक का जीवन भी समाधिमय होता है, तो मृत्यु भी समाधिमय होती है। अन्य लोग इसे आत्महत्या कहते हैं जबकि जैन लोग इसको उच्च धार्मिक अनुष्ठान के रूप में मानते हैं। आचार्य समन्तभद्र का इस सन्दर्भ में कहना है कि आत्महत्या में रागादि की प्रमुखता होती है किन्तु संलेखना में इसका अभाव होता है, अतः यह आत्महत्या नहीं। संलेखना करने के पीछे छः में से किसी न किसी कारण का होना जरूरी है—1. उपद्रव, 2. आतंक, 3. ब्रह्मव्रत में विघात

की आशंका, 4. दया के निमित्त, 5. तपस्या और 6. शरीर का आध्यात्मिक प्रवृत्ति में अशक्त होना। संलेखना में राग-द्वेष की न्यूनता होना आवश्यक है।

संलेखना व्रत के अतिचार

1. **जीविताशंसा**—पूजा, सत्कार आदि विभूति देखकर लालचवश जीवन की अभिलाषा।
2. **मरणाशंसा**—सेवा, सत्कार आदि करने के लिए किसी को पास आते न देखकर उद्वेग के कारण मृत्यु को चाहना।
3. **मित्रानुराग**—मित्रों पर या मित्रतुल्य पुत्रादि पर स्नेह-बन्धन रखना।
4. **सुखानुबन्ध**—अनुभूत सुखों का स्मरण करके उन्हें ताजा बनाना।
5. **निदानकरण**—तप व त्याग का बदला किसी भी तरह के भोग के रूप में चाहना।

उपासकदशांग में निम्नलिखित अतिचारों का उल्लेख प्राप्त होता है—

1. इहलोकाशंसा 2. परलोकाशंसा 3. जीविताशंसा 4. मरणाशंसा 5. कामभोगाशंसा

14.6 प्रतिमा

श्रावक की साधना उत्तरोत्तर विकास की साधना है। वह आंशिक व्रत से पूर्णव्रत की ओर क्रमशः गति करता है। अतः उसके जीवन में भी साधना की विविध भूमिकाओं का अवतरण होता है। उन्हें प्रतिमा कहा जाता है। प्रतिमा का अर्थ है—प्रतिज्ञा-विशेष; व्रत-विशेष। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्रतिमा-साधना का विधान है। कहीं-कहीं उनके नाम और क्रम में अन्तर है।

श्वेताम्बर

1. दर्शन
2. व्रत
3. सामायिक
4. पौषध
5. नियम (कायोत्सर्ग)
6. ब्रह्मचर्य
7. सचित्त-त्याग
8. आरम्भ-त्याग
9. परिग्रह-त्याग अथवा प्रेष्य परित्याग
10. उद्दिष्ट भक्त त्याग
11. श्रमणभूत

दिगम्बर

1. दर्शन
2. व्रत
3. सामायिक
4. पौषध
5. सचित्त-त्याग
6. रात्रिभुक्ति त्याग
7. ब्रह्मचर्य
8. आरम्भ-त्याग
9. परिग्रह त्याग
10. अनुमति-त्याग
11. उद्दिष्ट-त्याग।

दर्शन प्रतिमा

यह प्रतिमा सम्यक्त्व पर आधारित है। दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरूचि रखता है, सम्यक्त्व के दोषों का वर्जन कर सम्यक्त्व विशुद्धि करता है।

व्रत प्रतिमा—

अतिचार रहित बारह व्रत का पालन करना।

सामायिक प्रतिमा

सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत धारण करना। दिगम्बर परम्परा में सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक के लिए तीनों सन्ध्यों में सामायिक करना अनिवार्य है।

पौषध प्रतिमा

इसमें श्रावक के लिए अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णमासी को प्रतिपूर्ण (दिन-रात का) पौषध करना अनिवार्य होता है।

नियम प्रतिमा

इसे कायोत्सर्ग प्रतिमा भी कहते हैं। इसमें श्रावक के लिए रात्रि में कायोत्सर्ग करने का विधान है। इसमें श्रावक के लिए पाँच नियमों का पालन करना अनिवार्य है—1. स्नान नहीं करना 2. रात्रि भोजन नहीं करना 3. थोली की लांग नहीं लगाना 4. दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना 5. रात्रि में मैथुन सेवन की मर्यादा करना।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा

इस प्रतिमा में श्रावक दिन-रात, मन वचन काया से पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

सचित्त त्याग प्रतिमा

सर्व प्रकार के सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना।

आरम्भ त्याग प्रतिमा

सर्व प्रकार का आरम्भ स्वयं करने का त्याग। आरम्भ का अर्थ है हिंसात्मक प्रवृत्ति।

प्रेष्य परित्याग प्रतिमा

प्रस्तुत प्रतिमा में श्रावक सेवक आदि से भी आरम्भ-समारम्भ नहीं करवाता।

उद्दिष्ट भक्त त्याग

नौवीं प्रतिमा वाला श्रावक आरम्भ न स्वयं करता है न सेवक आदि से करवाता है किन्तु स्वयं के निमित्त तैयार किया गया भोजन लेता है। प्रस्तुत प्रतिमा वाला मुनि उद्दिष्ट आहार (स्वयं के निमित्त बनाया गया आहार) नहीं लेता क्षुर से मुण्डन करता है तथा शिखा धारण करता है। गृह संबंधी प्रश्नों के संदर्भ में “मैं जानता हूँ अथवा नहीं” इतना मात्र कहता है।

श्रमणभूत प्रतिमा

प्रस्तुत प्रतिमा में श्रावक मुनि का आचार, वेश-भण्डोपकरण धारण करता है। बालों का क्षुर से मुण्डन करता है अथवा लोच करता है। भिक्षा के लिए जाति जनों में जाता है। अगली प्रतिमा में पूर्व प्रतिमा के त्याग यथावत् चलते रहते हैं।

14.7 वर्तमान में अणुव्रत आन्दोलन

भगवान् महावीर के द्वारा श्रावकों के लिए जो बारह व्रत प्रदत्त किए गए उन्हें सामयिक स्वरूप देकर अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत आन्दोलन नैतिक-विकास का स्वर मुखारित करने वाला आन्दोलन है। अणुव्रत अनुशास्ता तुलसी ने बारह व्रतों के साम्प्रदायिक स्वरूप को सर्वथा बदल दिया। अणुव्रतों में साम्प्रदायिकता को नहीं नैतिकता को प्रमुख स्थान दिया गया है।

महावीर के काल में राजतंत्र था। चुनाव आदि उस समय नहीं होते थे किन्तु वर्तमान में लोकतंत्र का युग है अतः चुनाव शुद्धि की दृष्टि से भी इसमें व्रत का समावेश किया गया है।

पर्यावरण प्रदूषण के खतरे को देखते हुए पर्यावरण की जागरूकता के संदर्भ में भी इसमें नियम का समावेश हुआ है।

अणुव्रतः आचार संहिता

1. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूँगा।
(क) आत्म-हत्या नहीं करूँगा। (ख) भ्रूण-हत्या नहीं करूँगा।
2. मैं आक्रमण नहीं करूँगा।
(क) आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूँगा। (ख) विश्व-शान्ति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूँगा।
3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़—मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूँगा।
4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूँगा।
(क) जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूँगा। (ख) अस्पृश्य नहीं मानूँगा।
5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूँगा।
(क) साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊँगा।

6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिकता रखूंगा।
(क) अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊंगा। (ख) छलनापूर्वक व्यवहार नहीं करूंगा।
7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूंगा।
8. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
9. मैं सामायिक कुरिद्धियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
10. मैं व्यसन—मुक्त जीवन जीऊंगा।
(क) मादक तथा नशीले पदार्थ—शराब, गांजा, चरस, हिरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूंगा।
11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।
(क) हरे-भरे वृक्ष नहीं काटूंगा। (ख) पानी का अपव्यय नहीं करूंगा।

14.8 सारांश— श्रावकाचार के संदर्भ में विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार' पालन से ही जीवन सम्यक् हो सकता है।

14.9 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. महाव्रतों एवं अणुव्रतों में अन्तर स्पष्ट करें। या पांच अणुव्रतों की विस्तृत जानकारी दें।
2. श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं का परिचय दें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पन्द्रह कर्मादानों को स्पष्ट करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. शिक्षाव्रत है—
(क) चार (ख) तीन (ग) पांच
2. सामायिक का समय—
(क) एक दिन रात (ख) 48 मिनट (ग) 49 घण्टा
3. बंध नामक अतिचार है—
(क) अहिंसा अणुव्रत का (ख) संलेखना व्रत का (ग) दिग्व्रत का
4. अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक है—
(क) भगवान् महावीर (ख) आचार्य समन्तभद्र (ग) आचार्य तुलसी
5. श्रावक की दसवीं प्रतिमा है—
(क) प्रेष्य त्याग (ख) उद्दिष्ट भक्त (ग) आरम्भ त्याग
6. तीसरा अणुव्रत है—
(क) अहिंसा (ख) अस्तेय (ग) अपरिग्रह
7. अनर्थदण्ड के आधार हैं—
(क) 4 (ख) 5 (ग) 6
8. श्रावक के लिए पूर्णतः निषिद्ध है—
(क) आरम्भी हिंसा (ख) संकल्पी हिंसा (ग) सापराध हिंसा
9. असत्य का एक प्रकार है—
(क) मृषोपदेश (ख) विरुद्धराज्यातिक्रम (ग) कन्यालीक
10. नियम प्रतिमा का दूसरा नाम है—
(क) श्रमणभूत प्रतिमा (ख) कायोत्सर्ग प्रतिमा (ग) व्रत प्रतिमा

इकाई-15 : करुणा का महत्त्व और उसके प्रकार

संरचना

- 15.0 प्रस्तावना
- 15.1 उद्देश्य
- 15.2 सम्यग् दृष्टि की पहचान है-अनुकम्पा (करुणा)
- 15.3 करुणा का प्राण के समान महत्त्व
- 15.4 आध्यात्मा जीवत्व में भेद नहीं करता
- 15.5 अनिवार्य हिंसा : अध्यात्म नहीं हो सकता
- 15.6 एक जीव को बचाना, दूसरे को तोड़ना -रागद्वेष
- 15.7 सर्वोत्तम मार्ग है-हृदय परिवर्तन
- 15.8 दया है स्वयं का संयम
- 15.9 आत्मौपम्य
- 15.10 अनुकम्पा री चौपाई
- 15.11 सारांश
- 15.12 अभ्यास प्रश्नावली

15.0 प्रस्तावना

प्रत्येक प्राणी में दो वृत्तियाँ—करुणा और क्रूरता पाई जाती हैं। करुणा स्वभाव है, क्रूरता विभाव; इसलिए क्रूर से क्रूर समझा जाने वाला व्यक्ति भी निरा क्रूर होकर जी नहीं सकता, वह भी अपने परिवार-मित्रजन, समाज तथा राष्ट्र के प्रति करुणावान् होता है। उसके जीवन में भी कुल मिलाकर क्रूरता के क्षणों की अपेक्षा करुणा—सौहार्द के क्षण अधिक देखे जा सकते हैं, क्योंकि क्रियात्मक या भावात्मक क्रूरता का सतत प्रवाह बहता रहे तो व्यक्ति तनावोत्पन्न लोगों के दलदल में इस कदर फँस जाएगा कि उसका दम टूट जाएगा। आखिर पानी कितना भी उबल जाय, पर अपनी प्राकृतिक शीतलता को छोड़ नहीं सकता, यही कारण है कि हिंसक से हिंसक खूंखार प्राणी में भी करुणा का पतला-सा प्रवाह बहता देखा जा सकता है; सिंहनी भी अपने पुत्र के प्रति दयाई होती है, इतना ही नहीं मानव और शेर के मैत्री-प्रसंग, न केवल कथा-साहित्य में अपितु व्यवहार-जगत में भी देखने-सुनने को मिलते हैं, बिल्ली कुत्ता जैसे जन्मजात वैरी पशुओं में भी करुणा-भरा मातृत्व तथा भ्रातृत्व देखा-पढ़ा गया है। अपेक्षाकृत विकसित दिमाग वाले चलते फिरते पशु-पक्षियों में ही नहीं, झाड़ू-वृक्षों तक में करुणा के स्पन्दन होते हैं, यह आज विज्ञान-सम्मत तथ्य बन चुका है।

15.1 उद्देश्य- इसके अध्ययन से करुणा एवं इसके प्रकार का सम्यक् ज्ञान हो सकेगा।

15.2 सम्यग् दृष्टि की पहचान है—अनुकम्पा (करुणा)

दोनों वृत्तियों के उत्प्रेरक तत्त्व हैं—आत्मा के औदयिक और क्षायोपशमिक भाव, जो प्रत्येक सचेतन प्राणी में पाये जाते हैं। औदयिक भावों की प्रबलता में क्रूरता, कपटाई जैसे अवांछित कार्यो में आत्मा प्रवृत्त होती है, तो क्षायोपशमिक भावों की प्रबलता में दया/करुणा के भाव पुष्ट होने लगते हैं। स्वाभाविक रूप से या जीव के प्रबल प्रयत्न से जब मोहकर्म की अल्पता हो जाती है, तब करुणा के भाव प्रबल हो उठते हैं, क्रूरता कृशकाय हो जाती है; अतः सम्यग्दर्शनी की एक बहिरंग पहचान बनती है—अनुकम्पा/करुणा जिसका अंतःकरण निष्करण है, वह सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकता। सच में पाषाण हृदय निष्करण व्यक्ति में धर्म का अवतरण होता ही नहीं है, भला पाषाण में से कभी हरा अंकुर फूट सकता है? पाषाण-दिल व्यक्ति पथ का रोड़ा बन खून बहाता है, कांटा बन चुभता है, ऐसे करुणा-विहीन लोगों की उपस्थिति, स्वस्थ समाज-संरचना तो क्या, परिवार की प्रसन्नता में भी अवरोधक बनती है। प्रसन्न परिवार, स्वस्थ समाज, सौम्य राष्ट्र का निर्माण होता है—अहिंसा, मैत्री, करुणा से। क्रूरता कभी भी स्वस्थ निर्माण कर नहीं सकती।

15.2.1 अमृत सम पोषण-दाता करुणा

एक किसान, बागवान या नागरिक का स्नेहिल कारुण्य, खेत व बाग को नंदनवन तथा धरती-अम्बर को शीतल चन्दन बना देता है, जबकि क्रूर व्यवहार धरती को बंजर और आपसी रिश्तों को खंजर की धार की तरह तीखा बना देता है, फलतः धरती-अम्बर आग में झूलसने लगते हैं, हिंसा के स्फुल्लिंग उछलने लगते हैं, हिंसा का एक-एक स्फुल्लिंग दावानल बन सब कुछ स्वाहा कर देता है, इसलिए आगम-साहित्य में हिंसा को मृत्यु और क्रूरता को नरक कहा गया है। गुरुदेव तुलसी के शब्दों में हिंसा—अंधकार है, असत् है, मृत्यु है, घृणा है, क्रूरता है, जबकि अहिंसा—प्रकाश है, सत् है, अमृत है, करुणा है, समता है।

15.2.2 स्वस्थ समाज की निर्मापक—करुणा

महावीर-वाणी में 'अहिंसा सर्वभूयस्त्रेमकरी' अहिंसा मां की तरह सबका हित करने वाली है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ करुणा है, जहाँ करुणा है, वहाँ अहिंसा है। क्रूरता और अहिंसा का सहावस्थान कभी होता ही नहीं है। क्या कभी दिनमणि-सूरज व रात का सहावस्थान किसी ने देखा-सुना है? परम विद्वान् श्री सोमप्रभ सूरिश्वर ने अपने सिन्दूर प्रकर ग्रंथ में कितना समीचीन लिखा है—

स कमलवनमग्ने, वासरं भास्वदस्तादमृतमुगवक्त्रात्, साधुवादं विवादात्।

रुगपगम मजीर्णा-ज्जीवित कालकूटादभिलषति वधायः प्राणिना धर्ममिच्छेत्॥

क्या कभी प्रज्वलित अग्नि में कमल वन खिल सकता है? सूर्यास्त के बाद दिन हो सकता है? साँप के मुख से अमृत, विवाद से साधुवाद, अजीर्ण से आरोग्य और कालकूट विष से जीवन निकल सकता है? यदि ये बातें हो सकें तो प्राणी-वध से धर्म या क्रूर व्यवहार से स्वस्थ समाज का निर्माण हो सके, परन्तु न नौ मण तेल होता न राधा नाचती।

15.2.3 सही शिक्षा वह जो करुणाशील बनाये

समाज व राष्ट्र के स्वस्थ निर्माण में शिक्षा की अहम् भूमिका होती है। वह शिक्षा जिससे कर्मशील, सृजनशील, संवेग-नियंत्रक, करुणाशील और सुशील प्रजा का सृजन होता है। वह शिक्षा किस काम की जिससे निकलती है—अकर्मण्यता, निषेधात्मक भाव, क्रोध आवेश-आवेग, क्रूरता, इन्द्रिय-लोलुपता, छीना-झपटी, एवं स्वार्थपना अपव्यवहार। शिक्षा में सहृदयता, सौहार्द, समन्वय, सामंजस्य, संयम, स्नेहिलता जैसे तत्त्वों का समावेश हो तो शिक्षा वरदान बन सकती है, संसार स्वर्ग बन सकता है। स्वर्गीय संसार-संरचना में सुखद शिल्पकार का पार्ट होता है—करुणाप्लावित संव्यवहार का।

15.3 करुणा का प्राण के समान महत्त्व

समाज, राष्ट्र और राष्ट्रकुल को सुख-शान्ति-समाधि से रहना-जीना है तो अहिंसा भगवती की शरण में आना ही होगा। अहिंसा का दूसरा नाम है करुणा या यूँ कह दें कि अहिंसा का प्रतिबिम्ब है—करुणा। प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा के नामों की प्रज्ञप्ति है, उनमें अहिंसा का एक नाम है—करुणा। इस प्रकार संसारिक और आध्यात्मिक—दोनों क्षेत्रों में करुणा का शरीर में प्राण के समान महत्त्व है। अध्यात्म समता पर और संसार ममता पर, राग पर चलता है; अतः रागात्मक करुणा भी स्वीकार्य है, अध्यात्म की दृष्टि से रागात्मक करुणा स्वीकृत नहीं है। अध्यात्म विशुद्ध समता को स्वीकारता है। इस प्रकार करुणा के दो रूप बन जाते हैं—रागात्मक सावध करुणा और समतापरक निरवध करुणा। इन दोनों की मीमांसा कर दोनों के पार्थक्य को समझना बहुत आवश्यक है। गाय-भैंस, आक और थोर का दूध दूध कहलाता है, यद्यपि नाम एक, वर्ण एक पर गुणधर्म सर्वथा भिन्न हैं। अठारहवीं शताब्दी के धर्मक्रांति के सशक्त सूत्रधार आचार्य भिक्षु ने अणुकंपा की चौपाई में कितना सटीक कहा है—

गाय-भैंस, आक-थोरनो, ए चारूं इ दूध।

तिम अणुकम्पा जाणजो, राखी मन में सूधा॥

आक-दूध पीछां थकां, जुदा करे जीव-काय।

ज्यूं सावध अणुकम्पा कियां, पाप कर्म बंधाया॥

भोलेइ मत भूलजो, अनुकम्पा रो नाम।

कीजो अंतरंग पारखा, ज्यूं सीझे आतम कामा। अणुकम्पा री चौपाई, 2, 3, 4

यद्यपि गाय-भैंस के दूध का उपयोग है तो आक-थोर के दूध का भी उपयोग है, परन्तु दोनों को एक तुला पर नहीं तोला जा सकता। जहां स्वास्थ्य, पोषण और स्निग्धता की बात है, वहां गाय-भैंस का दूध काम का होता है और जहां किसी विष का निवारण विष से करना होता है, वहां आक-थोर के दूध भी काम के हो सकते हैं। जहां विशुद्ध अध्यात्म का प्रश्न है, वहां राग-द्वेष मुक्त समतापरक करुणा का महत्त्व है और समाज जो रागात्मक करुणा पर चलता है, उसमें राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति को भी करुणा, दया, अनुकम्पा मान लिया जाता है, फिर भी दोनों के भेद को तो समझना ही होगा। यदि नहीं समझा जाएगा तो घी-तम्बाकू का अनुपयोगी अपमिश्रण हो जाएगा, जो दोनों की अपने-अपने स्थान पर उपयोगिता है, उसको खो देगा।

2.2 सामाजिक जीवन में कर्तव्य एवं रागात्मक करुणा

भगवान महावीर ने अगार-धर्म (गृहस्थ के लिए देशव्रत-अणुव्रत या आंशिक व्रत रूप धर्म) और अणगार धर्म (मुनि या गृह-त्यागी के लिए पूर्ण महाव्रत रूप धर्म) का प्रतिपादन किया। वे जानते थे कि गृहस्थ परिवार, समाज या राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य से बंधा हुआ है। वैसी स्थिति में वह आराधना अंशतः कर सकता है। जहां तक व्रताराधना का सम्बन्ध है, महावीर ने मुक्त रूप से उसका समर्थन किया एवं एक मध्यम मार्गीय रूपरेखा प्रस्तुत की जिसमें गृहस्थ अपनी क्षमता के अनुसार एक छोटे से छोटे व्रत से लेकर 'श्रमण-भूत' (लगभग श्रमण या मुनि सदृश) के रूप में व्रताराधना का विकल्प स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र है। पर, गृहस्थ में रहते हुए अपने कर्तव्यों का पालन कैसे करना है, इस पर उन्होंने कोई विधि-विधान नहीं दिया, क्योंकि सामाजिक कर्तव्य का क्षेत्र अध्यात्म का क्षेत्र नहीं है। लौकिक दृष्टि से जो उपादेय है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से उपादेय हो ही, यह जरूरी नहीं है। महावीर का विधि-विधान आध्यात्मिक क्षेत्र के लिए किया गया। देशव्रत का पालन अध्यात्म की साधना है, उसमें रखी हुई छूट (आगार) अध्यात्म क्षेत्र से बाहर है। इसलिए महावीर वाणी में 'आगारों' का विधान नहीं किया गया, व्रतों का विधान किया गया।

अब प्रश्न होता है कि एक जैन श्रावक अपने सामाजिक कर्तव्यों को निभाने के लिए किसको आधार माने? भगवान महावीर ने जब इस विषय में कोई विधान नहीं किया है, तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के आधार पर सामाजिक अपेक्षाओं को देखते हुए वह निर्णय करेगा कि उसके लिए क्या-क्या कर्तव्य या उपादेय है। उस स्थिति में अध्यात्म के विधान उसके लिए मार्गदर्शक कैसे बनेंगे? इस दृष्टि से ही जैन श्रावक समाज में सदा से अपना कर्तव्य निभाता आ रहा है। इतिहास साक्षी है कि जैन श्रावकों ने किस प्रकार पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय स्तर पर अपने कर्तव्यों को निभाया था, देश पर आक्रमण होने पर युद्ध में सम्मिलित होकर अपने राष्ट्र-प्रेम का परिचय दिया था। इस परिप्रेक्ष्य में परिवार-पालन, वृद्ध-सेवा, जीव-रक्षा, प्रतिस्कार्य युद्ध या हिंसा आदि को जैन श्रावक सदैव 'लौकिक कर्तव्य' मानकर करता आ रहा है। 'अध्यात्म' न इसका समर्थक है, न निषेधक। अध्यात्म केवल यह चाहता है—जो कुछ भी किया जाए, उसे उसी रूप में समझा जायें। लौकिक कर्तव्य के नाम पर की गई जीव-रक्षा को अध्यात्म की दृष्टि से भी उपादेय नहीं माना गया है। कहीं भी जिनवाणी लौकिक कर्तव्य को लौकिक कर्तव्य मानकर उसका पालन करने का विरोध नहीं करती। प्रस्तुत पाठ में हमें लौकिक और लोकोत्तर की भेदरेखा को समझना है।

एक आशंका हो सकती है कि यदि लौकिक कर्तव्यों को सावध मानकर श्रावक पालन नहीं करेगा तो क्या सामाजिक व्यवस्थाओं का लोप नहीं हो जाएगा? फिर क्यों व्यक्ति परिवार-पालन, वृद्धों की सेवा, दीन दुःखियों को दान आदि कार्यों में व्यापृत होगा जिससे कर्मबंध होता हो?

गंभीरतापूर्वक चिंतन करने पर स्पष्ट होता है कि ऐसी आशंका निर्मूल है। जब गृहस्थ कृषि, व्यापार, खाना-पकाना, संतानोत्पत्ति आदि सभी सावध कार्य अपने लिए करता है, तो सामाजिक कार्य करने में क्यों परहेज करेगा? ऐसा करना सरासर विडंबना होगी। क्या वह केवल उन्हीं कार्यों को करता है जिसमें कोई पाप न लगे या जो निरवघ ही हो? जब ऐसा नहीं है, तो फिर विवेकशील श्रावक के लिए यह कभी शोभाजनक नहीं हो सकता कि वह 'सावध' होने के कारण सामाजिक करणीय कर्तव्यों से पलायन करे। जैन

समाज ने सामाजिक कर्तव्यों के नाते सदा सार्वजनिक सुविधाओं के कार्य में भाग लिया है। हास्पिटल, स्कूल, धर्मशाला, कुवें, तालाब, प्याऊं, गौशाला आदि के निर्माण एवं संचालन में कहीं भी जैन श्रावक पीछे नहीं रहा। बस, केवल मान्यता मिथ्या न हो, इतना अपेक्षित है। हिंसा, असंयम आदि सदैव सावध हैं, भले ही वह परोपकार या सेवार्थ किए गए हों—इस श्रद्धा को वह कभी नहीं छोड़ता। जो अज्ञानी हैं, वे ही ऐसे कार्यो को भी धर्म, मोक्षा-हेतु या पुण्य मान सकते हैं।

15.4 अध्यात्म जीवत्व में भेद नहीं करता

लोक भाषा में किसी मरते हुए जीव को बचा लेना, पीड़ित-दुःखी-आर्तप्राणी को पीड़ा मुक्त कर देना, दीन-दुःखी की सहायता करना, भूखे प्यासे को दयार्द्र बन खिलाना-पिलाना आदि कार्यो को दया, अनुकंपा, करुणा मान लिया जाता है, भले ही पंचेन्द्रिय जीवों को बचाने या पोषण देने में सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की घात होती हो, असंयम बढ़ता हो, क्रोध-अहंकार को पोषण मिलता हो या राग-द्वेष के कलुष भाव आते हों, यह सब स्वीकार्य है, पुण्य कार्य है पर किसी की जान बच जानी चाहिए, पीड़ा दूर हो जानी चाहिए, भूख-प्यास की तड़फन मिटकर परितृप्ति मिल जानी चाहिए। अध्यात्म की भाषा में किसी जीव के केवल जीने (बचने) मरने का, पीड़ा मुक्त होने का या क्षणिक इन्द्रिय-परितृप्ति का कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व है—संयम-वृद्धि का और समस्त जीवों के प्रति समता भाव का। अध्यात्म, जीव-जीव में भेद नहीं करता, उसकी नजरों में कोई जीवात्मा छोटा-बड़ा नहीं होता। हां, शरीर छोटा-बड़ा हो सकता है। क्या धनकुबेर और धनहीन, सत्ताविहीन नौकर में आदमी की दृष्टि से कोई भेद हो सकता है? इन्द्रिय-सम्पन्नता जीवत्व की संवेदनओं में भेद नहीं कर सकती, बल्कि आगम और अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्द्रिय-विकलों को वेदना की अनुभूति अत्यधिक होती है। महावीर-वाणी का प्रतिनिधि आचारंग एकेन्द्रिय जीवों की असह्य संवेदना को स्पष्ट भाषा में बतलाता है कि सर्वेन्द्रिय—आंख, नाक, जीभ, हाथ-पांव आदि से विकल पिण्ड-सदृश जीव को कोई तरुण आदमी 32 (चत्तीस) मर्मस्थानों—हृदय, तालु, आंख, मस्तक प्रमुख जगहों को भाले से भेदता है और तलवार से छेदता-काटता है, तो उसे कितनी असह्य वेदना होती है, पर वह बता नहीं सकता, चिल्ला नहीं सकता, क्योंकि भावाभिव्यक्ति का साधन—जीभ उसे प्राप्त नहीं है, प्रतिकार कर नहीं सकता, भाग नहीं सकता चूंकि प्रतिकार करने और भागने में सहायक हाथ-पांव उसको उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी वेदना असह्य होती है, यह निर्विवाद सत्य है; इस प्रकार की वेदना एकेन्द्रिय जीवों को छूने मात्र से होती है, पीड़ाग्रस्त संवेदनशील स्थान को छूने मात्र से असह्य होती है, ऐसी स्थिति में अल्प पाप, पुण्य अधिक या कम हिंसा अधिक दया-करुणा का प्रतिपादन आगम-अध्यात्म-सम्मत कैसे हो सकता है?

15.5 अनिवार्य हिंसा: अध्यात्म नहीं हो सकता

जीव जगत में जीवों का जीवन, अन्य जीवों पर टिका हुआ है, लोकभाषा में प्रचलित शब्द है—‘मच्छ गलागला’ क्रांत द्रष्टा आचार्य भिक्षु ने अणुकम्पारी चौपाई, ढाल सात के प्रथम दोहे में लिखा है—

मच्छ गलागल लोक में, सबला ते निबलाने खाय।

तिण धर्म परूपियो, कृगुरां कुबुध चलाय ॥

दुनियां में मत्स्य न्याय चल रहा है, बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है, वैसे ही बड़े जीव छोटे जीवों को खा रहे हैं। खाना स्वाभाविक-सा है, चूंकि ‘जीव जीव का आहार’ प्रसिद्ध मुहावरा है, पर जीव-वध में करुणा से उत्पन्न पुण्य का निरूपण सही नहीं है। आवश्यक हिंसा के विषय में ‘अहिंसा’ पुस्तक के पृष्ठ 50 पर महात्मा गांधी ने लिखा है—‘किसान जो अनिवार्य हिंसा करता है, उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं है, यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाए किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।’ खेती कर अनाज, फल-साग उत्पन्न करना, खाना-खिलाना, पानी पिलाना अनिवार्य आवश्यकताएं हो सकती हैं, समाज मान्य, ‘समाज धर्म’ भी हो सकता है किन्तु अध्यात्म-धर्म तो हरगिज नहीं हो सकता, क्योंकि जैन आगमानुसार अनाज के एक-एक दाने में एक-एक जीव तथा फल-साक-पानी में असंख्य जीव होने का

सर्वमान्य प्रतिपादन है, उन जीवों के वध के बिना आहार-पानी निष्पन्न नहीं होता, फिर धर्म-पुण्योत्पादक करुणा का निरूपण सत्य कैसे हो सकता है।

कुछ लोगों का मतव्य है—असंयमी संसारी जीव स्वयं खाता है, वह तो पाप ही है, पर दूसरों को दयाई हो खिलाए, तृप्ति दे, तो धर्म-पुण्य होता है, क्योंकि करुणा के भाव होते हैं। आचार्य भिक्षु ने आगम सम्मत अध्यात्म को प्रस्तुत करते हुए कहा—खाने वाले और देने वाले को धर्म निरूपित करना, जान-बूझ कर प्रयत्नपूर्वक एकेन्द्रियकाय जीवों को मारने के मन को शुद्ध बतलाना और स्वयं को जैन या करुणावान कहना, कितना विरोधाभास है? क्या मरने वाले एकेन्द्रिय जीवों को कष्ट नहीं होता? क्या उन जीवों ने स्वयं को मारने की या भगवान ने बड़े जीवों की सुरक्षा हेतु एकेन्द्रिय जीवों के वध की आज्ञा दी है? आज्ञा-भंग कर ऐसा कार्य करने वाले हिंसा और अदत्त व्रत का विखंडन नहीं करते? आचार्य भिक्षु ने लिखा—

खायां पाप, खायां धर्म, ए अन्य तीर्थी री वायो रे।

विरत-इवरतरी खबर न काई, भोलांने दे भरमायो रे॥

व्रताव्रतः 1.7

जीव मारे छे ददीरने, तिणरा चोखा कहे परिणाम।

ते विवेक विकल सुध बुध बिना, बले जैनी धरावे नाम॥

व्रताव्रतः 9.3

ज्यां जीवा ने मार्यां धर्म परूपे, त्यां जीवांरो अदत्त लागेजी।

बले आज्ञा लोपी श्री अरिहंतनी, तिणसूं तिजोई महावरत भागोजी॥

अणुकम्पा री चौपई, ढाल 9/32

15.6 एक जीव को बचाना; दूसरे को तोड़ना—रागद्वेष है

कुछ लोगों का चिंतन होता है कि जीवों को जिताना—बचाना करुणा-धर्म है। यदि मारने वाले को उपदेश न दिया जा सके अथवा समझाने पर भी हिंसा का दिल न बदले तो उसको बलपूर्वक हिंसा से रोकना भी करुणा-धर्म है, फिर भले इस कार्य में किसी को चोट लगे या द्वेषवश उसका खाना छूट जाये।

राग-द्वेष-मुक्त अध्यात्म धर्म की भाषा में आचार्य भिक्षु ने कहा—एक के द्वेषवश चांटा मारना और रागवश दूसरे का उपद्रव मिटाना, विशुद्ध करुणा नहीं, रागद्वेष है, उन्होंने अनुकम्पा: 2.17 में लिखा है—

एकण रे देवे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।

ए तो राग-द्वेषनो चालो, दसवीकालक संभालो॥

आप मतलबी समाज में भले इसे सपाप करुणा कहें या कमजोर को बलपूर्वक दबा देना कहे, सम्मत हो सकता है, परन्तु वीतराग अध्यात्म की कसौटी पर यह कार्य खरा सोना नहीं उतरता, क्योंकि सामाजिक क्षेत्र में जितना दायित्व और कर्तव्य का व्यापक महत्व है, उतना सर्वभूत-समता का नहीं है, अतः समाज करुणा का चाँगा पहनकर अपने आवश्यक कर्तव्यों को संपादित करवाने में रस लेता है, उसे इस बात से कोई लेना-देना नहीं कि बड़ों के पोषण और छोटों के शोषण में राग-द्वेष बढ़ता है या घटता है।

15.7 सर्वोत्तम मार्ग है—हृदय-परिवर्तन

एक व्यक्ति ने पूछा—भीखणजी! बकरे को कोई मार रहा हो, उससे बकरे को बचाया जाए तो क्या होगा? आचार्य भिक्षु ने कहा—मारने वाले को समझाकर हिंसा छुड़ाई जाए तो धर्म होगा। चर्चा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि—ये दो अंगुलियाँ हैं, एक को मारने वाला मान लो और एक को बकरा। इन दोनों में कौन डूबेगा—मरने वाला या मारने वाला? नरक में कौन जाएगा—मरने वाला या मारने वाला? प्रश्न का उत्तर दिया—मारने वाला। मारने वालो को समझाकर हिंसा छुड़ाएं, वह धर्म है, मोक्ष का मार्ग है।

दूसरा उदाहरण देते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—एक साहूकार के दो पुत्र हैं, एक ऋण लेता है और दूसरा ऋण चुकाता है, पिता किसको वर्जगा? ऋण लेने वाले को या ऋण चुकाने वाले को? साधु षट्काय जीवों के पिता के समान है। मारने वाला अपने सिर ऋण करता है, मरने वाला ऋण चुकाता है, साधु मारने वाले को समझाएगा कि तू ऋण क्यों ले रहा है? इससे भारी होकर डूब जाएगा, अशोभति-नरक तिर्यच गति में चला जाएगा, इस प्रकार मारने यानि ऋण लेने वाले को समझाकर हिंसा-क्रूरता छुड़ाना धर्म है, यह हृदय

परिवर्तनकारी ऐसा धर्म है, जिसके पीछे हिंसा सदा-सदा के लिए निर्बीज हो जाती है, परिणाम में अनेकानेक जीवों को सहज ही में अभयदान मिल जाता है। मनुष्य बड़ी हड़बड़ी में होता है, वर्तमान-दर्शन उसकी सहज प्रवृत्ति है, मरने वाले की पीड़ा से पीड़ित हो मरने वाले को बचाने का यत्न करता है फिर भले उस प्रयत्न में किसी को ताड़ना-तर्जना देनी पड़े, मारना पीटना पड़े या प्रलोभन देना पड़े, वह नहीं सोचता कि वैंर से वैंर बढ़ेगा, विषैला फोड़ा और अधिक विस्तार पाएगा, धन का दान दूसरे जीव की जान का निमित्त बनेगा। सर्वोत्तम मार्ग है—हृदय-परिवर्तन का, जब हिंसक का हृदय बदल जाएगा, तब करुणा का क्षीर-सागर उमड़ पड़ेगा, वह सबको माधुर्य से भर देगा, तब 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी' न रहेगा द्वेषभाव, न बढ़ेगी हिंसा की विषवेल।

'भिक्षु विचार दर्शन' पुस्तक के पृ. 114-115 पर आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—दया, करुणा शब्द दो भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है, एक भावना सामाजिक है और दूसरी धार्मिक। समर्थ व्यक्ति असमर्थ व्यक्ति के कष्टों से द्रवित हो उठता है, यह दीन के प्रति उत्कृष्ट सहानुभूति है। इस भावना की अभिव्यक्ति दया शब्द से होती है। एक व्यक्ति समर्थ या असमर्थ सभी जीवों को कष्ट देने का प्रसंग आते ही द्रवित हो जाता है, यह एक आत्मा की शेष सर्व आत्माओं के प्रति समता की अनुभूति है, इस भावना की अभिव्यक्ति भी दया शब्द से होती है, इसलिए यह कहना उचित है कि दया (करुणा) शब्द दो भावनाओं का प्रतिनिधि है। द्रवित होने के बाद दो कार्य हैं—कष्ट न देना और कष्टों का निवारण करना। कष्ट न देना यह सर्वसम्मत है, जबकि कष्टों का निवारण करना इसमें कई प्रश्न उपस्थित होते हैं, इसलिए आचार्य भिक्षु ने कहा—सब दया-दया पुकारते हैं। दया धर्म सही है पर मुक्ति उन्हीं को मिलेगी, जो उसे पहचान कर उसका पालन करेंगे। दया के नाम पर भुलावे में मत आओ, गहराई में पैठ उसे परखो। उन्होंने लिखा—

दया-दया सहूको कहे, ते दया धर्म छे टीक।

दया ओलखने पालसी, त्यांने मुगत नजीक ॥

अनुकम्पा: 8.1

भोलेइ मत भूलजो, अणुकम्पा रे नाम।

कीजो अंतर पारखा, ज्यूं सीझे आतम काम ॥

अनुकम्पा: 1, दू

कष्ट निवारण क्यों, कैसे, किसका किया जाए? इन सबका एक उत्तर नहीं हो सकता। समाज-धर्म की भूमिका से इनका उत्तर मिलता है—कष्टों का निवारण जीवों को सुखी बनाने के लिए किया जाए, जैसे-तैसे किया जाए और मनुष्यों का किया जाए और जहां मनुष्य-जाति के हित में बाधा न पड़े, वहां औरों का भी किया जाए।

आत्म-धर्म की भूमिका से इनका उत्तर मिलता है—कष्टों का निवारण आर्तध्यान मिटाने यानी पवित्र बनाने के लिए किया जाए, शुद्ध साधनों के द्वारा किया जाए और सबका किया जाए। यह आत्म-धर्म की भूमिका में अस्वीकार्य है कि एक पीड़ित जीव का कष्ट निवारण हो और दूसरे प्राणियों का कष्ट शत-सहस्र गुण अधिक बढ़ जाए या प्राण हरण तक हो जाए। यह तो खाड़ से निकल कुएं में गिरने जैसा प्रयत्न है। आत्मपवित्रता के लिए समस्त जीवों को अभय देना होता है, उसमें स्वयं के सुख-सुविधाओं का त्याग-विसर्जन करना होता है, स्वयं कष्ट झेलना पड़ता है, जबकि सुविधावादी दुनिया न अपने सुखों को छोड़ना चाहती है; न कष्ट झेलना चाहती है; वह दूसरों के कंधों पर बंदूक रख चलाने में माहिर है। अब्यात्म-धर्म मांगता है—बलिदान। इस तथ्य की पुष्टि-प्रसंग में जैन आगम साहित्य में पुष्ट प्रमाण भरे पड़े हैं, शलाका महापुरुष के जीवनवृत्त जन-जन की जबान पर धिरक रहे हैं, कुछ जीवन प्रसंग प्रस्तुत हैं

15.8 दया है स्वयं का संयम

1. जैनधर्म के इस कालखण्डीय चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा में बाईसवें तीर्थंकर हुए हैं—अरिष्टनेमि। यादववंश मुकुटमणि श्री कृष्ण वासुदेव उनके चचेरे भाई थे। यद्यपि अरिष्टनेमि जन्मजात विरक्त थे, परन्तु श्री कृष्ण वासुदेव के अत्याग्रह पर विशाल व भव्य बरात लेकर राजकुमारी राजीमती को व्याहने आ रहे थे, मार्ग में बाड़ों और पिंजरों में बंधे असंख्य पशु-पक्षियों का करुण क्रंदन कुमार अरिष्टनेमि ने सुनकर सारथि से पूछा—ये क्यों चिल्ला रहे हैं? सारथि ने उत्तर दिया—कुमार! आपके विवाह में समागत बारातियों में से

मांसाहारियों को इनका मांस परोसा जाएगा, जीवन की अंतिम घड़ियों को नजदीक निहारकर ये चिल्ला रहे हैं। यह सुन प्रभु को प्रतीत हुआ कि मानों वे दयालु प्रभु से अपनी अंतर्पीड़ा व्यक्त कर रहे हैं कि—आपका विवाह, हम सबके लिए काल बन रहा है। करुणा के क्षीर-सागर कुमार अरिष्टनेमि का अंतर्मन करुणा से भीग गया। कुमार ने सारथि से कहा—रथ को मोड़ लो, मुझे विवाह नहीं करना है। क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में प्रस्तुत है—उत्तराध्ययन की प्रेरक कथा—

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मिहिंति बहू जिया।

न मे एयं तु न्हिस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥

उत्तरा. 22/19

मेरे निमित्त इतने पशु-पक्षियों का वध होगा, वह मेरे लिए परलोक में हितकर नहीं होगा, यह कहकर स्वयं के मन को उपरत कर लिया, मखमली शय्या को त्यागकर संयम के कंटकाकीर्ण पथ का वरण कर लिया, यह है—परिशुद्ध करुणा, जिसमें किसी को हिंसा-उपरति हेतु न बाध्य करना पड़ा, न पशु-पक्षियों को मुक्त करने का उपाय खोजने का झंझट रहा, न शर्त-वर्त का वस्ताव रहा, रहा केवल स्वयं का संयम। आचार्य भिक्षु ने लिखा—

परणीजण सूं परिणाम फिरिया, राजमती ने ऊभी छिटकाई।

कर्म तणां बंध सू नेम डरिया, तोड़ी आठ भवारी सगाई। अनुकम्पा, 1-6

2. महाराणी देवकी के प्राण के समान, प्रिय अंतिम पुत्र गजसुकुमाल भगवान अरिष्टनेमि के पास परम पवित्र भावधारा में दीक्षित हो गए। दीक्षा के दिन ही भगवान नेमा के निर्देश से भिक्षु की बारहवीं महापंडिता स्वीकार कर महाकाल शमशान में ध्यानस्थ हो गए। ध्यानलीन महामुनि गजसुकुमाल को देखकर सोमिल ब्राह्मण के मन में पूर्व वैर उमड़ आया, उसने महामुनि के मस्तक पर गीली मिट्टी की पाल बांध बगबगाते अंगारे रख दिए। सुकुमाल शरीर, भीषण अग्नि का परीषह, खोपड़ी खिचड़ी की तरह सीजने लगी। उस स्थिति को आचार्यश्री तुलसी ने निम्न पद्य में चित्रित किया है—

खदबद-खदबद सीजे सिर, जैसे खीचड़ी, तो था तनु अविचल, मानो आई मोंटड़ी

अहा! कैसी है मजबूती, कवि-कल्पना परे, धन्य गजसुकुमाल मुनि ध्यान धरे ...

ओ है उपकारी तेरो बांधी जेण पाल, कर्म क्रय विक्रयार्थ बण्यो है दलाल

मत मन द्वेष भाव धरे उपकारी रूपर, धन्य गजसुकुमाल मुनि ध्यान धरे ...

स्वयं मारणांतिक महावेदना को झेल गये पर तेजस्काय-अग्नि के जीवों की विराधना नहीं होने दी, यह है विशुद्ध करुणा।

3. उग्र तपस्वी धर्मरुचि अणगार मासखमण के पारणे में आहार के लिए गये, नागश्री ब्राह्मणी ने कड़वे तुम्बे का विषैला साग पात्र में डाल दिया। तपस्वी मुनि ने अपने धर्माचार्य को जैसे ही पात्र खोलकर दिखाया तो आचार्य जान गये कि यह साग भयंकर विषैला है। खाते ही प्राणांत हो जाएगा। आचार्य ने निरवद्य स्थल पर परिष्ठापन करने का आदेश दिया। निर्जन और निर्जीव स्थल पर धर्मरुचि अणगार ने जैसे ही एक बूंद डाली कि मसालेदार साग की सुगंध से आकृष्ट हो सैंकड़ों चींटियां निकल आईं और झूल गई मौत के फंदे पर! तपस्वी मुनि ने सोचा—पूरे साग का परिष्ठापन, न जाने कितने जीवों का प्राण ले लेगा, गुरु का निर्देश है—निरवद्य स्थल पर परठ देने का, मुझसे बढ़कर उपयुक्त निरवद्य स्थल नजर नहीं आता है, यह साचकर धर्मरुचि अणगार ने कड़वे तुम्बे को खाकर स्वयं का बलिदान कर दिया, करुणा को खंडित नहीं होने दिया, आचार्य भिक्षु ने अणुकम्पारी चौपाई ढाल एक, गाथा सातवीं में लिखा है—

आपसू मरता जीव जाणी ने, कड़वा तुम्बा रो कीधो आहारो।

किडियांरी अणुकंपा आणी, धिन-धिन धर्मरुचि अणगारो ॥

4. ज्ञाता धर्मकथा सूत्रानुसार राजकुमार मेघ ने हाथी के भव में खरागोश की दया-अनुकम्पा कर संसार भ्रमण को घटा लिया। मेघ पहले भव में भी हाथी था, वन में लगे दावानल के योग से मरकर पुनः हाथी बना, जाति-स्मृति (पूर्वजन्म-स्मृति) वश वन-दावाग्नि से अपने यूथ की सुरक्षा करने एक योजन का कुंडाला झाड़-वृक्ष घास विहीन बना लिया, समय पर घने जंगल में दावानल लग गया, तब अपनी हथिनियों के साथ

वह सुरक्षित मंडल में पहुंच गया। अग्नि दाह से बचने जंगल के असंख्य जीव-जानवर उस मण्डल में ठसाठस भर गये। संयोग से हाथी ने खुजली करने के लिए अपने पांव को जैसे ही उठाया, वैसे ही एक शशक उस स्थल पर आ बैठा। वापिस पांव रखते समय समझदार हाथी ने बीस प्रहर तक अपने पांव को यह सोचकर अधर में रखा कि—यदि मेरा भारी भरकम पांव पड़ गया तो यह पामर प्राणी मर जाएगा, मेरे कारण इसे मृत्युकष्ट झेलना पड़ेगा, अच्छा हो मैं स्वयं कष्ट झेल लूं, यह है—परिशुद्ध करुणा। आचार्य भिक्षु ने अनुकम्पा की चौपाई की प्रथम ढाल में लिखा है—

मेघकृमार हाथीना भव में, श्री जिन भाषी दया दिल आई।

उंचो पग राख्यो, सुसीयो न माख्यो, या करणी श्री वीर सराई, या अणुकंपा आगन्यां में ... 1

कष्ट सह्यो तिण पापसूं डरतो, मन दिढ सेंठी राखी तिण काया॥

बलता जीव दावानल जाणी, सूंडसूं गिर-गिर बारे न त्याया, या अणुकंपा ... 2

परत संसार कियो तिण ठामे, उपना श्रेणक ने घर आई।

भगवंत आगे दीधालीधी, पेहला अधेन गिनाता मांही, या अणुकम्पा ... 3

विशुद्ध करुणा—अनुकम्पा है—सारी कठिनाइयों को स्वयं झेलना, अपनी आत्मा को हिंसा से उपरत कर लेना। महावीर ने इसी करुणा को सराहा है। उपर्युक्त सारे आगमीय उदाहरणों का यही नवनीत है। आगमों में कहीं नहीं आया है कि—अरिष्टनेमि ने बाड़ों-पिंजड़ों में बंधे पशु-पक्षियों को मुक्त कराया हो, या हाथी ने शशक-सहित अनेक जीवों को शरीर पर बिठा लिया हो, यदि बचाना ही करुणा—अनुकंपा होती तो हाथी निश्चित ही अनेक छोटे प्राणियों को शरीर पर बिठाकर सुख पहुंचा देता। सरांश तो यह है कि—न तो किसी का जीना दया है, न मरना हिंसा है, आचार्य भिक्षु ने कहा—जीव स्व-आयुष्य से जीता है, वह अहिंसा या दया नहीं है। कोई आयु पूर्ण होने पर मरता है, वह हिंसा नहीं है। मारने की प्रवृत्ति हिंसा है और मारने की प्रवृत्ति का संयम करना अहिंसा है।

जीव, जीवे ते दया नहीं, मरे ते हिंसा मत जाण।

मारणवालां ने हिंसा कही, नहीं मारे हो ते तो दया गुणखाण ॥ अनुकम्पा, 5/11

आचार्य भिक्षु ने दृष्टांत की भाषा में कहा—चींटी जीवित रहे इसलिए आपने नहीं मारा, यदि यह अहिंसा या दया है तो हवा का झोंका आया, चींटी उड़ गई, आपकी दया भी उड़ गई। किसी का पैर टिका, वह मर गई, आपकी दया भी मर गई। जो अहिंसा किसी जीव को जिलाने के लिए होती है, वह उसकी मौत के साथ चली जाती है और जो अपने जीवन की मुक्ति के लिए होती है, वह संयम में परिणत हो जाती है। आगम की भाषा में संयम और धर्म अभिन्न हैं या यूँ कहें कि—‘अहिंसा, संयमो, तवो’ जीवन-मृत्यु की इच्छा असंयम है, अतः वह अधर्म है, वह हिंसा है। वह अहिंसा नहीं, मोह है और मोहात्मक प्रवृत्ति से जीवन-जन्म-मरण की परम्परा का अंत नहीं होता अपितु विस्तार होता है—

बांछे मरणो जीवणो, तो धर्म तणो नहीं अंस।

ए अणुकम्पा कियां थकां, वधे कर्मनो वंसा॥ अनुकंपा (3) दूहा 1

आध्यात्मिक दया-करुणा में होती है—जीवन की आशा और मरणभय का सर्वथा त्याग। परिणाम में कौन बचता-मरता है, यह नहीं देखा जाता है। देखा जाता है—स्व निमित्त से होने वाले प्राण वध को—पर पीड़ा को। व्यक्ति की सदा से यह कमजोरी रही है कि वह स्वयं तपना, खपना और स्वार्थ का बलिदान करना नहीं चाहता, पराये प्राणों की बलि देकर धर्मवान करुणावान, दयावान बनने का स्वांग रचाना चाहता है। उदाहरण के लिए प्यासे को पानी पिलाकर या भूखे को रोटी खिलाकर दयावान बनना चाहता है, वह क्यों नहीं सोचता कि—जैन आगमानुसार पानी की एक-एक बूंद में असंख्य जीव तथा अनाज के एक-एक दाने में एक-एक जीव होते हैं। उनको मृत्यु-कष्ट होता है, क्या उनके जीने-मरने को नजरअंदाज किया जा सकता है? शरीर छोटे होने से क्या उनके जीव, जीव नहीं हैं? क्या उन्होंने अपने प्राण-वियोजन की इजाजत दे रखी है? क्या आत्मा छोटी-बड़ी होती है? आत्मौपम्य के उच्च सिद्धान्त में क्या आत्मा तुच्छता या उच्चता स्वीकार्य है?

15.9 आत्मौपम्य

एक आदमी लोहे का लाल-लाल तपा हुआ एक गोला सड़ासी से पकड़कर लाता है और कहता है—हे धर्म संस्थापकों! लो, इस गोले को एक क्षण के लिए अपनी हथेली में लो। यह कहकर उस आदमी ने गोले को आगे बढ़ाया, परन्तु सबने अपने हाथ पीछे खींच लिए। यह देख उसने कहा—हाथ क्यों खींचते हो? उन्होंने कहा—हाथ जल उठेंगे तो क्या होगा? क्या। क्या होगा, वेदना होगी। प्रश्नकर्ता ने कहा—जैसे तुम्हें वेदना होती है वैसे अन्य जीवों को वेदना नहीं होती? विज्ञो! सब जीवों को अपने समान समझो, समत्व के गज और माप से काम लो, समत्व के सर्वोच्च शैल-शिखर श्रमण महावीर ने दसवैकालिक, 10/15 में कहा—अत्तसमे मन्निज्ज छप्पि काए—सब जीवों को आत्म तुल्य समझो। महात्मा बुद्ध ने धम्मपद दण्ड वर्ग-1 में कहा—

सब्बे तसंति दंडस्स, सब्बे भार्यंति मच्चुणो।

अत्तान उपमं कृत्वा, न हनेरूय न चातये॥

दण्ड व मृत्यु से सब डरते हैं। दूसरों को अपनी तरह जानकर मनुष्य किसी दूसरे को न मारे, न मरवाये। इसी भाव-भाषा में श्रीमद्भगवद्गीता बोलती है—‘आत्मनः प्रतिकूलानि, पोषां न समाचरेत्।’ यह आदर्श वाणी है जो साधना के प्रथम चरण में भले ही जीवन में न उतर सके पर है तो सत्य, सत्य को जान लेना, आधा मार्ग तय कर लेना है। यद्यपि मान्यता यथार्थ होने पर भी कुछ ऐसी अनिवार्यताएं या दुर्बलताएं होती हैं, कि व्यक्ति मान्यता के अनुरूप आचरण नहीं कर पाता, हिंसा करता है चूँकि विश्व का अभिक्रम ही ऐसा है कि—‘जीवो जीवस्य जीवनम्’ एक जीव का दूसरे जीव के जीवन पर टिका हुआ है; अतः आवश्यक हिंसा कर जिया जाता है। हिंसा धर्म नहीं, यह मान्यता पक्ष है, जीवन निर्वाह के लिए हिंसा अनिवार्य है—यह व्यवहार पक्ष है। इस विसंगति को मिटाने का मार्ग नहीं सूझा तो व्याख्याएं स्थिर होने लगी कि—1. आवश्यक हिंसा या धर्मार्थ कृत हिंसा हिंसा नहीं। 2. बहुतों के लिए थोड़ों की या बड़ों के लिए छोटों की हिंसा, हिंसा नहीं है। एकेन्द्रियकाय जीवों की हिंसा में पाप कम और पुण्य ज्यादा होता है, आदि-आदि।

आचार्य भिक्षु ने सत्य सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए जनता का ध्यान खींचा कि यह दोहरी भूल है हिंसा करना और उसे अहिंसा-करुणा या धर्म-पुण्य मानना। हिंसा, कभी और किसी परिस्थिति में अहिंसा हो नहीं सकती, हिंसा-अहिंसा में पूर्व और पश्चिम की-सी दूरी है। उन्होंने लिखा—

ओर वसत में भेल हुव पिण, दया मे नहीं हिंसारो भेलो जी।

ज्यू पूरब ने पछिरो मारग, किणविध खाये मेलो जी॥

अणुकंपा, 9/71

समाज में हिंसा का या असंयम का सर्वथा परिहार हो नहीं सकता, अतः उसे स्वीकार्य कर लिया गया है। अध्यात्म अपनी दूरी पर चलता है, उसमें समस्त प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों के प्रति जो संयम, समत्व है, वह है—अहिंसा—करुणा। जीव मात्र के प्रति मैत्री भाव है—दया। जीव मात्र को पीड़ित करने का या अपने स्वार्थ से, अपने निमित्त से अन्य प्राणियों के पीड़ित होने का प्रसंग उपस्थित होते ही आत्मा कांप उठती है, वह है परिशुद्ध करुणा। उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग करना स्वीकार कर लेता है करुणावान्, पर औरों को पीड़ित करना तो दूर की बात है अपने निमित्त से पीड़ित—आर्त्तध्यानरत होते देखना भी नहीं चाहता।

श्रीमद् रायचन्द्र करुणाशील अध्यात्म पुरुष थे, जवाहरात का धंधा करते थे। एक बार एक व्यापारी से अग्रिम सौदा कर लिया। संयोग से एक साथ भाव बहुत ऊंचे चढ़ गये। फलस्वरूप श्रीमद् को उस सौदे से 50 हजार का उस जमाने के अनुसार भारी लाभ हो रहा था और वह व्यापारी इतने बड़े चाटे के कारण मानसिक चिंता में घुला जा रहा था। उसके मानसिक स्तंभ व पारिवारिक कठिनाइयों का सम्यग् आकलन कर श्रीमद्जी एक दिन उसके घर गये। श्रीमद्जी को देखते ही वह बेचारा घबरा गया। उसे आश्चर्य करते हुए श्रीमद् ने लिखा-पढ़ी वाला कागज मांग लिया। अपनी नीति की शुद्धता तथा वर्तमान परिस्थिति में पूरी रकम चुका सकने की असमर्थता प्रकट करते हुए उस व्यापारी ने श्रीमद् के अत्याग्रह पर हस्ताक्षर कृत इकरारनामे का पत्र श्रीमद् के हाथों में थमा दिया। धन से अलिप्त करुणावान् श्रीमद्जी ने यह कहते हुए उस

पत्र को फाड़ दिया कि श्रीमद् 'दूध पी सकता है, खून नहीं' सहृदय श्रीमद् ने अपने बहुत बड़े लाभ का त्यागकर उसे आर्तव्यान से मुक्त कर दिया।

सम्यग्दर्शन के घनी जीव के पांच लक्षण शम, संवेद, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य—में एक प्रधान लक्षण है—अनुकम्पा, ऐसे सम्यग्दर्शनी आत्मा, परायी आत्मओं को आत्मतुला से तोलते हैं, पर-पीड़ा को अपनी पीड़ा मानते हैं। बीदासर के श्री उत्तमचंद बैरानी का तरुण पुत्र असमय में कालकवलित हो गया, शोक संतप्त परिवार की अंतर्वेदना से उत्पीड़ित एक विज्ञ सज्जन ने मौत के कारण की मीमांसा करते हुए कहा—सेठ साहब! आपके हाथ की अंगुली की अंगूठी में जड़ा रत्न (हीरा) अशुभ है। इसे अतिशीघ्र बेच दीजिए, अन्यथा पता नहीं किन-किन विपदाओं का सामना करना पड़ सकता है। श्री उत्तमचंद जी ने मुनीमजी को बुलाया और कहा—इसे एक अंघकूप में डाल दो। आदेश पर सारे अवाक् रह गये। सबको समाहित करते हुए उन्होंने कहा—अर्थ-लाभ को क्या देखूँ? मैं जानता हूँ पिता को तरुण पुत्र की मृत्यु का कितना आघात लगता है, अतः मैं नहीं चाहता कि एक अन्य सुखी पिता पुत्र-शोक से संतप्त हो। धन-लाभ को गौण कर उस रत्न को अंघकूप में गिरवा दिया। जहां ऐसी अनुकंपा करुणा के स्पन्दन जागते हैं, वहां अर्थ-लाभ, पद-लाभ, सम्मान-लाभ आदि लाभ तुच्छ हो जाते हैं। आज जगत को जरूरत है—ऐसी तेजस्वी करुणा की, समानाधिकार के युग में पर प्राण हरण पर टिकी निःसत्त्व करुणा का कोई मूल्य नहीं है।

विद्यार्थियों! अब इस पाठ के आधार पर आप निम्नलिखित पाठ्य सामग्री को समझने की कोशिश करें। यह सामग्री 'अनुकंपा री चौपाई' नामक कृति, जिसके कर्ता हैं आचार्य भिक्षु, से ली गई है—(भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर, भाग 1, 30वां रत्न, ढाल 1-5, प्रकाशक जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता)

15.10 अनुकम्पा री चौपाई

ढाल : 1

अर्थ

मेघकुंवर हाथी रा भव में, श्री जिन-भाषी दया दिल आई।
ऊंचे पग रख्यो सुसलो न मार्यो, या करणी श्री वीर सराई ॥
या अनुकम्पा जिन-आज्ञान में ॥1॥

जिन-भाषित दया मन में लाकर मेघकुमार ने हाथी के भव में अपना पैर उठाए रखा, शशक को नहीं मारा, इसका वर्णन भगवान श्री महावीर ने स्वयं किया है। यह अनुकम्पा आज्ञा-सम्मत है ॥1॥

कष्ट सह्यो तिण पास सूं डरते, मन दिढ़ सेटी राखी तिण काया।
बलता जीव दावानल जाणी, सूंड सूं गिर-गिर बारे न लाया ॥2॥

पाप-भय के कारण उसने कष्ट सह्य। मन को दृढ़ व शरीर को स्थिर करके रखा, पर दावानल में जलते जीवों को सूंड से पकड़-पकड़कर वह बाहर नहीं लाया ॥2॥

परत संसार कियो तिण ठामें, उपना श्रेणिक नै घर आई।
भगवंत आगे दीक्षा लीधी, पहिला अध्येन ज्ञाता मांहि ॥3॥

उस समय उसने 'परित्संसार' (परिमित संसार) किया। श्रेणिक राजा के घर जन्म लिया और भगवान श्री महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन में इसका वर्णन है ॥3॥

मांडलो एक जोजन रो कीषो, घणां जीव बच्चा तिहां आई।
तण बच्चियां रो धर्म न चाल्यो, समकित आयां बिन समझ न काई ॥4॥

उसने एक योजन का परिमण्डल तैयार किया। उसमें आकर बहुत सारे जीव बचे, पर उनके बचने को धर्म नहीं कहा। सम्यक्त्व आए बिना यह समझ में नहीं आ सकता। इस अनुकम्पा को सावध समझना चाहिए ॥4॥

नेमकुंवर परणीजण चाल्या, पशु-पंखी देख दया दिल आणी।
इसड़ो काम सिरे नहीं मुजने, म्हारे काज हणे बहु प्राणी ॥5॥

नेमिकुमार विवाह के लिए चले। पशु-पक्षियों को देखकर उनके मन में दया आई। सोचा, यह कार्य मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि मेरे लिए ही बहुत सारे प्राणी मारे जाने वाले हैं ॥5॥

परणीजण सूं परिणामज फिरिया, राजमती नैं ऊभी छिटकाई।
कर्म तणा बंध सूं नेम डरिया, तोड़ी आठ भवां री सगाई ॥6॥

आप सूं मरता जीव जाणी नैं, कड़वा तूबा रो कीधो आहारो।
कीड्यां री अनुकम्मा आणी, धिन-धिन धर्मरुची अणगारो ॥7॥

फोड़वी लब्धि अनुकम्मा आणी, गोसाला नैं वीर बचायो।
छ लेश्या छद्मस्थज हुंता, मोहकर्म वश राग ज आयो।
आ अनुकम्मा सावध जाणो ॥8॥

असंजती गोसालो कुपातर, तिणनैं सहाज शरीर रो दीधो।
धर्म जाणे तो जगत दुःखी थो, बले वीर ए काम काय न कीधो ॥9॥

तेजु लेश्या मेली गोसाले, बाल्या दोय साधु भसम री कार्या
लब्धिधारी था साधु घणाई, मोटापुरुषां नैं कयूं न बचाया ॥10॥

जिनरखिये अनुकम्मा कीधी, रयणादेवी रे साहमैं जोयो।
सेलग यक्ष हेठो उतार्यो, देवी आय खड़ग में पोयो ॥11॥

भगता हरणगमेशी नो सुलसा, कीधो अनुकम्मा बिलखी जाणी।
छ बेटा देवकी रा जाया, सुलसा रे झर मेल्या आणी ॥12॥

यज्ञ बाड़े हरिकेशी आया, असणादिक त्यानैं नहीं दीधा।
यक्षदेव अनुकम्मा आणी, रुद्र वमंता ब्राह्मण कीधो ॥13॥

मेघकुंवर गर्भैं हुंतो जब, सुख रे ताई किया अनेक उपायो।
धारणी राणी कीधी अनुकम्मा, मन गमता असणादिक खायो ॥14॥

अभयकुमार रो मित्री देवता, तिण अभयकुंवर री अनुकम्मा आणी।
धारणी राणी रो डोहलो पूर्यो, अकाले वर्षा करनैं बरसायो पाणी ॥15॥

विवाह से मन फिर गया। राजीमती को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया। कर्मों के बंधन से डर कर नेमिकुमार ने आठ भवों का जो नाता था, तोड़ दिया। यह अनुकंपा जिनेश्वर देव की आज्ञा में है ॥6॥

अपने द्वारा जीवों को मरते देखकर धर्मरुचि अनगार ने कड़वे तुम्बे का आहार किया। वे चींटियों की अनुकम्पा करने वाले धर्मरुचि अनगार धन्य हैं। यह अनुकम्पा भी जिनेश्वरदेव की आज्ञा में है ॥7॥

महावीर स्वामी ने अनुकम्पा करते हुए लब्धि फोड़कर गोशालक को बचाया। उस समय भाविन छ लेश्या वाले और छद्मस्थ थे। मोह कर्म के कारण उनको यह राग आया ॥8॥

गोशालक असंजती और कुपात्र था। उसे शारीरिक सहयोग भगवान श्री महावीर ने किया। यदि इसमें धर्म समझते तो सारा जगत दुःखी था, भगवान ने इस उदाहरण को फिर से दुहराया तो नहीं ॥9॥

अपनी तेजोलेश्या के द्वारा गोशालक ने दो साधुओं को जलाकर भस्मसात् कर दिया। वहां लब्धिधारी साधु तो बहुत थे। उन महापुरुषों को उन्होंने क्यों नहीं बचाया? यह अनुकम्पा सावध समझनी चाहिए ॥10॥

जिनरक्षित ने करुणा करके रयणादेवी के सम्मुख देखा। शैलक यक्ष ने उसे नीचे गिरा दिया और देवी ने आकर उसे अपने खड़ग में फिरे लिया। यह अनुकम्पा सावध समझनी चाहिए ॥11॥

सुलसा हिरण्यगवेषी देव की भक्ता थी। उसे दुःखी देखकर देव ने अनुकम्पापूर्वक देवकी से उत्पन्न छ पुत्रों को सुलसा के घर लाकर रख दिया। यह अनुकम्पा सावध समझनी चाहिए ॥12॥

हरिकेशी मुनि यज्ञ-स्थल पर आए। उनको वहां अशनादिक दिया गया। यक्ष देवता ने उनकी अनुकम्पा करके ब्राह्मण को रुधिर-प्लावी बना दिया। यह अनुकम्पा सावध समझनी चाहिए ॥13॥

मेघकुमार जब गर्भ में था, तब धारिणी रानी ने गर्भ की अनुकम्पा करते हुए उसके सुख के लिए अनेक उपाय किये। मन की रुचि के अनुसार भोजन किया। यह अनुकम्पा सावध समझनी चाहिए ॥14॥

अभयकुमार के मित्र देवता ने उसकी अनुकम्पा करके धारिणी रानी का दोहद पूरा किया। अकाल में वर्षा की। यह अनुकम्पा सावध समझनी चाहिए ॥15॥

कृष्णजी नेम वंदण ने जाता, एक पुरुष ने दुखियो जाणी।
साहज दियो अनुकम्मा कीषो, ईट उठाय उणरे घर आणी ॥16॥

दुखिया दोहरा देख दरिद्री, अनुकम्मा उणरी किण आणी।
गाजर मूलादिक सच्चि खवावै, बले पावै काचो अणगल पाणी ॥17॥

दुखिया जीव मारग में देखी, ठल जावै साधु संकोची काया।
आप हणे नहीं पाप सू डरता, अनुकम्मा आधी न मेले छाया ॥18॥

उपाड़ी ने छाया मेले तो, असंजती जीव री व्यावच लागी।
या अनुकम्मा साधु करे तो, जावै पांचूई महाव्रत भागी ॥19॥

सो साधु ग्रीष्म काल उन्हाले, पाणी बिना हुवै जुदा जीव काया।
अनुकम्मा आण ने अशुद्ध बहिरावै, छ काया रा पीहर साधु बचाया ॥20॥

गजसुकमाल ले नेम री आज्ञा, काउसग कियो मसाण में जाई।
सोमल आय खीरा शिर ढाया, शीश न धुण्यो दया दिल आई ॥21॥

साधु बिना अनेरा सर्व जीव री, अनुकम्मा आणी साधु बांधे बंधावै।
तिणरो नशीत रे बारमें उद्देशे, साधु ने चोमासा प्रायश्चित आवै ॥22॥

रासड़ीथावैक सू तस जीव बंध्या छै,
ते तो भूख तृषा सू अत्यन्त दुख पावै।
त्योने अनुकम्मा आण ने छोड़े छोड़ावै,
तिण साधु ने चौमासी प्रायश्चित आवै ॥23॥

व्याधि कुष्टगदिक रोगीलो सुण नै, तिण ऊ पर बेद चलाय ने आवै।
साजो करे अनुकम्मा आणी, गाली चूरण दे रोग गमावै ॥24॥

श्री कृष्ण ने नेमिनाथ प्रभु को वंदनार्थ जाते समय एक पुरुष को दुःखी देखकर उस पर अनुकम्मा की। उसको सहयोग दिया, एक ईट उठाकर उसके घर रख दी। यह अनुकम्मा सावध्य समझनी चाहिए ॥16॥

दुःखी, कष्ट प्राप्त तथा दरिद्री को देखकर कोई उनके प्रति अनुकम्मा लाकर उन्हें गाजर, मूली आदि सजीव वस्तु खिलाता है तथा अनछाना पानी पिलाता है, उस अनुकम्मा को सावध्य समझनी चाहिए ॥17॥

अपने द्वारा जीवों को मरते देखकर साधु अपने शरीर को संकुचित कर शौचार्थ जाते हैं। पाप से डर कर स्वयं उनकी हिंसा नहीं करते, परन्तु उनका अनुकम्मा करके उन्हें छाया में लाकर नहीं रखते। इसको आज्ञा-सम्मत अनुकम्मा समझना चाहिए ॥18॥

यदि जीवों को उठाकर छाया में रखें तो असंजती की वैधावृत्य (परिचर्या) करने का दोष लगता है। साधु यदि ऐसी अनुकम्मा करते हैं तो उनके पांचों ही महाव्रत भंग होते हैं ॥19॥

किष्म ग्रीष्मकाल का समय है। सौ साधु हैं। पानी के बिना उनके प्राण जा रहे हैं। किसी ने अनुकम्मा करके अशुद्ध पानी उन्हें बहिराया (दान दिया) और उन छ काया के रक्षक साधुओं को बचाया। यह अनुकम्मा सावध्य समझनी चाहिए ॥20॥

गजसुकुमाल मुनि ने नेमिनाथ भगवान की आज्ञा लेकर श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग किया। सोमिल ने आकर उनके सिर पर अंगारे रख दिये। उनके मन में दया थी अतः उन्होंने अपना सिर हिलाया नहीं। यह अनुकम्मा जिनेश्वरदेव की आज्ञा में है ॥21॥

साधु के अतिरिक्त अन्य जीवों की अनुकम्मा करके कोई साधु उन्हें बांधे या दूसरों से बंधवाये तो उस साधु को निशीथ सूत्र उद्देशक 12 के अनुसार चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है ॥22॥

रस्सी आदि से जो जीव बंधे हुए हैं और वे भूख, तृषा आदि से अत्यन्त पीड़ित हैं। अनुकम्मा लाकर यदि कोई (साधु) उन्हें छुड़ाता है तो उसको चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है ॥23॥

किसी के कुष्ठादि अनेक व्याधियां हैं। कोई वैद्य यह सुनकर अपने आप आता है। चूर्ण, गोली आदि देकर उसका रोग मिटाता है और उसे स्वस्थ कर देता है। यह सावध्य अनुकम्मा है ॥24॥

लब्धिधारी रा खेलादिक थी, सोलेई रोग जड सूं जावै।

बले जाणे साधु ये रोग सूं मरसी, अनुकम्मा आधी रोग नहीं गमावै। 125॥

जो अनुकम्मा साधु करे तो, उपदेश देई वैराग चढ़ावै।

चेखे चित पैलो हाथ जोड़े तो, चार्लई आहारनां त्याग करावै या
अनुकम्मा निरवद्य जाणो। 126॥

गुहस्थ भूलो उजाड़ वन में, अटवी बले उज्जड़ जावै।

अनुकम्मा आणो साधु मारग बतावै, तो चार महिनां रो चारित्र जावै। 127॥

अटवी में भूला नैं अत्यन्त दुखी देखी, चार्लई शरण साथ हिढ़ावै।

मारग पूछै तो मूनज साझै, बोले तो भिन्न-भिन्न धर्म सुणावै। 128॥

कल: 2

डाभ मूंजादिक नी डोरी, बंधीया करे हेला ने सारी।

सी तापादिक कर दुखिया, साता वंछै जाणै हुवा सुखिया ॥1॥

अनुकम्मा उणारी आणे, छोडे छोडावै नैं भलो जाणै।

तिणनै चोमासी प्रायश्चित आवै, धर्म जाणे तो समकित जावै। 12॥

इम बांधे बंधावै हुवै राजी, तिणरें संजम गयो भाजी।

ए तो सावद्य कामो जाणो, तिणरा साधां किया पचखाणो। 13॥

जीवाणो मरणां नहीं चावै, साधु कयाने बंधावै छोड़ावै।

ज्यांरी लागी मुगत सूं ताली, नहीं करे तिके रखवाली ॥4॥

गुहस्थ रे लागी लायो, घर बारे निकालियो न जायो।

बलता जीव बिल-बिल बोलै, साधु जाय कंवाड़ न खोलै ॥5॥

द्रव्ये भावे लाय लागी, तिण मांहे केयक वैरागी।

लब्धिधर मुनि के श्लेष्म आदि से सोलह ही रोग समूल
मिट जाते हैं। मुनि यह जान भी ले, यह व्यक्ति रोग
के कारण मरने वाला है तो भी अनुकम्मा करके उसका
रोग नहीं मिटाते। यह अनुकम्मा सावद्य होती है। 125॥

साधु यदि अनुकम्मा करते हैं तो उपदेश देकर वैराग्य
बढ़ाते हैं। शुद्ध हृदय से वह यदि चाहता है तो उसे
चारों आहार भोगने का प्रत्याख्यान कर देते हैं। यह
अनुकम्मा निरवद्य है। 126॥

कोई गुहस्थ जंगल में भटक गया और वह उजड़ ही
उजड़ चलता जा रहा है। अनुकम्मा करके यदि कोई
साधु उसे मार्ग बताता है तो उसको चातुर्मासिक
प्रायश्चित आता है। 127॥

जंगल में उसे अत्यन्त दुखी देखकर साधु उसे चार
शरण देते हैं। यदि वह मार्ग पूछता है तो साधु मौन
रहते हैं। यदि वे बोलते हैं तो भिन्न-भिन्न प्रकार से
धर्मोपदेश सुनाते हैं। यह अनुकम्मा जिनेश्वर देव की आज्ञा
में है। 128॥

अर्थ

डाभ, मूंज आदि की रस्सी से त्रस जीव बंधे हैं, शीत,
ताप आदि से दुःखी हैं, बिलबिलाहट कर रहे हैं,
सुख-शान्ति के लिए अत्यन्त व्याग हैं, उनकी अनुकम्मा
को करके साधु उन्हें बंधन से छोड़ता है, दूसरे से
छुड़वाता है या किसी छोड़ने वाले को अच्छा मानता है
तो उस साधु को चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है। ऐसा
करके उस कार्य में यदि वह धर्म मानता है तो उसकी
सम्पत्त्व भी चली जाती है ॥1-2॥

इसी प्रकार यदि वह अनुकम्मा करके किसी प्राणी को
बांधता है, बंधवाता है, बांधने वाले का अनुमोदन करता
है तो उसका संयम चला जाता है। ये सब सावद्य कार्य
हैं। इसका साधु ने प्रत्याख्यान किया है। 13॥

साधु उन प्राणियों का जीना भी नहीं चाहता, मरना भी
नहीं चाहता तो वह कयों बांधेगा और कयों छोड़ागा?
उसकी प्रीति मुक्ति से लगी है। वह किसकी रखवाली
करेगा ॥4॥

गुहस्थ के घर में आग लगी है। घर से बाहर नहीं
निकला जाता। आग में जलते जीव बिलबिलाहट करते
हैं, पर साधु जाकर कपाट नहीं खोलता है ॥5॥

संसार में तो द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की आग लगी

तिणरी अनुकम्मा आवै, उपदेश देइ समझवै ॥६॥
जन्म-मरण री लाय थी काढ़े, उणरो काम सिराड़े चाड़ै।
पकड़ावै ज्ञानादिक डोरी, तिण थी आठूई कर्म दे तोड़ी ॥७॥

अनुकम्मा कियं डंड आवै, परमास्थ बिरला पावै।
नशीत नो बारमैं उद्देशो, निज भाषी दया नी रँसो ॥८॥

छोड़े साधु सूतर में कहै चाल्यो, ए तो अर्थ अणहुंतो घाल्यो।
भोलां ने कुगुरां बहकाया, कूड़-कूड़ा अर्थ बताया ॥९॥

सिंह बाघादिक मंजारी, हिंसक जीव देखी आचारी।
त्याने मार कट्ठां हिंसा लागै, पहिलाई महाव्रत भागै ॥१०॥
मत मार कट्ठां उणरो रागी, तीजे करण हिंसादिक लागी।
सूयगडअंग छै साखी, श्री वीर गया छै भाखी ॥११॥

गृहस्थ रो शरीर ममता में, साधु बैठा समता में।
रह्या धर्म शुक्ल ध्यान ध्याई, मूँवां गयां री फिकर न काई ॥१२॥

इहलोक में परलोक, जीवणो मरणो काय भोग।
ए तो पांचूई छै अतिचार, बांछ्यो नहीं धर्म लिगार ॥१३॥

आपणोई बांछें तो पाप, पर नो कुण घालै संताप।
घणो जीवणो बांछे अज्ञानी, असभाव राखै ते ज्ञानी ॥१४॥

वायरो वर्षा सी ताप, रह्यो न रह्यो चावै तो पाप।
राज विरोध रहित सुकाल, उपद्रव जावो तत्काल ॥१५॥
सातां बोलों रो ए विस्तार, ओलखियो ते अणगार।
घट में जो समता आवै, हुवा न हुवा एको ही न चावै ॥१६॥

ही है। कुछ एक लोग वैराग्यवान् होते हैं, जो भाव आग से बाहर निकलना चाहते हैं। उनकी अनुकम्मा साधु करते हैं और उन्हें उपदेश के द्वारा प्रतिबोध देते हैं। उन्हें जन्म और मृत्यु की आग से बाहर निकालते हैं, उनका काम सिद्ध करते हैं। वे उसे ऐसी ज्ञान की रस्सी पकड़वाते हैं कि वे आठों ही कर्मों के तोड़ने में समर्थ हो जाते हैं ॥६-७॥

अनुकम्मा करने से प्रायश्चित्त आता है, इस परमाणु को कोई बिरला व्यक्ति ही समझ पाता है। निश्चय सूत्र के बारहवें उद्देशक में जिन भगवान ने दया का रहस्य प्रकट किया है ॥८॥

कुछ लोग कहते हैं, साधु बड़े प्राणियों को खोल सकता है, यह आगम में कहा है; यह अर्थ अत्यन्त निराधार है। भोले-भोले लोगों का कुगुरु शास्त्रों का अर्थ बताकर बहका देते हैं ॥९॥

सिंह, बाघ, बिल्ली आदि हिंसक जीवों को देखकर यदि साधु बड़े, इन्हें मारे तो उसे हिंसा लगती है, पहला महाव्रत टूटता है। यदि साधु (घटना प्रसंग पर) यह कहें, इन्हें मत मारो तो उन जीवों के प्रति राग प्रकट होता है और उन हिंसक पशुओं द्वारा कथ्य प्राणियों की हिंसा का अनुमोदन लगता है। सूत्रकृतांगसूत्र में भगवान श्री महावीर ने ऐसा कहा है ॥१०-११॥

गृहस्थ का शरीर उसकी ममता में है और साधु अपनी समता में है। वे धर्म-ध्यान व शुक्ल-ध्यान ध्याते हैं। उन्हें किसी के मरने की चिंता नहीं होती है ॥१२॥

इहलोक-वांछा, परलोक-वांछा, जीवन-वांछा, मृत्यु-वांछा और कामभोग-वांछा ये पांच अपश्चिन्मापणान्तिकी संलेखना के अतिचार माने गये हैं। इनमें धर्म जरा भी नहीं है ॥१३॥

श्रावक के अपने जीवन की वांछा भी पाप है तो दूसरे की जीवन-वांछा करके कौन संतापित होगा? अधिक जीना तो चाहते हैं, वे अज्ञानी हैं तथा जीवन व मृत्यु में सम्भाव रखते हैं, वे ज्ञानी हैं ॥१४॥

पवन, वृष्टि, शीत, ताप, क्षेम, सुकाल, उपद्रव ये सात बातें हैं या न हों, यह चाहना मात्र पाप है। घट में यदि समता होती है तो इन सातों बातों का होना या न होना कुछ भी नहीं चाहता। इन सात बातों का विस्तृत हार्द जिस्से पहचान लिया है, वही अनगार है ॥१५-१६॥

एकण रे दे रे चपेटो, एकण रो दे उपद्रव मेटी।

ए तो राग द्वेष नौ चालो, दशवैकालिक संभालो ॥17॥

साधु बैठो नावा में आई, नावड़ियो नाव चलाई।

नावा फूटी मांह आवै पाणी, साधु देखे लोकां नहीं जाणी ॥18॥

आप डूबे अनेरा प्राणी, किणरी अनुकम्मा नाणी।

बतायां व्रत रो भंग, तिणरो शाखी आचारंग ॥19॥

सानी कर साधु जतावै, लोक कुसले खेमैं घर आवै।

डूबा पिण साधु न चावै, खड़ा चावै तो तुरत बतावै ॥20॥

मौन साधु रहे ते संत, तिके करे संसार नो अंत।

परिणामज राखै सेंठा, धर्म ध्यान मांहि रहै बैठा ॥21॥

कल: 3

चंपानगरी ना बाणियां, जिहाज भरनै समुद्र में जाय रे।

तिण अवसर एक देवता, त्यानै उपसर्ग कीधो आय रे।

जीव मोह अनुकम्मा न आणिये ॥1॥

मिनका सीयाल खाँवें बेसाणने, गले पहिरी छै रंड माल रे।

लोही राध सु लीप्यो शरीर नै, हाथे खडग दीसे विकराल रे ॥2॥

लोक धड़-धड़ धूजवा, और देव खड़ा मन ध्याय रे।

अरणक श्रावक डरियो नहीं, तिण काउसंग दीधो ठाय रे ॥3॥

सागारी अनशन कियो, धर्म ध्यान खड़ा चित्त ध्याय रे।

सगलां नै जाण्या डूबता, अनुकम्मा न आणी काय रे ॥4॥

अरणक श्रावक नै डिगायवा, देव वद-वद बोलै वाय रे।

जो अरणक धर्म न छोड़सी, तो जिहाज डबोऊं जल मांय रे ॥5॥

ऊंची उपाड़ नै ऊंची नहाख नै, कर सु सगलां री घात रे।

काली पीली अमावस रा जण्या मान रे तूं अरणक बात रे ॥6॥

ज्ञान दर्शन म्हरा व्रत नै, इणरो कीधो विघन न थाय रे।

हूं सेवग छूं भगवान रो, मौनै कोई न सके चलाय रे ॥7॥

एक आदमी के चपेट में मारना और दूसरे को पुचकारना ये दोनों कार्य राग-द्वेष जन्य हैं। दशवैकालिक सूत्र में इसका वर्णन है ॥17॥

साधु नाव में बैठा है। नाविक नाव चला रहा है। नाव में छिद्र हो गया है और पानी भर रहा है। उसे साधु के अतिरिक्त और किसी ने नहीं देखा है। साधु स्वयं डूबने की ओर आ रहा है, दूसरे लोग भी डूबने जा रहे हैं। उसके मन में किसी के प्रति अनुकम्मा नहीं आई। क्योंकि छिद्र बताने से व्रत-भंग होता है। आचारंग सूत्र इस बात का साक्षी है। संकेत करके भी यदि साधु उस छिद्र को बताता है कि सब लोग कुशल-मंगल के साथ अपने घर पहुंचते हैं। सब लोग डूब जाएं, यह भी साधु नहीं चाहता। सब लोग जाएं, यह यदि वह चाहता तो तत्काल उस छिद्र को बता देता। साधु वहां धर्म-ध्यान में स्थिर होकर मौन रहता है और अपनी परिणाम-दृढ़ता से संसार का अंत करता है ॥18-19-20-21॥

अर्थ

चम्पा नगरी के बाणियों के माल भरे जहाज समुद्र में जा रहे थे। उस समय एक देवता ने उन्हें उपसर्ग दिया। ... हे जीव मोह अनुकम्मा मत कर ॥1॥

शृगाल और मार्जार उसके कंधे पर बैठे थे। गले में कटे सिरों की माला थी। रक्त और रस्सी से लिप्त शरीर था और हाथे में विकट खड्ग था ॥2॥

लोग धर-धर कांपने लगे और अपने-अपने इष्ट का स्मरण करने लगे। अरणक श्रावक डरा नहीं और उसने कायेत्सर्ग आरंभ कर दिया ॥3॥

उसने सागारी अनशन कर दिया। धर्म-ध्यान में अपना चित्त लगाया। सबको डूबते देखकर उसे अनुकम्मा नहीं आई ॥4॥

अरणक श्रावक को विचलित करने के लिए देवता बढ़-बढ़कर बोल रहा है, हे अरणक! यदि आज धर्म नहीं छोड़ेगा तो मैं इस जहाज को जल में डूबा दूंगा ॥5॥

जहाज को ऊपर उठाऊंगा और औंधी करके फिर नीचे गिराऊंगा। काली-पीली अमावस्या के दिन जन्मने वाले हे अरणक! मेरी बात मान, नहीं तो मैं सबकी घात करूंगा ॥6॥

मैं भगवान का सेवक हूँ। मुझे कोई विचलित नहीं कर सकता। मेरे ज्ञान, दर्शन, चरित्र में इसका किय हुआ विघ्न नहीं हो सकता ॥7॥

लोक बिल-बिल करता देखनै, अरणक रो न बिगड़्यो नूर रे।
मोह करुणा न आणी, केहनी, देव उपसर्ग कीधो दूर रे ॥8॥

देव धन्य-धन्य अरणक ने कहै, तू तो जीवादिक रो जाण रे।
थारा सुधर्मी सभा मझै, इन्द्र किया घणा बखान रे ॥9॥

अरणक श्रावक रा गुण देखनै, आया देव री दाय रे।
दोय कुंडल जोड़ी आप नै, देव आयो जिण दिशि जाय रे ॥10॥

नमिराय ऋषि चारित लियो, ते तो ऊभो बाग में आय रे।
इन्द्र आयो नमि नै परखवा, ते किण बिष बोलै वाय रे ॥11॥

थारी अगरि करी मिथिला बले, एकर सू साहमौं जोय रे।
अंतेउर बलतो मेलसो, ए बात सिरे नहीं तोय रे ॥12॥

सुख वपराय सारा लोक में, बिलखा देख पुत्र-रतन रे।
जो तू दया पालण नै ऊठियो, तो तू यांरा जतन रे ॥13॥

नमि कहै वसू जीवू सुखे, म्हारी पल-पल सफली जात रे।
या मिथिला नगरी दाइसां, म्हारे बले नहीं विलमात रे ॥14॥

मोनै हर्ष नहीं मिथिला रह्या, बलियां नहीं शोक लिगार रे।
मैं सावद्य जाण त्यागी तिका, रही बली न चावै अणगार रे ॥15॥

नमिराय ऋषि आणी नहीं, मोह अनुकम्पा नी बात रे।
समभाव राखे मुगते गद्या, करी अष्ट कर्मा री घात रे ॥16॥

श्रीकेशव केरो बंधवो, यो तो नामे गजसुकुमाल रे।
तिण दीक्षा ले काउसग कियो, सोमिल आयो तिण काल रे ॥17॥
माथे पाल बांधी माटी तणी, मांहे घाल्या लाल अंगार रे।
कष्ट ऊपनो अति घणी, नेम करुणा न आणी लिगार रे ॥18॥

श्रीनेम जिनेश्वर जाणता, होसी गजसुकुमाल री घात रे।
पिण अनुकम्पा आणी नहीं, और साधु न मेल्या साथ रे ॥19॥

लोगों को बिलबिलाहट करते देखकर भी अरणक का स्वरूप बिगड़ा नहीं। उसने किसी की मोह अनुकम्पा नहीं की, तब देवता ने उपसर्ग दूर कर दिया ॥8॥

देवता अरणक को धन्य-धन्य कहने लगा। उसने कहा कि तू जीवादि द्रव्यों का ज्ञाता है। सुधर्मा सभा में इन्द्र ने तेरा बहुत बखान किया था ॥9॥

अरणक श्रावक के गुण देखकर देवता प्रसन्न हुआ और दो कुण्डलों की जोड़ी देकर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में चला गया ॥10॥

नमि राजर्षि ने चारित्र ग्रहण किया और भाग में आकर ठहरे। इन्द्र उनकी परीक्षा करने के लिए आया कि वे किस प्रकार बोलते हैं ॥11॥

तुम्हारी मिथिला नगरी जल रही है। एक बार तुम उसकी ओर देखो। जलते हुए अंतःपुर को यों ही छोड़ रहे हो, यह तुम्हारे लिए ठीक नहीं है ॥12॥

तूने सोर तपार में सुख का प्रादुर्भाव किया और अपने पुत्र-रत्नों को बिलखते देख रहा है। यदि तू दया पालने के लिए ही खड़ा हुआ है तो इनका यत्न क्यों नहीं करता ॥13॥

नमि राजर्षि ने कहा—मैं सुख में वसता हूं, सुख में जीता हूं। मेरा पल-पल सफल जा रहा है। मिथिला नगरी जल रही है, पर मेरा उसमें कुछ भी नहीं जल रहा है ॥14॥

मुझे मिथिला नगरी के रहने में कोई हर्ष नहीं है और उसके जलने में जरा भी शोक नहीं है। मैंने सावध्य समझकर जिसे छोड़ दिया, उसका रहना या जलना मैं कुछ नहीं चाहता ॥15॥

नमि राजर्षि ने मोह अनुकम्पा नहीं की। समभाव रखते हुए आठ कर्मों का नाश कर वे मुक्ति में चले गये ॥16॥

श्रीकृष्ण के बंधु गजसुकुमाल ने दीक्षा लेकर कायेत्सर्ग किया। उस समय सेमिल ब्रह्मप वहं पर आया। उसने मुनि के मस्तक पर मिट्टी की कगार बंधी और उसमें जलते हुए अंगारे भर दिये। मुनि को अत्यन्त कष्ट हुआ। नेमिनाथ भगवान ने वहं जरा भी अनुकम्पा नहीं की ॥17-18॥

नेमिनाथ प्रभु जानते थे, गजसुकुमाल मुनि की घात हो जाएगी, किन्तु उन्होंने अनुकम्पा करके उनके साथ साधुओं को नहीं भेजा ॥19॥

श्री वीर जिनंद चोबीसमां, कल्पातीत मोटा अणगार रे।

त्यांनै देव मनुष्य तिर्यञ्च नां, उपसर्ग उपना अपार रे ।20॥

संगम देवता भगवंत नै, दुःख दीधा अनेक प्रकार रे।

अनारज लोकां पिण वीर नै, स्वानादिक दीधा लार रे ।21॥

चउसठ इन्द्र महोत्सव आविया, दीक्षा दिन भेला होय रे।

पिण कष्ट पड़्या भगवान नै, नायो उपसर्ग टालण कोय रे ।22॥

दुःख देता देखी जगनाथ नै, किण अलगा न कीषो आय रे।

समदिष्टी देव हुंता घणा, त्यां करुणा न आणी कांय रे ।23॥

देवता जाण्यो श्री भगवान नै, उदे आया दीसै छै कर्म रे।

अनुकम्पा आण बिचै पड़्या, ए जिण भाष्यो नहीं धर्म रे ।24॥

धर्म हुवै तो आषो नहीं काढ़ता, बले वीर नै दुखिया जाण रे।

परिषह देवण आवै तेहने, देव अलगो करता ताण रे ।25॥

मच्छगलागल मण्ड रही, द्वीप समुद्रां मांय रे।

भगवंत कहै जो इन्द्र ने, तो थोड़ा में देवे मिटाय रे।26॥

पड़ती जाणे अंतराय नै, तो अचित्त खवावत पूर रे।

एहवी शक्ति घणी छै इन्द्रनीं, पिण कर्म न हुवे दूर रे ।27॥

चूलनीपिया नै पोसा मड़े, देव दीधा छै दुःख आय रे।

कुण कुण हलाल तिण में किवा, ते सांभलज्यो चित्त ल्याय रे ।28॥

तीन बेटां रा नव सूला किया, तिणरा मूढा आगे लाय रे।

तेल उकाल नै मांहे तल्या, बल-बलता सू छांटी काय रे ।29॥

सम परिषामं वेदना सही, जाणी अपर संन्या कर्म रे।

अनुकम्प न अपी अंगजात रे, तिण छेड़्या नहीं जिन धर्म रे ।30॥

मत मारण रे कद्धो नहीं, ते तो जाणी सावध वाय रे।

करुणा न आणी मरता देखनै, सेठों रद्धो धर्म ध्यान ध्यान रे ।31॥

चौबीसवै तीर्थकर जो जिनकल्पी और महा अणगार थे, उन्हें देवता, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी अपार उपसर्ग हुए ।20॥

संगम देवता ने भगवान को अनेक प्रकार के कष्ट दिया। अनार्य लोगों ने भी भगवान के पीछे कुत्ते लगाए ।21॥

दीक्षा-महोत्सव में चौसठ इन्द्र आये पर भगवान को जब कष्ट पड़ा तो उपसर्ग टालने के लिए कोई नहीं आया ।22॥

सम्यग् दृष्टि देव भी बहुत थे, पर उन्होंने भी कोई करुणा नहीं दिखाई। किसी ने आकर दुःख देने के लिए कोई नहीं आया ।23॥

देवों ने जाना, भगवान महावीर के अभी कर्मोदय है। अनुकम्पा के नाम पर बीच में पड़ना जिन-भाषित धर्म नहीं है।24॥

यदि धर्म होता तो भगवान महावीर को दुःखी देखकर जरा भी विलम्ब न करते और परिषह देने वालों को अलग कर देते ।25॥

सभी द्वीप और समुद्रों में मच्छगलागल लग रही है अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को खा रहा है। भगवान यदि इन्द्र से कहें तो वह सब थोड़े में ही मिटा सकता है ।26॥

यदि ऐसा करने में जीवों के आहारान्तराय होने लगती तो शक्तिशाली इन्द्र उन्हें अचित्त आहार खिला देता पर ऐसा करने से कर्मों का नाश नहीं होता ।27॥

चूलनीपिता श्रावक को पोषध-व्रत में देवता ने आकर कष्ट दिया। उसने क्या कुछ किया, उसका यहां वर्णन किया जाता है ।28॥

चूलनीपिता के सामने आकर उसके तीन पुत्रों के नव टुकड़े किये। उन्हें तेल में तला। उस गर्म तेल से चूलनीपिता के शरीर को छांटा ।29॥

कृत कर्मों का भोग समझकर समतापूर्वक वह कष्ट उसने सहा। उसने पुत्रों की अनुकम्पा नहीं की और जितेश्वर देव का धर्म नहीं छोड़ा।30॥

सावध भाषा समझकर उसने मत मार, ऐसा भी नहीं कहा। पुत्रों को मरते देखकर भी उसे करुणा नहीं आई। धर्म-ध्यान में लीन होकर दुढ़ रहा ।31॥

जो तू धर्म न छोड़सी, तो थारे देव गुरु जिम छै माय रे।
तिणने मारूं विष आगली, थारा मुहड़ा आगे ल्याय रे ।।32।।

जद आरत ध्यान तू ध्यायनै, पड़सी माठी गति में जाय रे।
सुणनै चुलणीपिया चल गयो, माय राखण करै उपाय रे ।।33।।

यो तो पुरुष अनारज कहै जिसो, झल राखूं ज्युं न करे घात रे।
ये तो भद्रा बचावण ऊठियो, इणरे थांभो आयो हाथ रे ।।34।।

अनुकम्मा आणी जननी तणी, तो भांज्या व्रत नै नेम रे।
देखो मोह अनुकम्मा एहवी, तिण में धर्म कहीजे केम रे ।।35।।

चुलणीपिया सुरादेव ना, चुलसतक नै सकडाल रे।
च्यारा रा मास्या डीकरा, देव तलया तेल उकाल रे ।।36।।
बेटा नै मरता देखियो, नाणी मोह अनुकम्मा प्रेम रे।
उद्या मात त्रियादिक राखवा, भांगा व्रत नै नेम रे ।।37।।

मात्रियादिक राखवा, भांज्या व्रत नै बंध्या कर्म रे।
साधु बिचे पायां थकां, यांनै किण विष होसी धर्म रे ।।38।।

चेड़ा नै कोणिक री बारता, निरावलिका भगवती शाख रे।
नव मुंवा दोय संग्राम में, एक कोड़ नै असी लाख रे ।।39।।

भगवंत अनुकम्मा आण नै, पोते न गया न मेल्या साध रे।
दोनां नै पहिला पिण वर्ज्या नहीं, घणा जीवा री जाण विराध रे ।।40।।

दया अनुकम्मा जाणता, तो वीर बडाले जाय रे।
लारे साता वपरावता, थोड़ा में देता चुकाय रे ।।41।।

कोणि भगत भगवान रो, चेड़ो बारे व्रत धार रे।
इन्द्र भीड़ आया ते समकिती, ए किण विष लोपता कार रे ।।42।।

ज्ञान दर्शन चारित्र मांहिलो, बधतो जाणे किणरे उपाय रे।
तो करे अनुकम्मा भवि जीवरो, वीर बिना बुलाया जाय रे ।।43।।

समुद्रपाल सुखां में झिल रह्यो, संसार विषे रस लाग रे।
चोर नै मारतो देखी उपनो, उतकष्टो परम वैराग रे ।।44।।

जो तू अपना धर्म नहीं छोड़ता तो देवगुरु के तुल्य
तुम्हारी माता को तुम्हारे सामने लाकर इसी प्रकार मारूंगा
।।32।।

तब तू आर्धध्यान में होकर दुर्गति को प्राप्त होगा। यह
सुनकर चुलनीपिता विचलित हो गया और अपनी माता
के संरक्षण का उपाय करने लगा ।।33।।

यह अनार्य पुरुष है। इसे अभी मैं पकड़ूँ ताकि मेरी
माता को वह न मार सके। माता भद्रा को बचाने के
लिए चला तो उसके हाथ में खंभा आ गया ।।34।।

माता की अनुकम्मा आई तो उसके नियम व व्रत भंग
हो गए। ऐसी मोह अनुकम्मा में धर्म कैसे कहा जा
सकता है? ।।35।।

चुलनीपिता, सुरादेव, चुलसतक और शकडाल इन चारों
के पुत्रों को देवता नै तेल में उबालकर उसमें तला।
पुत्रों को मरते देखा, पर मोह अनुकम्मा नहीं। माता, स्त्री
आदि को बचाने के लिए उठे तो नियम व व्रत भंग हो
गए ।।36-37।।

माता, स्त्री आदि की रक्षा करने में नियम भंग हुए और
कर्मबंध हुआ तो साधु यदि बीच में आ पड़े तो धर्म
कैसे होगा? ।।38।।

चेटक और कोणिक का कुलान्त निरावलिका व भगवती
सूत्र में आया है। दो युद्धों में एक करोड़ अस्सी लाख
मनुष्य मरे ।।39।।

भगवान महावीर अनुकम्मा करके न स्वयं गए, न अपने
साधुओं को भेजा। और उन दोनों को बहुत जीवों की
हिंसा समझकर पहले भी नहीं रोका ।।40।।

इस कार्य को यदि भगवान दयारूप समझे तो स्वयं
आगे होकर जाते और थोड़े में ही सबको सुखी कर
देते ।।41।।

कोणिक भगवान का भक्त था औश्र चेटक बारह व्रतधारी
श्रावक। इन्द्र जो सहयोग में आया, वह भी सम्यक्त्व था।
ये सब भगवान के इंगित का लंघन कैसे करते? ।।42।।

किसी का ज्ञान, दर्शन, चारित्र, रूप प्रयत्न बढ़ता हो तो
भगवान बिना बुलाए जाकर भव्य जीवों की अनुकम्मा
करते ।।43।।

समुद्रपाल सुखों में डूल रहा था। सांसारिक विषयों में
उसकी लगन लगी थी। चोर को मारे जाते देखकर
उसको परम वैराग्य उत्पन्न हुआ ।।44।।

चरित्र लियो कर्म काटवा, जाण्यो मोक्ष तणो उपाय रे
पिण करुणा न आणी चोर नी, छोड़ावण री न काढ़ी वाय रे ॥45॥

साध श्रावक रे एक रीत छै, तुमें जीवो सूतर रो न्याय रे।
देखो अंतर मांहे विचार नै, कूड़ी कांय करो वकवाय रे ॥46॥

द्वल: 4

नोडो भरियो छै डेडक माछला, मांहे नीलण फूलण रा पूर हो।
लट फूहांरा आदि जलोक सुं, तस थावर भरिया अरूर हो।
भविकजन करज्यो पासखा जिन धर्म री ॥1॥

सुलिया धान तणो ढिगलो पड़यो, मांहे लयने ईल्यां अथाय हो।
सुलसल्या इंडादिक अति घणा, किल-बिल करे तिण मांय हो ॥2॥

एक गाडो भर्यो जमीकंद सुं, तिण में जीव घणा छै अनंत हो।
चार पर्याय चार प्राण छै, मार्या कष्ट कट्यो भगवंत हो ॥3॥

काचा पराणी तणा माय भर्या, घणा जीव छै अणगल नीर हो।
नीलण फूलण आद लय घणी, त्यांमें अनंत बताया वीर हो ॥4॥

खात भीनो उकरड़ी लय घणी, गींडोला गवईया जाण हो।
टल-बल-टल-बल कर रखा, याने कर्मा न्हांख्या छै आण हो ॥5॥

कोइक जायगां में उंदर घणा, फिरै आमा नै साहमां अथाग हो।
थोड़ा सो खड़को सांभलै, तो जय दिशोदिश भाग हो ॥6॥

गुड़ खांड आदि मिष्टान में, जीव चिहुं दिश दौड्या जाय हो।
माख्यां नै माका फिर रखा, ते तो हुचके मांहे मां आय हो ॥7॥

नाडो फखी नै आवे भैंसीयां, धान ढूके बकरा आय हो।
गाडे आवे बलद पाधरा, माटे आय उभी छै गाय हो ॥8॥
फंखी चुगे उकरड़ी ऊपरै, ऊंदर पासे मिनकी जाय हो।
माख्यां नै माका पकड़ ले, साधु किणनै बचावै छोड़ाय हो ॥9॥

भैंसा हाकल्यां नाडा मांहिला, सगला जीवां रे साता थाय हो।
बकरां नै अलगा कियों, इंडादिक जीव बच जाय हो ॥10॥

कर्म-नाश करने के लिए मोक्षोपाय समझकर चरित्र ग्रहण किया, किन्तु चोर की करुणा करके उसे छोड़ने की बात मुख से नहीं कही ॥45॥

साधु श्रावक की एक रीति है। सूत्रोक्त न्याय को समझे। अंतरंग में विचार कर देखो। मिथ्या प्रलाप मत करो ॥46॥

अर्थ

छोटा तालाब मँढ़क व मछलियों से भरा है, उसमें भरपूर नीलण-फूलण जमी है और वह लट, पुअरा (फूहरा), जलोक आदि त्रस प्राणियों से ठसाठस भरा है। ... हे भव्य जीवों! जिनेश्वर देव के धर्म की परीक्षा करनी चाहिए ॥1॥

सड़े हुए धान का ढेर लगा है। उसमें अथाग इली, लट आदि प्राणी भरे हैं। सुलसुले, अण्डे आदि अति मात्रा में बिलबिलाहट कर रहे हैं ॥2॥

एक गाड़ी जमीकंद से भरी है, जिसमें कि अनंत जीव होते ही हैं। उन जीवों के चार पर्याय व चार प्राण होते हैं और भगवद्-वचन के अनुसार उन्हें मारने से उनको बच होता है ॥3॥

सचित्त पानी के मटके भरे हैं। अनछाना पानी है और उसमें बहुत सारे जीव हैं। लट और नीलण-फूलण बहुत है, जिस नीलण-फूलण में भगवान ने अनंत जीव बतलाए हैं ॥4॥

कूड़े-करकट का ढेर जमा है। खाद गीली हो रही है। गिण्डोला, गधिया आदि जीव अपने कर्मों का फल भोगते हुए टलबल-टलबल कर रहे हैं ॥5॥

किसी स्थान में चूहें बहुत हैं। इधर-उधर दौड़ लगाते हैं। थोड़ा-सा शब्द सुनते ही चारों ओर दौड़ जाते हैं ॥6॥

गुड़ खांड आदि मिष्टान में चारों ओर से जीव दौड़े आ रहे हैं। छोटी-बड़ी मक्खियां व मक्खे फिर रहे हैं और वे परस्पर एक-दूसरे पर उछलते हैं ॥7॥

तालाब को देखकर भैंसे आती हैं। धान्य के ऊपर बकरे आते हैं। गाड़ी पर बैल सीधे आते हैं। मटकी पर गाय खड़ी है। फखी कूड़े के ढेर पर चुग रहे हैं। चूहों के पीछे बिल्ली जा रही है। मक्खियों को मक्खे पकड़ रहे हैं। साधु किसे बचाये, किसे छुड़ाए? ॥8-9॥

भैंसों को हांक देने से तालाब में रहे सब जीवों के साता हो जाती है। बकरों को अलग कर देने से अण्डादि जीव बच जाते हैं ॥10॥

थोड़ा-सा बलदां नै हाकल्यां, तो न मेरे अनंतीकाय हो।
पाणी फूं हारादिक किणविष मरै, नेड़ी आवण न दे गाय हो ॥11॥

लट गींढोलादिक कुशले रहे, जो पंखी नै देवै उडाय हो।
मिनकी छिछकार न्हसाड़दे तो उंदर घर सोग न थाय हो ॥12॥

माता नै आगा-पाछा करै, तो माखी उड़ न्हाठी जाय हो।
साथां रे सगला सारिखा, ते तो बिचै न पड़ै जाय हो ॥13॥

मिनकी धाकल उंदर बचाय ले, माखी राखे माका नै धिकाय हो।
और मरता देख राखे नहीं, यां में चूक पड़ी ते बताय हो ॥14॥

साधु पीहर बाजै छकाय नां, एक छोडावै तसकाय हो।
पांच काय मरती राखे नहीं, तो पीहर किणविष थाय हो ॥15॥

रजोहरण लेइनें ऊठिया, जेरीदावै दिया छोड़ाय हो।
ज्ञान दर्शन चारित्र मांहिलो, यांरे बधियो ते मोय बताय हो ॥16॥

ज्ञान दर्शन चारित्र बिना, और मुक्ति रो नहि उपाय हो।
छोड़ा-मेला उपगार संसार नां, तिणथी शुद्धगति किणविष जाय हो ॥17॥

जितरा उपगार संसार नां, ते तो सगलाई सावद्य जाण हो।
श्री जिनधर्म में आवै नहीं, कूड़ी म करो ताण हो ॥18॥

अज्ञानी रो ज्ञानी किया थकां, हुवै निश्चै पेलारो उधार हो।
कीयो मिथ्यातीरो समगती, तिण ताया भव पार हो ॥19॥

असंजती नौ किया संजती, ते तो मोक्ष तणा दलाल हो।
तपसी कर पार पहुँचावियो, तिण मेट्या सर्व हवाल हो ॥20॥

ज्ञान दर्शन चारित्र नै तप, यांरो करै कोई उपगार हो।
आ तिरै पेलो उद्धरै, दोयां रो खेवो पार हो ॥21॥

ए चार उपगार छै मोटका, तिण में निश्चै जाणी धर्म हो।
शेष रद्धा काम संसार नां, तिण कीषां बंधसी कर्म हो ॥22॥

बैलों को थोड़ा-सा ललकार देने से अनंत काय बच जाती है और गाय को नजदीक न आने दिया जाए तो पानी-फूहरादिक की हिंसा कैसे हो सकती है ॥11॥

यदि पक्षियों को उड़ा दिया जाए तो लट-गिंढोला आदि प्राणी कुशल रह सकते हैं। यदि बिल्ली को छिछकार करके भगा दिया जाए तो चूहों के घर में शोक न हो ॥12॥

यदि मक्खों को झर-झर कर दिया जाय तो अन्य मक्खियां उड़कर भाग सकती हैं। साधु के लिए तो सभी प्राणी समान हैं। वे किसी के बीच में नहीं पड़ते ॥13॥

बिल्ली को ललकार कर चूहे बचा लेते हैं, मक्खों को ढकेल कर मक्खी को बचा लेते हैं, पर उक्त प्रकार के जीवों को बचाने का प्रयत्न नहीं करते उन जीवों का क्या अपराध है, यह तो बताना चाहिए ॥14॥

साधु छव काय के रखक कहलाते हैं और केवल त्रसकाय को छोड़ाते हैं। शेष पांच कायों को नहीं बचाते तो वे छव काय के रखक कैसे रहें? ॥15॥

रजोहरण (आवा) हाथ में लेकर साधु खड़ा हुआ और बलात्कारपूर्वक किसी प्राणी को छोड़ा। ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों में से उसके कौन-से गुण की वृद्धि हुई, यह कोई मुझसे बताए ॥16॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र के बिना कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। छोड़ना, रखना आदि सांसारिक उपकार हैं। उससे शुभ गति कैसे मिल सकती है? ॥17॥

जितने सांसारिक उपकार हैं, वे सभी सावद्य हैं। वे जिनेश्वर देव के धर्म में नहीं आते। व्यर्थ आग्रह क्यों किया जा रहा है ॥18॥

अज्ञानी से किसी को ज्ञानी किया जाता है तो निश्चित ही उसका उद्धार होता है। मिथ्यात्वी से किसी को सम्यक्त्वो किया जाता है तो वह उसे संसार-संस्तु से पार करता है ॥19॥

असंयती को संयती कर दिया तो करने वाला मोक्ष का दलाल हो जाता है। किसी को तपस्वी बनाकर संसार-संस्तु से पार लगा दिया, उसने तो उसका सारा जंजाल ही मेट दिया ॥20॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों के सम्बन्ध से जो उपकार करता है, वह स्वयं तर जाता है और अगले का भी उद्धार हो जाता है ॥21॥

ये चर प्रकार के उपकार प्रमुख हैं। ठनमें निश्चित प्रकार से ही धर्म हैं। शेष सांसारिक कार्य हैं, जिनके करने से कर्म-बंध होता है ॥22॥

एक चोर चोर धन पार को, बले दूजो हो चोरावै आगैवाण।
तीस्रो कोई करै अनुमोदनां, ए तीनां रा हो खोटा किरतब जाण।
भविजीवों तुम जिन धर्म ओलखा ॥1॥

एक जीव हणै तसकाय ना, हणावै हो दूजो पर ना प्राण।
तीजो पिण हर्षे मारियां, ए तीनई हो जीव हिंसक जाण ॥2॥

एक कुशील सेवै हरथो थको, सेवावै हो ते तो दूजे करण जोया
तीजो पिण भलो जाणै सेवियां, ए तीनां रे हो कर्म तपो बंध होय ॥3॥

ए सगलां नै सतगुरु मिल्या, प्रतिबोध्या हो आप्या मार्ग ठाया
किण-किण जीवां नै साधां उद्धर्या, तिणरो सुणज्यो हो विवरण सुख
न्याय ॥4॥

चोर हिंसक नै कुशीलिया, यारै ताई हो साधां दियो उपदेश।
त्यानै सावध रा निरवध किया, एहवो छै हो जिन धर्म दया रैस ॥5॥

ज्ञान दर्शन चारित्र तीनू तपो, साधां कीधो हो जिण थो उपगार।
ते तो तिरण-तारण हुवा तेहनां, उतार्या हो संसार थो पाप ॥6॥

ए तो चोर तीनू समझ्या थकां, धन रद्धो हो घणां रै कुशले खेमा
हिंसक तीनू प्रतिबोधियां, जीव बचिया हो कीधो मारण रो भेमा ॥7॥

शील आदरियो तेहथी, अस्त्री पड़ी हो कूवा में जापा
यांरो पाप धर्म नहीं साधु नै, रद्धा मुंवा हो तीनू अन्नत मांय ॥8॥

धन रे धपी राजे हुवो धन रद्धा, जीव बचिया हो ते पिण हरषित थया
साधु-तिरण तारण नहीं तेहनां, तारी नै पिण हो नहि डबोई आय ॥9॥

केइ मूढ़ मिथ्याती इम कहै, जीव बचिया हो धन रद्धो ते धर्मा
तो उणरो श्रद्धा रे लेखै, अस्त्री मुई हो तिणरा लागै कर्म ॥10॥

जीव जीवै ते दया नहीं, मरै तो हो हिंसा मत जाण।
मारण वाला नै हिंसा कही, नहीं मरै हो तो दया गुण खाण ॥11॥

नींव अंवादिक वृक्ष नो, किण हो कीधो हो बाढण रो नेमा
अन्नत घटी तिण जीव रै, वृक्ष ऊभो हो तिणरो धर्म केम? ॥12॥

एक चोर दूसरे के धन को चुराता है। दूसरा आगे
होकर चुरवाता है। तीसरा व्यक्ति उसका अनुमोदन करता
है। इन तीनों के ही कर्तव्य बुरे हैं ... हे भव्य जीवों
जैनधर्म की पहचान करो ॥1॥

एक त्रसकाय जीवों की हिंसा करता है। दूसरा त्रसकाय
जीवों की हिंसा करवाता है। तीसरा मरते जानकर हर्षित
होता है। इस प्रकार ये तीनों ही व्यक्ति हिंसक हैं ॥2॥

एक व्यक्ति सहर्ष कुशील सेवन करता है। दूसरा सेवन
करवाता है। तीसरा उसका अनुमोदन करता है। इन तीनों
के ही कर्मों का बंधन होता है ॥3॥

इन सब व्यक्तियों को सगुरु मिले और प्रतिबोध देकर
मार्ग लगाया। किन-किन व्यक्तियों का साधुओं ने उद्धार
किया, विवरण सहित उनका न्याय सुने ॥4॥

चोर, हिंसक और अधिचारी इन तीनों को साधुओं ने
उपदेश दिया, उन्हें पाप से धर्म में प्रवृत्त किया, यही
जिनेश्वर के अनुकम्पा धर्म का रहस्य है ॥5॥

ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तत्त्वों के रूप में साधुओं ने
उनके प्रति उपकार किया, ये स्वयं तरने वाले और दूसरों
को तारने वाले हुए उनको संसार सिंधु से पार उतारा ॥6॥

तीनों प्रकार के चोर समझ जाने से मालिक का धन
सकुशल रहा। तीनों प्रकार के हिंसकों को प्रतिबोध देने से
उन्होंने हिंसा का त्याग कर लिया, जिससे जीव बच गये ॥7॥

शील-व्रत स्वीकार किया, उससे स्त्री कुएं में जा पड़ी।
इन सबका पाप या धर्म साधु को नहीं है। जीवित रहे
या मरे, तीनों अन्नत में है ॥8॥

धनवान धन रहने से खुश हुआ। जो जीव बचे वे भी
हर्षित हुए। साधु न तो उन दोनों के तारक है और न
उस स्त्री को भी डुबोने वाले ॥9॥

कुछ मूर्ख मिथ्यात्वी ऐसा कहते हैं—जीव बचे और धन
रहा, यह धर्म है। यदि ऐसा है तो उनके कथनानुसार जो
स्त्री मर गई, उसका पाप भी साधु को लगना चाहिए ॥10॥

जीव अपने सहज स्वभाव से जीते हैं, यह दया नहीं
है। सहज स्वभाव से मरते हैं, वह हिंसा नहीं। मारने
वाले को हिंसा लगती है, जो नहीं मारता है, वह
दयावान् है ॥11॥

किसी ने नियम लिया—मैं आम, नीम आदि वृक्षों को
नहीं काटूंगा। उस व्यक्ति के अन्नत घटी, पर वृक्ष जो
खड़ा है, उसका धर्म कैसे हुआ? ॥12॥

सर द्रह तलाब शोषण तणा, सूत लेई हो मेद्या आवता कर्मी
सर द्रह तलाब भर्या रहै, तिण मांहि हो नहीं जिनजी रो धर्म ॥13॥

लाडू, घेवर आदि पकवान नै, खाणा छोड़या हो आतम आणी ठाया
वैराग बध्यो तिण जीव रै, लाडू रह्या हो तिणरो धर्म न थाय ॥14॥

दव हेवो नै गाम जलायवो, इत्यादिक हो सावध्य कारज अनेका
ए सर्व छोड़ावै समझय नै, सगलां रो हो विधि विधि जाणो तुम्हें
एक ॥15॥

हिवै केइक अज्ञानी हम कहै, छ काय काजे हो छां छां धर्म
उपदेश।

एकण जीव नै समझवयां, मिट जावै हो घणा जीवरो क्लेश ॥16॥

छ काय धरै साता हुई, एहवो भाषै हो अन्यतीर्थी धर्म।
त्यां भेद न पायो जिन धर्म नौ, ते तो भूला हो उदे आयो मोह
कर्म ॥17॥

हिवै साधु कहै तुम्हें सांभलो, छ काया रे हो साता किणविव थाया
शुभ अशुभ बांध्या ते भोगवै, नहीं पाम्यो हो त्यां मुगत उपाय ॥18॥

हणवा सूस किया छ काय न, तिणरै टलिया हो मेला अशुभ कर्म
पापा।

ज्ञानी जाणै साता हुई तेहनै, मिट गया हो जन्म-जन्म संताप ॥19॥

साधु तिरण तारण हुवा तेहनां, सिद्ध गति में हो मेल्या अविचल
ठाम।

छ काय लारै झिलती रही, नहीं लीझै हो तिणरो आतम काम ॥20॥

आगै अरिहंत अनंता हुवा, कहितां हो कदे नावै त्यांरो पार।

आप तिर्या ओरां न तारिया, छ काय रे हो साता न हुई
लिगार ॥21॥

एक पोते बध्यो मरवा थकी, दूजै कीचो हो तिणरै जीवण रो उपाय।
तीजो तिण हरथ्यो उण जीवियां, यां तीनां में हो शुद्ध गति कुण
जाय ॥22॥

कुशले रह्यो तिणरे अन्नत घटी नहीं, तो दूजा ने हो तुम्हें जाणज्यो
एसा।

भलो जाणै तिणरे त्रत न नीपनै, ए तीनूई हो शुद्ध गति जासी
केम? ॥23॥

सरोवर, द्रह और तालाब आदि सुखाने का त्याग किसी
व्यक्ति ने लिया। सर, द्रह, तालाब भरे रहे, इसमें
जिनेश्वर देव का धर्म नहीं है ॥13॥

लड्डू, घेवर आदि मिठाई खाने का त्याग किया। अपने
अपनी आत्मा को वश करके रखा। उस व्यक्ति का
वैराग्य बढ़ा, पर जो लड्डू बच गए, वह धर्म नहीं ॥14॥
दावागि लगाना, गांवा जलाना आदि अनेकों सावध्य कार्य
हैं। इन सबको समझकर छोड़ा दे, यही उक्त सभी कार्यों
की एकमात्र विधि है ॥15॥

कुछेक अज्ञानी यह कहते हैं—छव काय जीवों की
साता के लिए हम उपदेश करते हैं। एक जीव को
समझ देने से बहुत सारे जीवों का क्लेश मिट जाता
है ॥16॥

अन्यतीर्थी ऐसा कहते हैं—ऐसा करने से छव काया के
जीवों के साता हो। ऐसा कहने वालों ने जैनधर्म का
भेद नहीं पाया। वे तो मोह कर्म के उदय से भूलभूलैया
में हैं ॥17॥

अन जो साधु कहते हैं वह सुनो। छवकाय जीवों के
साता कैसे होती है? वे अपने बंधे हुए शुभाशुभ भोगते
हैं। उनको मुक्ति का उपाय नहीं मिला है ॥18॥

किसी ने छव काय जीवों की हिंसा का त्याग किया।
उसके अशुभ कर्म टले। ज्ञानियों की दृष्टि से यही साता
है कि उसके जन्म-मरण के संताप मिट गए ॥19॥

साधु उसके तारक हुए, क्योंकि उन्होंने उसे अविचल
मोक्ष गति में पहुंचा दिया। छव काय के जीव तो संसार
में ही रहे, उनके आत्म-कार्य सिद्ध नहीं हुए ॥20॥

पूर्व काल में अनंत तीर्थंकर हुए, जिनका पार वाणी से
नहीं पाया जाता। वे स्वयं तिरै और उन्होंने दूसरों को
तारा, पर इससे षट्काय का क्या सुख स्यात् ॥21॥

एक आदमी मरने से अपने आप बचा। दूसरे ने उसे
जीवित रहने में सहयोग किया। तीसरा उसके जीने से
प्रसन्न हुआ। इन तीनों में कौन शुभ गति प्राप्त
होगा? ॥22॥

जो स्वयं सकुशल रहा, उसके कोई अन्नत घटी नहीं।
दूसरे को भी यही स्थिति समझनी चाहिए। जिसने भला
जाना उसके भी कोई त्रत निष्पन्न नहीं हुआ। ये तीनों
शुद्ध गति को कैसे प्राप्त होंगे? ॥23॥

जीविया जीवायां भलो जाणियां, ए तीनों हो करण सरीषा जाण।
कोई चतुर होसी ते पखसी, अणसमझू हो करै ताणा-ताणा।24॥

छ काया रो बाँछै मरणो जीवणो, ते तो रहसी हो संसार मझरा।
ज्ञान दर्शन चारित्र तप भला, आदरियां हो अंदराया खेवो पार।25॥

जो जीता है, जो जिलाता है और जो भला जानता है,
ये तीनों करण एक समान हैं। जो चतुर होंगे, वे इस
बात को समझ लेंगे, जो अज्ञानी होंगे वे खींचतान
करेंगे।24॥

जो षट्कायिक जीवों का जीना मरना चाहता है, वह
संसार में परिभ्रमण करेगा। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि
स्वयं ग्रहण करने से व दूसरों को करवाने से ही बेटा
पार होगा।25॥

15.11 सारांश - अस्तु करुणा स्वरूप व्यक्ति एवं स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक है।

15.12 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सावध और निरवध करुणा के भेद पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में दें—

- अ. क्या हिंसा की प्रवृत्ति में भाव शुद्ध हो सकते हैं? स्पष्ट करें।
ब. स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए आवश्यक तत्वों पर प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर कोष्ठक में लिखें—

- प्रत्येक प्राणी का स्वभाव है—अ. अहंकार ब. करुणा स. क्रूरता द. भय
- भगवान महावीर की वाणी में मां की तरह सबका हित करने वाली है—अ. अहिंसा, ब. विनम्रता, स. अभय, द. संयम
- जैनधर्म में गृहस्थ के लिए जिस धर्म का विधान किया गया है, वह है—अ. अनगार-धर्म, ब. संयम धर्म, स. अगार धर्म, द. इनमें से कोई नहीं
- ‘भिक्षु विचार दर्शन’ पुस्तक के लेखक हैं—अ. आचार्य तुलसी, ब. आचार्य विद्यानन्द, स. आचार्य कालूराणी, द. आचार्य महाप्रज्ञ
- सम्यक् दर्शन के घनी जीव के 5 लक्षण हैं—अ. शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य ब. सम, आवेग, दम, मनन, क्षाभ स. राग, मोह, आसक्ति, तटस्थता, क्षोभ द. उपर्युक्त में कोई नहीं।
- अरिष्टनेमि को वैगन्य हुआ—अ. बहेलिये के द्वारा क्राँच पक्षी का वध करते देखकर, ब. विवाह के अवसर पर पशु-पक्षियों का करुण-क्रन्दन सुनकर, स. एक व्यक्ति की हत्या का दृश्य देखकर, द. उपर्युक्त में से कोई नहीं
- आत्म-पवित्रता के लिए आवश्यक है—अ. समस्त जीवों को अभय देना, ब. समस्त जीवों को भय देना, स. समस्त जीवों को प्रेरित करना, द. उपर्युक्त में से कोई नहीं।
- ‘बड़ों के लिए छोटी की हिंसा, हिंसा नहीं’ इस मान्यता को अस्वीकार किया है—अ. विवेकानन्द ने, ब. आचार्य भिक्षु ने, स. गांधी ने, द. उपर्युक्त में से कोई नहीं।
- आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् वाक्य किस ग्रंथ का है—अ. गीता, ब. आप्तमीमांसा, स. तत्त्वार्थ सूत्र, द. प्रमाण मीमांसा
- सही शिक्षा वह है—अ. जो लोगों को तटस्थ बनाये, ब. जो लोगों को रागरहित बनाये, स. जो लोगों को करुणशील बनाये, द. इनमें से कोई नहीं।



संवर्ग-8 : श्रमणाचार

इकाई-16 : श्रमणाचार : पञ्च महाव्रत, गुप्ति, समिति

संरचना

- 16.0 प्रस्तावना
- 16.1 उद्देश्य
- 16.2 जैन धर्मों श्रमण का तात्पर्य
- 16.3 जैन श्रमण का आचार
- 16.4 महाव्रत
- 16.5 समिति
- 16.6 गुप्ति
- 16.7 सारांश
- 16.8 अभ्यास प्रश्नावली

16.0 प्रस्तावना

प्रत्येक मनुष्य शाश्वत सुख का अभिलाषी होता है। शाश्वत सुख के लिये आध्यात्मिक विकास आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास आचार की शुद्धता के बिना संभव नहीं है। केवलज्ञान, केवलदर्शन आत्मा का स्वभाव है। आत्म स्वरूप की उपलब्धि के लिये 'आचार मार्ग' का अनुसरण अनिवार्य है। आचार मार्ग के जैन धर्म में दो विभाग हैं। प्रथम श्रावकाचार है। गृहस्थाश्रम में रहकर अहिंसा आदि व्रतों का अणुरूप में पालन करना श्रावकाचार है। द्वितीय श्रमणाचार या साध्व्याचार है। इसमें श्रमण को अहिंसा आदि महाव्रतों का अखण्डरूप से पालन करना अनिवार्य होता है।

16.1 उद्देश्य - प्रमुख चार का सम्यक् विवेचन प्रमुख उद्देश्य है।

16.2 जैन धर्म में श्रमण का तात्पर्य

जैन परम्परा में श्रमण जीवन का तात्पर्य पापविरति है। श्रमणजीवन में व्यक्ति को बाह्य रूप से समस्त पापकारी (हिंसक) प्रवृत्तियों से बचना होता है, साथ ही आन्तरिक रूप से उसे समस्त राग-द्वेषात्मक वृत्तियों से ऊपर उठना होता है। श्रमण जीवन का तात्पर्य श्रमण शब्द की व्याख्या से ही स्पष्ट हो जाता है। प्राकृत भाषा में श्रमण के लिए 'समण' शब्द का प्रयोग होता है। 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—1. श्रमण 2. समन और 3. शमन।

1. श्रमण शब्द श्रम् धातु से बना है। इसका अर्थ है परिश्रम या प्रयत्न करना अर्थात् जो व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिये परिश्रम करता है, वह श्रमण है। आज की बढ़ती हुई सुविधावादी मनोवृत्ति का परिष्कार श्रमणिष्ठान के संस्कारों से ही संभव है।
2. समन शब्द के मूल में सम् है, जिसका अर्थ है—समत्वभाव। समता जैन आचारशास्त्र का मूल तत्त्व है। जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह श्रमण कहलाता है।
3. शमन शब्द का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शांत रखना अथवा मन और इन्द्रियों पर संयम रखना। अतः जो व्यक्ति अपनी वृत्तियों को संयमित रखता है वह श्रमण है। श्रमण संस्कृति में उपशम की साधना को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

वस्तुतः जैन परम्परा में श्रमण शब्द का मूल तात्पर्य समत्वभाव की साधना ही है। भगवान् महावीर ने उत्तराख्ययन में कहा है कि कोई केवल मुंडित होने मात्र से श्रमण नहीं होता, वरन् जो समत्व की साधना करता है वह श्रमण होता है। सूत्रकृतांग में भी श्रमण जीवन की स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध है। वहां कहा गया है—जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता, किसी

प्राणी की हिंसा नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, मैथुन और परिग्रह के विकार से रहित होता है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्म आने के कारण और आत्म-पतन के हेतु हैं, सबसे निवृत्त रहता है। वह श्रमण कहलाता है।

16.2.1 जैन श्रमणों के प्रकार

जैन परम्परा में श्रमणों का वर्गीकरण उनके आचार-नियम तथा साधनात्मक योग्यता के आधार पर किया गया है। आचरण के नियमों के आधार पर श्वेताम्बर परम्परा में दो प्रकार के साधु माने गये हैं—1. जिनकल्पी और 2. स्थविर कल्पी।

जिनकल्पी मुनि सामान्यतया नन तथा पाणिपात्र होते हैं। वे एकाकी विहार करते हैं, जबकि स्थविर-कल्पी मुनि सवस्त्र, सपात्र एवं संघ में रहकर साधना करते हैं। स्थानांग सूत्र में साधनात्मक योग्यता के आधार पर श्रमणों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

1. **पुलाक**—मूलगुण तथा उत्तरगुण में परिपूर्णता प्राप्त न करते हुये भी वीतराग-प्रणीत आगम से कभी विचलित न होने वाला निर्ग्रन्थ।
2. **बकुश**—शरीर और उपकरण अर्थात् वस्तु के प्रति आसक्ति रखने वाला, यश-कीर्ति का अभिलाषी निर्ग्रन्थ।
3. **कुशील**—इसके दो प्रकार हैं—इन्द्रियों का वशवर्ती होने से उत्तरगुणों की विसाधनामूलक प्रवृत्ति करने वाला प्रतिसेवना-कुशील है और कभी भी तीव्र कषाय के वश न होकर कदाचित् मन्द कषाय के वशीभूत हो जाने वाला कषाय-कुशील है। ये सभी वास्तविक साधु जीवन से निम्न श्रेणी के साधक हैं।
4. **निर्ग्रन्थ**—सर्वज्ञता अर्थात् सब कुछ जानने की क्षमता न होने पर भी जिसमें राग-द्वेष का अत्यन्त अभाव हो और अन्तर्मुहूर्त के बाद ही सर्वज्ञता प्रकट होने वाली हो।
5. **स्नातक**—जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो। निर्ग्रन्थ और स्नातक ये दोनों उच्चकोटि के श्रमण हैं।

16.3 जैन श्रमण का आचार

जैन परम्परा में श्रमण जीवन की कुछ आवश्यक योग्यताएं मानी गई हैं जिन्हें मूलगुणों के नाम से जाना जाता है। दिगम्बर परम्परा के मूलाचार सूत्र 1/2-3 में श्रमण के 28 मूलगुण माने गये हैं।

पंचय महव्वयाई समिदीओ पंच जिणवरुद्धि।

पंचेर्विदियरोहा छण्णि य आवासया लोचो।

अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदतधंसणं चेव।

ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु।

1. **पांच महाव्रत**—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।
2. **पांच समिति**—ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान, प्रतिष्ठापनिका।
3. **पांच इन्द्रियनिग्रह**—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन का निग्रह।
4. **छह आवश्यक**—सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।
5. **सात अन्य मूलगुण**—लोच (केशलोच) आचेलक अर्थात् वस्त्र नहीं पहनना, अस्नान, अर्थात् स्नान नहीं करना क्षितिशयन, अर्थात् भूमि पर सोना, अदन्तघर्षण, अर्थात् दंतौन नहीं करना, स्थितिभोजन अर्थात् खड़े-खड़े भोजन करना और एकभक्त अर्थात् एक दिन में एक बार भोजन करना।

श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण के 27 मूलगुण माने गये हैं। श्वेताम्बर परम्परा का वर्गीकरण दिगम्बर परम्परा के वर्गीकरण से थोड़ा भिन्न है। श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार पर श्रमण के 27 मूलगुण इस प्रकार हैं—पांच महाव्रत, अरात्रिभोजन, पांच इन्द्रियों का संयम, चार कषाय का परित्याग, भाव सत्य, करण सत्य, योग सत्य, क्षमा, विरागता, मन, वचन और काया का निरोध, ज्ञान, दर्शन और चरित्र संपन्नता, मरणान्त कष्ट को सहन करना। इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्रचलित मूलगुणों में अन्तर स्पष्ट है।

16.4 महाव्रत

श्रम, तप और त्याग प्रधान श्रमण संस्कृति में आध्यात्मिक मूल्यों की गहरी प्रतिष्ठा है। आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिये व्रत, नियम आदि के पालन और मर्यादा से

अपने आचार को संवारना आवश्यक है। व्रत से तात्पर्य है— ‘हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्ब्रतम्’ अर्थात् हिंसा, अन्न (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्मचर्य (मैथुन) तथा परिग्रह से विरत होना। इस प्रकार हिंसा आदि पांच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य से इनके त्याग की प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उसका सेवन न करने को व्रत कहते हैं। ये पांचों व्रत गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिये विहित हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रमण जीवन में उनका पालन पूर्णरूप से करना होता है इसलिये वे महाव्रत कहलाते हैं। गृहस्थ जीवन में उनका पालन आंशिक रूप से होता है इसलिये उनके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। मूलगुणों के अन्तर्गत पांच महाव्रत श्रमण जीवन के मूलभूत गुणों में माने गये हैं। वे इस प्रकार हैं—1. सर्व प्राणातिपातविरमण (अहिंसा महाव्रत), 2. सर्व मृषावादविरमण (सत्य महाव्रत), 3. सर्व अदत्तादानविरमण (अचौर्य महाव्रत), 4. सर्व मैथुनविरमण (ब्रह्मचर्य महाव्रत), 5. सर्व परिग्रहविरमण (अपरिग्रह महाव्रत) श्रमण को इन पांचों महाव्रतों का पालन मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन इन 3x3 नव कोटियों सहित करना होता है। अर्थात् श्रमण किसी भी प्रकार की हिंसा, झूठ, चोरी आदि न स्वयं मन, वचन, काया से करता है, न करवाता है और न ही करने वाले का अनुमोदन अर्थात् यह ठीक है ऐसा कहता है।

16.4.1 सर्व प्राणातिपात विरमण (अहिंसा)

जैन धर्म में छः जीवनिकाय माने गये हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इन जीवनिकायों की हिंसा का नवकोटि-प्रत्याख्यान सर्व प्राणातिपात-विरमण महाव्रत कहलाता है। पृथ्वीकाय अर्थात् भूमि, अप्काय अर्थात् जल, तेजस्काय अर्थात् अग्नि, वायुकाय अर्थात् पवन, वनस्पतिकाय अर्थात् हरित और त्रसकाय अर्थात् द्वीन्द्रियादि प्राणी। महाव्रतधारी श्रमण का कर्तव्य है कि वह दिन में अथवा रात्रि में अकेले अथवा समूह में, सोते हुए अथवा जागते हुए भूमि, भित्ति, शिला, पत्थर, भूलियुक्त शरीर, वस्त्र आदि को हस्त, पाद, काष्ठ, अंगुली, शलाका आदि से न झाड़े, न पोंछे, न इधर-उधर हिलाये, न छेदन करे, न भेदन करे अपितु वस्त्रादि मृदु साधनों से सावधानीपूर्वक झाड़े-पोंछे। उदक, ओस, हिम, आर्द्र शरीर अथवा आर्द्र वस्त्र को न छुए, न सुखाए, न निचोड़े, न झटके, न अग्नि के पास रखे। अपने गीले शरीर आदि को सावधानीपूर्वक सुखाए अथवा सूखने दे। अग्नि, अंगार, चिनगारी, ज्वाला अथवा उल्का को न जलाये, न बुझाये, न हिलाये, न जल से शांत करे, न बिखरे। पंखे, पत्र, शाखा, वस्त्र, हस्त, मुख आदि से हवा न करे। बीज, अंकुर, पौधे, वृक्ष आदि पर पैर न रखे, न बैठे, न सोये। हाथ, पैर, सिर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, शय्या, संस्तारक आदि में कीट, पतंग, कुंथु, चींटी आदि दिखाई देने पर उन्हें सावधानीपूर्वक एकान्त में छोड़ दे। प्रत्येक जीव जीने की इच्छा करता है। कोई भी मरना नहीं चाहता। जिस प्रकार हमें अपना जीवन प्रिय है उसी प्रकार दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि प्राणवध का त्याग करते हैं। असावधानीपूर्वक बैठने, उठने, चलने, सोने, खाने, पीने, बोलने से पाप-कर्म बंधता है। इसलिए भिक्षु को समस्त क्रिया सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। जो जीव और अजीव को जानता है वही वस्तुतः संयम को जानता है। जीव और अजीव का जानने पर ही संयमी श्रमण जीवों की रक्षा कर सकता है। इसीलिए कहा गया है कि पहले ज्ञान होता है, फिर दया अर्थात् आचरण। जो संयमी ज्ञान-पूर्वक दया का आचरण करता है वही वस्तुतः दयाधर्म का पालन करता है। अज्ञानी न पुण्य-पाप को समझ सकता है, न धर्म-अधर्म को जान सकता है, न हिंसा-अहिंसा का विवेक कर सकता है।

प्राणातिपात-विरमण की सुरक्षा के लिए निम्नोक्त पांच भावनाएं हैं—

1. **ईर्याविषयक समिति**—गमनागमनसम्बन्धी सावधानी,
2. **मन की अपायकता**—मानसिक विकाररहितता,
3. **वचन की अपायकता**—वाणी की विशुद्धता,
4. **भाण्डोपकरणविषयक समिति**—पात्रादि उपकरणसम्बन्धी सावधानी,
5. **भक्तपानविषयक आलोकिकता**—खान-पान सम्बन्धी सचेतता।

ये एवं इसी प्रकार की अन्य प्रशस्त भावनाएं अहिंसाव्रत को सुदृढ़ एवं सुरक्षित करती हैं।

16.4.2 सर्व मृषावाद-विरमण (सत्य)

जिस प्रकार सर्वविस्त श्रमण जीवकाय की हिंसा का सर्वथा त्याग करता है उसी प्रकार वह मृषावाद से भी सर्वथा विस्त होता है। असत्य हिंसादि दोषों का जनक है, यह समझ कर वह कदापि असत्य वचन का प्रयोग नहीं करता। वह हमेशा निर्दोष, अकर्कश, असंदिग्ध वाणी बोलता है। क्रोध, मान, माया व लोभमूलक वचन तथा जान-बूझकर अथवा अज्ञानवश प्रयोग किये जाने वाले कठोर वचन अनार्य वचन हैं। ये दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं। श्रमण को संदिग्ध अथवा अनिश्चित दशा में निश्चय-वाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। सम्यक्तया निश्चय होने पर ही निश्चय-वाणी बोलनी चाहिए। सदोष, कठोर, जीवों को कष्ट पहुंचाने वाली भाषा भिक्षु न बोले। वह सत्य, मृदु, निर्दोष, अभूतोपघातिनी अर्थात् प्राणियों का घात न करने वाली भाषा काम में ले। सत्य होने पर भी अवज्ञासूचक शब्दों का प्रयोग न करे किन्तु सम्मानसूचक शब्द प्रयोग में ले। संक्षेप में कहा जाये तो सर्वविरति भिक्षु को क्रोधादि कषायों का परित्याग कर सम्भाव धारण कर विचार व विवेकपूर्वक संयमित सत्य भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

सत्यव्रत की पांच भावनाएं ये हैं—1. वाणीविवेक, 2. क्रोधत्याग, 3. लोभत्याग, 4. भयत्याग, 5. हास्यत्याग। वाणीविवेक अर्थात् सोच-समझकर भाषा का प्रयोग करना। क्रोधत्याग अर्थात् गुस्सा न करना। लोभत्याग अर्थात् लालच में न फंसना। भयत्याग अर्थात् निर्भीक रहना। हास्यत्याग अर्थात् हंसी-मजाक न करना। इनकी व इसी प्रकार की अन्य प्रशस्त भावनाओं से सत्यव्रत की रक्षा होती है।

16.4.3 सर्व अदत्तादान-विरमण (अचौर्य)

अदत्तादान से सर्वथा निवृत्ति लेने वाला श्रमण बिना दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता। वह बिना अनुमति के एक तिनका उठाना भी स्तेय अर्थात् चोरी समझता है। किसी की गिरी हुई, भूली हुई, रखी हुई अथवा अज्ञात स्वामी की वस्तु को छूना भी उसके लिए निषिद्ध है। आवश्यकता होने पर वह स्वामी की अनुमति से अर्थात् उपयुक्त व्यक्ति के देने पर ही किसी वस्तु को ग्रहण करता है अथवा उसका उपयोग करता है। जिस प्रकार वह स्वयं अदत्तादान का सेवन नहीं करता उसी प्रकार किसी से करवाता भी नहीं और करने-कराने वालों का समर्थन भी नहीं करता। अस्तेयव्रत की दृढ़ता एवं सुरक्षा के लिए पांच भावनाएं इस प्रकार बतलाई गई हैं—1. सोच-विचार कर वस्तु की याचना करना, 2. आचार्य आदि की अनुमति से भोजन करना, 3. परिमित पदार्थ स्वीकार करना, 4. पुनः-पुनः पदार्थों की मर्यादा करना, 5. साधर्मिक (साथी श्रमण) से परिमित वस्तुओं की याचना करना।

16.4.4 सर्व मैथुन-विरमण (ब्रह्मचर्य)

श्रमण के लिए मैथुन का पूर्ण त्याग अनिवार्य है। उसके मैथुनत्याग को सर्वमैथुन-विरमण कहा जाता है। उसके लिए मन, वचन एवं काय से मैथुन का सेवन करने, करवाने तथा अनुमोदन करने का निषेध है। इसे नव कोटि-ब्रह्मचर्य अथवा नवकोटि-शील कहते हैं। मैथुन को अधर्म का मूल तथा महादोषों का स्थान कहा गया है। इससे अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते हैं, हिंसादि दोषों और कलह, संघर्ष, विग्रह का जन्म होता है। यह सब समझकर निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन का सर्वथा त्याग करते हैं। जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से हमेशा डर रहता है, उसी प्रकार संयमी श्रमण को स्त्री के शरीर से एवं संयमी श्रमणी को पुरुष की काया से सदा भय रहता है। वे स्त्री-पुरुष के रूप, रंग, चित्र आदि देखना तथा गीत आदि सुनना भी पाप समझते हैं। यदि उस ओर दृष्टि चली भी जाय तो वे तुरन्त सावधान होकर अपनी दृष्टि को खींच लेते हैं। वे बाल, युवा एवं वृद्ध सभी प्रकार के नर-नारियों से दूर रहते हैं। इतना ही नहीं, वे किसी भी प्रकार के कामोत्तेजक अथवा इन्द्रियाकर्षक पदार्थ से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते।

ब्रह्मचर्यव्रत के पालन के लिए पांच भावनाएं निम्नोक्त रूप में बतलाई गई हैं—1. स्त्री-कथा न करना, 2. स्त्री के अंगों का अवलोकन न करना, 3. पूर्वानुभूत काम-क्रीड़ा आदि का स्मरण न करना, 4. मात्रा का अतिक्रमण कर भोजन न करना, 5. स्त्री आदि से सम्बद्ध स्थान में न रहना। जिस प्रकार श्रमण के लिए स्त्री-कथा आदि का निषेध है उसी प्रकार श्रमणी के लिए पुरुष-कथा आदि का प्रतिषेध है। ये एवं इसी प्रकार की अन्य भावनाएं सर्वमैथुन-विरमण व्रत की सफलता के लिए अनिवार्य हैं।

16.4.5 सर्वपरिग्रह-विरमण (अपरिग्रह)

सर्वविरत श्रमण के लिए सर्वपरिग्रह-विरमण भी अनिवार्य है। किसी भी वस्तु का ममत्वमूलक संग्रह परिग्रह कहलाता है। सर्वविरत श्रमण स्वयं इस प्रकार का संग्रह नहीं करता, दूसरों से नहीं कराता और करने वालों का समर्थन नहीं करता। वह पूर्णतया अनासक्त एवं अकिंचन होता है। इतना ही नहीं, वह अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखता। संयमनिर्वाह के लिए वह जो कुछ भी अल्पतम उपकरण अपने पास रखता है उन पर भी उसका ममत्व नहीं होता। उनके खो जाने अथवा नष्ट हो जाने पर उसे शोक नहीं होता तथा प्राप्त होने पर हर्ष नहीं होता। वह उन्हें केवल संयम-यात्रा के साधन के रूप में काम में लेता है। जिस प्रकार वह अपने शरीर का अनासक्त भाव से पालन-पोषण करता है उसी प्रकार अपने उपकरणों का भी निर्मम भाव से रक्षण करता है। ममत्व अथवा आसक्ति आन्तरिक ग्रन्थि है। जो साधक इस ग्रन्थि का छेदन करता है वह निर्ग्रन्थ कहलाता है। सर्वविरत श्रमण इसी प्रकार का निर्ग्रन्थ होता है। अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ हैं—

1. श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति राग-द्वेषरहितता अर्थात् अनासक्त भाव,
2. चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप के प्रति अनासक्त भाव,
3. घ्राणेन्द्रिय के विषय गंध के प्रति अनासक्त भाव,
4. रस्नेन्द्रिय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव,
5. स्पर्शेन्द्रिय के विषय स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव।

16.4.6 रात्रि भोजन विरमण

दसवैकालिक षड्जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन में पाँच महाव्रतों के साथ रात्रि भोजन विरमण का भी प्रतिपादन किया गया है। एवं उसे छठा व्रत कहा गया है। आचारप्रणिधि नामक आठवें अध्ययन में स्पष्ट कहा गया है कि रात्रिभोजन हिंसादि दोषों का जनक है। अतः निर्ग्रन्थ सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय तक किसी भी प्रकार के आहारादि की मन से भी इच्छा न करे। इस प्रकार जैन आचार ग्रंथों में सर्वविरत के लिए रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध किया गया है। वह आहार, पानी किसी भी वस्तु का रात्रि में उपभोग नहीं करता। जैन आचारशास्त्र अहिंसाव्रत की साधना के लिए रात्रि भोजन का त्याग अनिवार्य मानता है।

16.5 समिति

महाव्रतों की सुरक्षा और विशुद्धता के लिए समिति और गुप्ति का विधान है। समिति और गुप्ति दोनों का सम्मिलित नाम उत्तराध्ययन आदि में 'प्रवचन माता' दिया गया है। श्रमण धर्म निवृत्ति प्रधान है। फिर भी जीवन चर्या के निर्विघ्न संचालन हेतु नित्य के कार्यों में प्रवृत्ति का आश्रय भी आवश्यक होता है। क्योंकि श्रमण को चलना, फिरना, बैठना, उठना, बोलना, आहार लेना, उपकरण आदि उठाना, रखना तथा मल-मूत्र विसर्जन आदि क्रियाएँ भी करनी पड़ती हैं। अतः इन प्रवृत्तियों को प्रमादरहित एवं संयम पूर्वक सम्पन्न करना ही समिति है।

वस्तुतः जब तक हम संसार में रहना हैं—इन क्रियाओं के बिना जीवन संभव नहीं। इन क्रियाओं से जीव हिंसा भी हो सकती है पर अयत्नाचार का शमन तथा विशुद्ध प्रवृत्तियों के आचरण से ही श्रमण अपने अहिंसा आदि महाव्रतों की रक्षा और उनका पोषण कर सकता है। इस दृष्टि से मन की एकाग्रता, संयम की दृढ़ता एवं चारित्रिक विकास हेतु समितियों का आचरण आवश्यक है। चारित्र एवं संयम की प्रवृत्ति के लिये समिति के पाँच भेद हैं—1. ईर्यासमिति, 2. भाषा समिति, 3. एषणा समिति, 4. आदाननिक्षेप समिति, 5. उत्सर्ग समिति।

16.5.1 ईर्या समिति

इसका सामान्य अर्थ है—गमनागमन विषयक यत्नाचार। प्रासुक अर्थात् उचित मार्ग से, शरीर परिमाण भूमि को आंखों से देखते हुये जीव की विराधना से बचते हुए संयम पूर्वक गमन करना ईर्या समिति है। मूलाचार 5/105 एवं भगवती आराधना 1191 के अनुसार मार्ग शुद्धि (जीवादि रहित मार्ग शुद्धि) उद्योत शुद्धि (सूर्य का प्रकाश) उपयोग शुद्धि (इन्द्रिय विषयों की चेष्टा रहित तथा ज्ञान दर्शन रूप उपयोग सहित) और आलंबन शुद्धि (देव, गुरु आदि आलंबन) इन चार शुद्धियों के आश्रयपूर्वक श्रमणों की गमन रूप प्रवृत्ति को ईर्या समिति कहा है।

दशवैकालिक चूर्ण में कहा है—यदि चलते समय दृष्टि को बहुत दूर डाला जाये तो सूक्ष्म जीव देखे नहीं जा सकते और उसे अत्यन्त निकट रखा जाये तो सहसा पैर के नीचे आने वाले जीवों को टाला नहीं जा सकता, इसलिये शरीर प्रमाण क्षेत्र देखकर चलने का विधान है। चलते समय बातचीत, अध्ययन, चिन्तन आदि कार्यों का भी निषेध है। क्योंकि इन कार्यों को करते हुये चलने पर न तो गमन ही सावधानी पूर्वक होगा और न ये कार्य। अतः श्रमण को भीमे, उद्वेग रहित होकर तथा चित्त की आकुलता मिटाकर चलना चाहिये।

16.5.2 भाषा समिति

भाषा विषयक संयम को भाषा समिति कहते हैं। अर्थात् मेरे वचनों से किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचे इस उद्देश्य से पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा तथा राग-द्वेष वर्धक विकथाओं का त्याग करके स्व-पर हितकारी वचन बोलना भाषा समिति है। उत्तराध्ययन 24/9-10 में कहा है—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मुखरता और विकथा—इन आठ दोषों से रहित समयानुकूल परिमित एवं निर्दोष भाषा का व्यवहार ही भाषा समिति है। श्रमण सावधानी पूर्वक समय के अनुकूल और विवेकपूर्वक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो सत्य महाव्रत के पालन करने में सहायक होती है। अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से भी बोलते वक्त विचार अपेक्षणीय है।

द्रव्य से

सत्य भाषा और व्यवहार भाषा का उपयोग करो। कर्कश, कठोर व दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करने वाली सावद्य भाषा का उपयोग न करो।

क्षेत्र से

रास्ते में चलते समय परस्पर वार्तालाप न करो।

काल से

रात्रि में प्रथम प्रहर व्यतीत हो जाने पर उच्च स्वर से न बोले जिससे कि दूसरों को बाधा हो।

भाव से

हितकारी प्रिय और सत्य वचन का प्रयोग करो जिससे किसी को कष्ट न हो।

16.5.3 एषणा समिति

आहार या भिक्षाचर्या विषयक विवेक एषणा समिति कहलाता है। निर्दोष आहार, पानी आदि वस्तुओं का अन्वेषण करना एषणा समिति है। उत्तराध्ययन 24/11-12 में एषणा के तीन प्रकार बताये गये हैं—1. गवेषणा—शुद्ध आहार की जाँच, 2. ग्रहणैषणा—शुद्ध आहार का विधिवत् ग्रहण, 3. परिभोगैषणा—शुद्ध आहार का विधिवत् परिभोग।

एषणा समिति के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार प्रकार हैं—

द्रव्य से

वह 42 और 96 दोष रहित भिक्षा आदि ग्रहण करता है।

क्षेत्र से

अर्ज्योजन से अधिक दूर आहार को लेकर न जाना। आवश्यकता होने पर दो कोस तक आहार ले जा सकता है, उससे आगे नहीं।

काल से

प्रथम प्रहर में लाया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर में न खाना। यदि प्रथम प्रहर में लाया हुआ चतुर्थ प्रहर में ग्रहण करता है तो प्रायश्चित्त आता है।

भाव से

संयोजन आदि मांडले के दोषों को छोड़कर आहारादि ग्रहण करो।

16.5.4 आदान-निक्षेप समिति

शास्त्र आदि रूप ज्ञानोपधि, पिच्छिका रूप संयमोपधि आदि को ग्रहण करते या रखते समय प्रयत्न और उपयोग पूर्वक अपने नेत्रों से स्थान एवं द्रव्य को अच्छी तरह देखकर इस तरह से रखना कि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों का भी घात न हो—ऐसा सोचकर उक्त उपकरणों का उपयोग करना आदान-निक्षेप समिति है।

16.5.5 उत्सर्ग समिति

इसका अर्थ है मल-मूत्र आदि के विसर्जन में निर्जन्तुक तथा निर्जन स्थान का ध्यान रखना, श्रमण को मल-मूत्र का विसर्जन ऐसे स्थान पर करना चाहिये जहाँ एकान्त हो, हरित वनस्पति तथा त्रस अर्थात् चलते-फिरते जीवों से रहित और गांव आदि से दूर हो। जहाँ कोई देख न सके, कोई विरोध न करे, ऐसे विस्तीर्ण क्षेत्र में मलमूत्रादि का त्याग करना पंचम प्रतिष्ठापनिका या उत्सर्ग समिति है।

16.6 गुप्ति

सम्यक् रूप से मन, वचन और काययोग का निग्रह करना गुप्ति है। गुप्ति का अर्थ है आगमोक्त विधि से प्रवृत्ति करना तथा उन्मार्ग से निवृत्त होना।

गुप्ति का शाब्दिक अर्थ रक्षा है। मन, वचन, काय के साथ जब गुप्ति का योग होता है तब उसका अर्थ होता है—मन, वचन, काय की अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा और कुशल प्रवृत्तियों में संयोजन। सम्यक् प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर ही यह अर्थ किया गया है। जब तक असम्यक् प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं होती, तब तक कोई भी प्रवृत्ति सम्यक् नहीं हो सकती। इस दृष्टि से सम्यक् प्रवृत्ति में गुप्ति होना अनिवार्य है। आचार्य पतंजलि ने चित्तवृत्ति निरोधो योगः—चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। प्रस्तुत सूत्र को गुप्ति के लिए इस रूप में कहा जा सकता है—‘चित्तवृत्ति निरोधो गुप्तिः।’ गुप्ति के तीन प्रकार हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति।

16.6.1 मनोगुप्ति

असत् चिन्तन से निर्वर्तन मनोगुप्ति है। मन के संरंभ, समारंभ और आरंभ सम्बन्धी व्यापार को रोकना मनोगुप्ति है।

संरंभ—किसी की मृत्यु का मानसिक संकल्प संरंभ है।

समारंभ—मारने के साधनों पर विचार करना समारंभ है।

आरंभ—अत्यन्त क्लेश के कारण दूसरे के प्राणों का अपहरण करने में समर्थ अशुभ ध्यान आरंभ है।

मनोगुप्ति के अभ्यास से जीव एकाग्रता को प्राप्त करता है। एकाग्रचित्त वाला अशुभ संकल्पों से मन की रक्षा करने वाला और संयम की आराधना करने वाला होता है।

16.6.2 वचनगुप्ति

वचन के संरंभ, समारंभ और आरंभ संबंधी व्यापार को रोकना, विकथा न करना, असत्य न बोलना, चुगली आदि न करना, मौन रहना, वचन गुप्ति है।

संरंभ—दूसरों को मारने में समर्थ क्षुद्रविद्याओं का जाप करने वाली संकल्प सूचक ध्वनि।

समारंभ—पर पीड़ाकारक मंत्रों का परावर्तन।

आरंभ—दूसरों के प्राणव्यपरोपण करने में समर्थ मंत्र आदि का जाप करना।

गुणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा— भगवन्! वचन-गुप्ति से क्या लाभ है? भगवान् ने कहा—वचन-गुप्ति से निर्विचारता प्राप्त होती है। विचार समाप्त हो जाते हैं।

16.6.3 कायगुप्ति

शारीरिक क्रिया सम्बन्धी संरंभ, समारंभ, आरंभ में प्रवृत्ति न करना, उठने-बैठने, चलने-फिरने, सोने में संयम रखना, अशुभ व्यापारों का परित्याग रखना, यतनापूर्वक सत्प्रवृत्ति करना कायगुप्ति है।

संरंभ—प्रहार करने की दृष्टि से लाठी, मुष्टि आदि उठाना।

समारंभ—दूसरों के लिए पीड़ाकारक मुष्टि आदि का व्यथाभिघात।

आरंभ—प्राणि वध में शरीर की प्रवृत्ति।

16.7 सारांश

कायगुप्ति से जीव आश्रव का निरोध और संवर को प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रमण पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्ति की अखण्ड आराधना करता है। इसके साथ-साथ षड्वाश्यक का पालन करना, इन्द्रियों का निरोध करना, परीषहों को सहन करना व अंतिम समय में संलेखना संधारापूर्वक समाधिमरण को प्राप्त करना भी श्रमण के महत्वपूर्ण आचार हैं। इन सबकी विस्तृत जानकारी हम आगे के पाठों में करेंगे।

16.8 प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्रमणाचार पर एक विस्तृत निबन्ध लिखें?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के मूल गुणों में क्या अन्तर है?
2. जैन श्रमणों के प्रकार कौन से हैं?

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जिनकल्पी किसे कहते हैं?
2. समन शब्द का क्या अर्थ है?
3. महाव्रत का पालन कौन करते हैं?
4. प्रवचन माता किसे कहते हैं।
5. महाव्रतों का पालन कितनी कोटियों सहित करना होता है?
6. रात्रि भोजन का त्याग कौन से व्रत के लिये अनिवार्य है।
7. समिति किसे कहते हैं?
8. ग्रहणैषणा से क्या तात्पर्य है?
9. काय गुप्ति से क्या लाभ है?
10. परिग्रह किसे कहते हैं?

☆☆☆

इकाई-17 : षडावश्यक

संरचना

- 17.0 प्रस्तावना
- 17.1 उद्देश्य
- 17.2 आवश्यक का रचनाकाल
- 17.3 आवश्यकों का क्रम एवं वैशिष्ट्य
- 17.4 आवश्यक का प्रयोजन
- 17.5 सामयिक आवश्यक
- 17.6 चतुर्विंशतिस्तव
- 17.7 वंदना
- 17.8 प्रतिक्रमण
- 17.9 कायोत्सर्ग
- 17.10 प्रत्याख्यान
- 17.11 सारांश
- 17.12 अभ्यास प्रश्नावली

17.0 प्रस्तावना

आवश्यक जैन साधना का प्रायोगिक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। यह दोषों का पर्यालोचन करके उनके परिमार्जन की सुंदर प्रक्रिया है।

इसका नाम आवश्यक इसीलिए पड़ा क्योंकि भ्रमणों एवं भ्रावकों के लिए यह अवश्य करणीय है। आवश्यक का एक नाम प्रतिक्रमण भी प्रसिद्ध है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में सायं और प्रातः दोनों समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है क्योंकि उनके शासन में सप्रतिक्रमण धर्म का निरूपण है।

अनुयोगद्वारसूत्र में आवश्यक के चार विक्षेप मिलते हैं—1. नाम 2. स्थापना 3. द्रव्य 4. भाव। इनमें द्रव्य और भाव ये दो भेद महत्वपूर्ण हैं। द्रव्य आवश्यक का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जो भ्रामण्य योग्य गुणों से रहित हैं, छह कार्यों अर्थात् पृथ्वीकाय अप्काय आदि के प्रति करुणा-रहित हैं, हाथी और घोड़े की भांति निरंकुश हैं, आसक्त हैं तथा तीर्थंकर देव की आज्ञा के विपरीत स्वच्छंद होकर विहार करते हैं, उनका आवश्यक लोकोत्तरिक द्रव्य आवश्यक है। इसके विपरीत जो तन्मय एवं एकाग्र होकर दोनों समय आवश्यक करता है, वह लोकोत्तरिक भाव आवश्यक है। द्रव्य आवश्यक में मन कहीं और रहता है केवल मौखिक रूप से आवश्यक का उच्चारण होता है, इसमें मन की एकाग्रता आवश्यक के साथ नहीं जुड़ती मात्र बाह्य क्रिया चलती है। भाव आवश्यक में क्रिया के साथ चेतना जुड़ जाती है।

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। ये एकार्थक न होकर आवश्यक के स्वरूप, महत्व एवं उसके विविध गुणों को प्रकट करने वाले हैं—

आवश्यक—ज्ञानादि गुणों को अथवा भोग को चारों ओर से वश में करने वाला अथवा कषाय को वश में करने वाला।

आवासक—गुणों से आत्मा को भावित करने वाला।

श्रुवनिग्रह—अनादि संसार का निग्रह करने वाला।

विशोधि—कर्ममलिन आत्मा को विशुद्ध करने वाला।

अध्ययन षड्वर्ग—सामायिक आदि छह अध्ययनों से युक्त।

न्याय—अभीष्टार्थ की सिद्धि में सहायक।

आराधना—मोक्ष की आराधना का हेतु।

मार्ग—मोक्ष तक पहुंचने का मार्ग।

17.1 उद्देश्य

जो क्रोधादि कषायों को दूर कर ज्ञानादि गुणों से आत्मा को भावित या वशीभूत करता है, वह आवश्यक है। दिगम्बर मत के अनुसार जो राग द्वेषादि विभावों के वशीभूत नहीं होता, वह अवश है उस (अवश) का आचरण या कार्य आवश्यक कहलाता है। जो आत्मा में रत्नत्रय का वास कराती है, वह क्रिया आवश्यक है।

17.2 आवश्यक का रचनाकाल

आवश्यक में जो शाश्वत आध्यात्मिक तत्त्व निबद्ध हैं, वे प्रवाह रूप से अनादि हैं। आवश्यक के कर्ता एवं रचनाकाल के बारे में इतिहास में कोई सामग्री नहीं मिलती। पंडित सुखलालजी के अनुसार आवश्यक सूत्र ई. वी. सन् से पूर्व पांचवीं शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचा होना चाहिए। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि ई. वी. सन् से पूर्व पांच सौ छब्बीसवें वर्ष में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। वीर निर्वाण के 20 वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी का निर्वाण हुआ। आवश्यक सूत्र न तीर्थंकर की कृति है और न ही गणधर की। तीर्थंकर की कृति इसलिए नहीं क्योंकि वे अर्थ का उपदेश मात्र करते हैं, सूत्र नहीं रचते। गणधर सूत्र रचते हैं पर आवश्यक सूत्र गणधर रचित न होने का एक कारण यह है कि इस सूत्र की गणना अंगबाह्य सूत्र में है। अतः यह सुधर्मा के बाद किसी आचार्य द्वारा रचित माना जाना चाहिए। यह चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु से पूर्व किसी आचार्य या स्थविर कृत रचना होनी चाहिए क्योंकि भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति लिखी है। यह भद्रबाहु से पूर्ववर्ती या समकालीन किसी आचार्य द्वारा रचित मानी जानी चाहिए। अतः आवश्यक का रचनाकाल ई. सन् से पूर्व पांचवीं शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी के प्रथम चरण तक में होना चाहिए।

17.3 आवश्यकों का क्रम एवं वैशिष्ट्य

आवश्यक छह हैं—1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिस्तव, 3. वंदना, 4. प्रतिक्रमण, 5. कायोत्सर्ग, 6. प्रत्याख्यान। छहों आवश्यक के क्रम का निरूपण बहुत वैज्ञानिक और क्रम-बद्ध हुआ है। जब तक हृदय में समता का अवतरण नहीं होता तब तक वीतरागी गुणों का उत्कीर्तन कर उनके गुणों को अपनाने की दिशा में प्रस्थान नहीं हो सकता। प्रमोदभाव या गुणग्राहकता का विकास होने पर ही व्यक्ति अपने से ज्ञानी या वंदनीय व्यक्ति के चरणों में सिर झुकाता है। झुकने वाला व्यक्ति स्वतः नम्र एवं सरल बन जाता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना कर सकता है अतः वंदना के बाद प्रतिक्रमण आवश्यक का क्रम उपयुक्त है। दोषों के परिमार्जन में कायोत्सर्ग आवश्यक है। तन और मन की स्थिरता सधने पर प्रतिक्रमण अर्थात् दोषों का परिमार्जन स्वतः हो जाता है। व्यक्ति के भीतर जब स्थिरता एवं एकाग्रता सधती है तभी वह भविष्य में अकरणीय का प्रत्याख्यान करता है अथवा भविष्य में भोगों की सीमा हेतु संयमित होने का व्रत लेता है। इसीलिए संभवतः प्रत्याख्यान को अंतिम आवश्यक के रूप में रखा है। सभी आवश्यक आपस में कार्य-कारण की शृंखला से बंधे हुए हैं अतः एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। कुन्दकुन्द के साहित्य में षडावश्यक के नाम भिन्न मिलते हैं—1. प्रतिक्रमण 2. प्रत्याख्यान 3. आलोचना 4. कायोत्सर्ग 5. सामायिक 6. परम्भक्ति।

17.4 आवश्यक का प्रयोजन

अनुयोगद्वार में आवश्यक के अधिकारों का प्रयोजन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। प्रथम सामायिक आवश्यक में पापकारी प्रवृत्ति से दूर रहकर समता पूर्वक जीवन जीने का संकल्प किया जाता है। दूसरे चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में सर्वोच्च शिखर पर स्थित महापुरुषों के गुणों की स्तवना की जाती है जिससे वे गुण हमारे भीतर संचरित हों। तृतीय वंदना आवश्यक गुणयुक्त गुरुजनों की शरण एवं उनकी वंदना की बात कहता है। चौथे प्रतिक्रमण में कृत दोषों की आलोचना की जाती है, पांचवे आवश्यक कायोत्सर्ग से संयमी जीवन के व्रणों की चिकित्सा होती है तथा अंतिम प्रत्याख्यान आवश्यक के माध्यम से भविष्य में गलती न करने के संकल्प की अभिव्यक्ति की जाती है। इस प्रकार आवश्यक सूत्र कलात्मक जीवन जीने की प्रेरणा देता है। अवश्यकरणीय संसार में अनेक चीजें हो सकती हैं लेकिन यहां आवश्यक का तात्पर्य है—आत्मा के ज्ञानादि गुणों को प्रकट करने वाली आवश्यक क्रिया।

17.5 सामायिक आवश्यक

आवश्यक के छह भेद हैं उनमें प्रथम आवश्यक सामायिक का विशेष महत्व है। आचार्य भद्रबाहु ने भी जितना विस्तार सामायिक का किया उतना अन्य आवश्यकों का नहीं किया। आचार्य जिनभद्राणि क्षमाश्रमण ने तो सामायिक आवश्यक एवं उसकी निर्युक्ति पर ही अपनी विशिष्ट कृति लिखी, जो विशेषावश्यक भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। सामायिक की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि सम अर्थात् एकत्व रूप से आत्मा का आय—लाभ समाय है। समाय का भाव ही सामायिक है। वट्टकेर के अनुसार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है, वह समय है। उसे ही सामायिक जानना चाहिए। समता का महत्व हर धर्म में उद्गीत हुआ है। गीता में समत्व को योग कहा है। योगशास्त्र में आचार्य हरिभद्र स्पष्ट कहते हैं कि 'न हि साम्येन विना ध्यानम्' अर्थात् साम्ययोग के बिना साधना के क्षेत्र में चरणन्यास नहीं किया जा सकता। चूर्णिकार जिनदासगणि कहते हैं कि जैसे आकाश सब द्रव्यों का आधार है वैसे ही सामायिक सब गुणों की आधार भूमि है। समभाव विशिष्ट लब्धियों का हेतुभूत है तथा सब पापों पर अंकुश लगाने वाला है। जिनभद्राणि क्षमाश्रमण इसके माहात्म्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि षडावश्यक में सामायिक प्रथम आवश्यक है। चतुर्विंशति आदि में इन्हीं गुणों का समावेश हुआ है। उन्होंने सामायिक को चौदह पूर्वों का सार माना है। समता का अर्थ है—मन की स्थिरता, राग द्वेष का शमन और सुख दुःख में निश्चलता। विषम भावों से स्वयं को हटाकर स्व स्वरूप में रमण करना समता है। भगवान् महावीर ने समता में धर्म कहा है।

सामायिक चारित्र की अवस्थिति सभी तीर्थकरों के समय रही किन्तु अन्य चारित्रों का अवस्थान आवश्यक नहीं है। श्रावक के 12 व्रतों में सामायिक नवें व्रत के रूप में प्रसिद्ध है। तथा चार शिक्षाव्रतों में प्रथम स्थान सामायिक को प्राप्त है। आचार्य वट्टकेर के अनुसार जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख आदि में राग-द्वेष न करके इनमें समभाव रखना सामायिक है। जिनदासगणि महत्तर ने सामायिक आवश्यक को आदि मंगल के रूप में स्वीकार किया है। उत्तराध्ययन सूत्र में गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि सामायिक करने से जीव को क्या लाभ होता है? इसके उत्तर में महावीर कहते हैं कि सामायिक से सावद्य योग अर्थात् पापकारी प्रवृत्ति से जीव की निवृत्ति होती है। भगवती में कालास्यवेसी अणगार से तुंगिया नगरी के श्रावकों ने पूछा—सामायिक का अर्थ क्या है? वहां उत्तर दिया गया है कि सामायिक आत्मा है।

17.5.1 सामायिक के प्रकार

सामायिक के तीन भेद हैं—1. सम्यक्त्व सामायिक 2. श्रुत सामायिक 3. चारित्र सामायिक। चारित्र सामायिक के दो भेद हैं—अगार सामायिक और अनगार सामायिक। अगार सामायिक श्रावकों के होती है तथा अनगार सामायिक साधुओं के होती है, जो यावज्जीवन के लिए होती है। श्रुत सामायिक के भी तीन भेद हैं—1. सूत्र सामायिक, 2. अर्थ सामायिक 3. तदुभय सामायिक। सम्यक्त्व सामायिक का लक्षण है—तत्त्वश्रद्धा, श्रुत सामायिक का लक्षण है—तत्त्व परिज्ञान तथा चारित्र सामायिक का लक्षण है—सावद्य योगों से विरति।

17.5.2 सामायिक का निर्गम (उद्भव)

वैशाख शुक्ला एकादशी को पूर्वाह्न काल में महासेनवन उद्यान में भगवान् महावीर ने प्रथम बार सामायिक का निरूपण किया। कर्त्ता के बारे में चर्चा करते हुए जिनभद्राणि क्षमाश्रमण कहते हैं कि व्यवहार दुष्ट से सामायिक का प्रतिपादन तीर्थकर और गणधरों ने किया। निश्चय नय से सामायिक का अनुष्ठान करने वाला ही सामायिक का कर्त्ता है।

17.5.3 सामायिक के अधिकारी

सामायिक का अधिकारी कौन है। इसकी विस्तृत चर्चा आवश्यकनिर्युक्ति, मूलाचार आदि ग्रंथों में मिलती है। यहां चिंतनीय बिन्दु यह है कि षडावश्यक में वर्णित सामायिक और श्रावक के नित्यक्रम में की जाने वाली सामायिक में अंतर है या नहीं? इस बारे में आचार्यों ने विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया है लेकिन इस बारे में संभव यही लगता है कि षडावश्यक में वर्णित सामायिक का ही प्रायोगिक रूप यह सामायिक है।

सामायिक करने की अर्हता का वर्णन करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में जागरूक है, उसके सामायिक होता है। जो त्रस और स्थावर सब प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, उसके सामायिक होता है। जिनभद्राणि के अनुसार प्रियधर्मा, दृढधर्मा, संविग्न, पापभीरू, अशठ, क्षान्त, दान्त, गुप्त, स्थिरव्रती, जितेन्द्रिय, ऋजु, मध्यस्थ, समित और साधु-संगति में रत—इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति सामायिक ग्रहण करने में योग्य होता है।

आचार्य बटुकर के अनुसार सामायिक में परिणत वही जीव होता है, जिसने परीषह और उपसर्ग को जीत लिया है, जो भावना और समितियों में उपयुक्त है। जो स्व तथा अन्य आत्माओं में समान है, सब महिलाओं में जिसकी दृढ़ मातृवत् है तथा जो प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान आदि परिस्थितियों में समान है, वह ही सामायिक में परिणत हो सकता है। सैद्धान्तिक ज्ञान के आधार पर जो द्रव्यों, गुणों एवं पर्यायों के समवाय एवं सद्भाव को जानता है, उसके उत्तम सामायिक सिद्ध होती है। सामायिक को आत्मा कहा गया है अतः जो सर्व सावद्य योगों से विरत, तीन गुणियों से गुप्त एवं जितेन्द्रिय होता है, वह संयमस्थान रूप उत्तम सामायिक में परिणत हो जाता है। फिर सामायिक और सामायिक कर्त्ता में कोई भेद नहीं रहता।

17.6 चतुर्विंशतिस्तव

षडावश्यक में दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। सम्पूर्ण लोक को ज्ञान रूपी प्रकाश से प्रकाशित करने वाले चौबीस तीर्थकरों के गुणों का उत्कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है। तीर्थकरों की स्तुति से अन्तर्मानस में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। इससे पूर्वसंचित कर्म क्षीण होते हैं, हृदय पवित्र होता है तथा वासनाएं शान्त होने लगती हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर से पूछा गया कि चतुर्विंशतिस्तव करने से जीव को क्या उपलब्धि होती है? भगवान् महावीर ने उत्तर देते हुए कहा—चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन की विशुद्धि होती है। तीर्थकर महानता और पौरुष के सर्वोत्कृष्ट आदर्श हैं। उनकी स्तुति से आत्मा में पौरुष जागृत होता है कि हर व्यक्ति भक्त से भगवान् बन सकता है, बिन्दु से सिन्धु बन सकता है तथा रश्मि से सूर्य बन सकता है।

चतुर्विंशतिस्तव में सात पद्य हैं। प्रथम पद्य में तीर्थकरों की स्तुति का संकल्प है अगले चार पद्यों में 24 तीर्थकरों के नाम-स्मरण पूर्वक स्तुति है। छठे पद्य में आरोग्य, बाँधि, समाधि की मांग प्रस्तुत की गयी है। अन्तिम पद्य में तीर्थकर चन्द्रमा से अधिक निर्मल, सूर्य से अधिक तेजस्वी तथा सागर से अधिक गंभीर होते हैं अतः उनकी स्तुति से इन तीनों की उपलब्धि सहज है, ऐसा उल्लेख मिलता है। षडावश्यक में सबसे छोटा आवश्यक होते हुए भी यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

17.7 वंदना

षडावश्यक में तीसरे आवश्यक का नाम है—वंदना। इसमें सद्गुरु को वंदना की जाती है। वंदना करने से विनय की वृद्धि होती है तथा भीतर श्रद्धाभक्ति का स्रोत बहने लगता है। उत्तराध्ययन सूत्र में प्रश्न उपस्थित किया गया कि वंदना करने से जीव को क्या प्राप्त होता है? उत्तर देते हुए महावीर कहते हैं—“वंदना से जीव नीच गोत्र का क्षय तथा उच्च गोत्र का बंध करता है। वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है। सर्वत्र आज्ञाफल तथा अनुकूलता मिलती है अर्थात् जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें वैसे अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना प्राप्त होती है। वंदना का मुख्य उद्देश्य आत्मशुद्धि है। जिस वंदना में भक्ति न होकर केवल भय, प्रलोभन, प्रतिष्ठा आदि भावनाएं पनपती हैं, वह केवल द्रव्यवंदन है।” आवश्यक चूर्ण में द्रव्य और भाववंदन को एक ऐतिहासिक कथानक से स्पष्ट किया गया है।

एक बार अरिष्टनेमि द्वारका पथारे वासुदेव कृष्ण भगवान् को वंदन करने के लिए पहुंचे। श्रीकृष्ण के अन्तर्मानस में एक विचार तरंग उद्बुद्ध हुई कि जब भी भगवान् पथारते हैं भगवान् को नमस्कार करने के लिए मैं प्रतिदिन पहुंचता हूँ और जो विशिष्ट सत्त हैं उन्हीं को नमस्कार कर भगवान् का उपदेश सुनने के लिए बैठ जाता हूँ पर आज मैं सभी श्रमणों को नमस्कार करूँगा। उसी भक्ति की तीव्र प्रभा से प्रभावित होकर श्रीकृष्ण सभी संतों को नमस्कार करते हैं। श्रीकृष्ण के साथ उनका अनुचर वीरकौलिक था। उसने भी श्रीकृष्ण की देखा-देखी नमस्कार किया। जब भगवान् से पूछा गया कि भगवान्! श्रीकृष्ण ने और वीरकौलिक

ने नमस्कार किया है। दोनों की नमस्कार क्रिया समान रही कृपाकर बताइए कि दोनों में से किसे अधिक लाभ हुआ और किसे कम लाभ हुआ?

भगवान् ने कहा— श्रीकृष्ण ने तो भाववन्दन किया। द्रव्यवन्दन के साथ ही उनमें भावों की उत्कृष्ट तीव्रता थी। जिसके फलस्वरूप श्रीकृष्ण ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया और तीर्थंकर नाम-कर्म का भी अनुबन्धन किया किन्तु वीरकौलिक का भावरहित वन्दन था। उसने केवल द्रव्यवन्दन ही किया। श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना ही उसका उद्देश्य था जिसके कारण उसे केवल श्रीकृष्ण की प्रसन्नता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त कुछ भी लाभ न हुआ। द्रव्यवन्दन अभव्य अर्थात् कभी भी मोक्ष न जानने वाला जीव भी करता है। उसकी वह क्रिया केवल यांत्रिक क्रिया होती है। उसे उससे किसी प्रकार का आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। इसलिए द्रव्य और भाव ये दोनों ही वन्दन आवश्यक हैं। वन्द्य मुनि आचार्य, उपाध्याय, प्रवृत्तक, स्थविर और रत्नाधिक के रूप में पांच प्रकार का है। वन्दना बत्तीस दोषों से रहित करनी चाहिए। अनादृत, आदि वन्दन के बत्तीस दोष आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिपादित किये गये हैं। उन सभी दोषों को टालकर वन्दन करना चाहिए।

17.8 प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है—पीछे लौटना, अर्थात् साधु जिस क्रिया द्वारा अतीत में प्रमादवश किए हुए दोषों, अपराधों एवं पापों का प्रक्षालन करके शुद्ध होता है, वह प्रतिक्रमण कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सावध्य प्रवृत्ति में जितने आगे बढ़ गए थे उतने ही पीछे हटकर पुनः शुभयोग रूप स्व स्थान में अपने आपको लौटा लाना प्रतिक्रमण है। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का मतव्य है कि प्रतिक्रमण केवल अतीत में लगे दोषों की ही विशुद्धि नहीं करता, अपितु वह वर्तमान और भविष्यकाल के दोषों की विशुद्धि भी करता है। जैसे कुशल चिकित्सक एक्स-रे के माध्यम से शरीर में रही हुई व्याधि को बता देता है वैसे ही प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए उन दोषों को व्यक्त करते हुए उन्हें हल्का बनाता है।

आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची नाम बताए हैं—

1. **प्रतिक्रमण**—सावध्य योग से विरत होकर आत्मशुद्धि में लौट आना।
2. **प्रतिचरणा**—अहिंसा, सत्य आदि संयम में सत्यक् रूप से विचरना।
3. **परिहरणा**—सभी प्रकार के अशुभ योगों का परित्याग करना।
4. **वारणा**—विषय भोगों से स्वयं को रोकना।
5. **निवृत्ति**—अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना।
6. **निंदा**—पूर्वकृत अशुभ आचरण के लिए पश्चात्ताप करना।
7. **गर्हा**—आचार्य, गुरु आदि के समक्ष अपने अपराधों की निंदा करना।
8. **शुद्धि**—कृत दोषों की आलोचना, निंदा, गर्हा तथा तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि करना।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच भेद किए गए हैं—

1. **दैनिक**—पूरे दिन में हुए अतिचारों की आलोचना प्रत्येक संध्या को करना दैनिक प्रतिक्रमण है।
2. **रात्रिक**—सम्पूर्ण रात्रि में हुए अतिचारों की आलोचना हेतु रात्रि के अंत में किया जाने वाला रात्रिक प्रतिक्रमण है।
3. **पाक्षिक**—पक्ष में लगे दोषों की निवृत्ति के लिए अमावस्या एवं पूर्णिमा को उनकी आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।
4. **चातुर्मासिक प्रतिक्रमण**—चार माह में लगे अतिचारों की निवृत्ति हेतु कार्तिक, फाल्गुन एवं आषाढ़ माह की पूर्णिमा को आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।
5. **सांवत्सरिक**—वर्ष भर के अतिचारों की निवृत्ति हेतु प्रत्येक वर्ष आषाढ़ी पूर्णिमा के पचासवें दिन दोषों का प्रतिक्रमण करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

प्रश्न उठ सकता है कि जब प्रतिदिन प्रातः सायं प्रतिक्रमण किया जाता है तब फिर पाक्षिक चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि प्रतिदिन मकान की सफाई

की जाती है फिर भी पर्व दिनों में वह विशेष रूप से की जाती है। वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने पर भी पर्व दिनों में विशेष जागरूकता से शेष रहे अतिचारों का निरीक्षण एवं परिमार्जन किया जाता है।

17.8.1 प्रतिक्रमण की परम्परा

प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर की परम्परा के साधु अतिचार दोष लगे या न लगे पर दोष शुद्धि हेतु प्रतिदिन दोनों संघ्याओं को प्रतिक्रमण करते हैं। किन्तु मध्य के बावीस तीर्थंकरों की परम्परा के साधु-साध्वियों दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं। क्योंकि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शिष्य चंचल चित्त वाले, मोही और जड़बुद्धि वाले होते हैं तथा मध्यवर्ती बावीस तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धि वाले पवित्र, एकाग्र मन वाले तथा शुद्ध चारित्र वाले होते हैं।

प्रतिक्रमण जीवन की अपूर्व कला है तथा जीवन-शोधन की श्रेष्ठ प्रक्रिया है। प्रतिक्रमण का महत्त्व इस बात से जाना जा सकता है कि प्रतिक्रमण 'आवश्यक' का पर्यायवाची बन गया है। वर्तमान में आवश्यक का प्रयोग न करके छहों आवश्यकों के लिए प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग किया जाता है।

17.9 कायोत्सर्ग

जैन साधना पद्धति में कायोत्सर्ग का महत्वपूर्ण स्थान है। आगमों में इसे वपा-चिकित्सा कहा गया है। जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्म-विशुद्धि के लिए आत्मा को शल्य से मुक्त करने हेतु तथा पाप कर्मों के निर्धत्तन के लिए कायोत्सर्ग का प्रयोग किया जाता है। कायोत्सर्ग विदेह साधना का महत्वपूर्ण उपक्रम है। भगवान् महावीर ने इसे सब दुखों से मुक्ति का उपाय बताया है।

द्रव्य और भाव के भेद को समझाने के लिए आचार्यों ने कायोत्सर्ग के चार प्रकार बताए हैं—

1. उत्थित उत्थित

कायोत्सर्ग मुद्रा में जब साधक खड़ा होता है तो साध ही अन्तर्मन की चेतना भी खड़ी हो जाती है। वह अशुभ ध्यान का परित्याग कर प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाता है। वह प्रथम श्रेणी का साधक है। उसका तन भी उत्थित है और मन भी। वह द्रव्य और भाव दोनों ही दृष्टियों से उत्थित है।

2. उत्थित निविष्ट

कुछ साधक साधना की दृष्टि से अच्छे मूंदकर खड़े हो जाते हैं। वे शारीरिक दृष्टि से तो खड़े दिखाई देते हैं, किन्तु मानसिक दृष्टि से उनमें कुछ भी जागृति नहीं होती। उनका मन संसार के विविध पदार्थों में उलझा रहता है। आर्त और रौद्र ध्यान की भाव-धारा में वह अक्काहन करता रहता है। तन से खड़े होने पर भी मन बैठा है। अतः उत्थित होकर भी वह साधक निविष्ट है।

3. उपविष्ट उत्थित

कभी-कभी शारीरिक अस्वस्थता अथवा वृद्धावस्था आदि के कारण कायोत्सर्ग के लिए साधक खड़ा नहीं हो सकता अतः शारीरिक सुविधा की दृष्टि से पद्मासन, सुखासन आदि में बैठकर कायोत्सर्ग करता है। तन की दृष्टि से बैठा हुआ भी वह साधक मन से उत्थित है।

4. उपविष्ट निविष्ट

शारीरिक दृष्टि से समर्थ होने पर भी साधक यदि शारीरिक आलस्य के कारण खड़ा नहीं होता, बैठे-बैठे ही कायोत्सर्ग करता है। वह तन की दृष्टि से भी बैठा हुआ है और भाव की दृष्टि से भी जागृत नहीं है।

कायोत्सर्ग के इन चार प्रकारों में प्रथम और तृतीय प्रकार ही वस्तुतः कायोत्सर्ग है। इसके द्वारा ही साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। आवश्यक निर्गुक्ति में शारीरिक अवस्थिति और मानसिक चिंतनधारा की दृष्टि से कायोत्सर्ग के नौ प्रकार बताए गए हैं—

शारीरिक स्थिति

1. उत्सृत-उत्सृत
2. उत्सृत
3. उत्सृत-निषण्ण

मानसिक विचारधारा

- खड़ा धर्म-शुक्ल ध्यान
- खड़ा न धर्म-शुक्ल, न आर्द्र-रौद्र किन्तु चिंतन शून्य दशा
- खड़ा आर्त-रौद्र ध्यान

4. निषण्ण-उत्सूत	बैठा धर्म-शुक्ल ध्यान
5. निषण्ण	बैठा न धर्म-शुक्ल ध्यान, न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिंतन-शून्य दशा
6. निषण्ण-निषण्ण	बैठा आर्त्त-रौद्र ध्यान
7. निषण्ण-उत्सूत	लेटकर धर्म शुक्ल ध्यान
8. निषण्ण	लेटकर न धर्म-शुक्ल, न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिंतनशून्य दशा
9. निषण्ण-निषण्ण	लेटकर आर्त्त-रौद्र ध्यान।

षड्भावश्यक में जो कायोत्सर्ग है, उनमें चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान किया जाता है। चतुर्विंशतिस्तव के सात श्लोक में अट्ठाइस चरण हैं। एक उच्छ्वास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। दैवसिक, रात्रिक प्रतिक्रमण में चार लोगस्स, पाक्षिक प्रतिक्रमण में बारह, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में बीस तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में चालीस 'लोगस्स' का कायोत्सर्ग किया जाता है।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्मुक्ति में कायोत्सर्ग के निम्न लाभ बताए हैं—

1. **देहजाड्य शुद्धि**—कायोत्सर्ग से श्ले'म आदि के दोष न'ट हो जाते हैं। इसलिए उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी समाप्त हो जाती है।
2. **मतिजाड्य शुद्धि**—कायोत्सर्ग से चित्त एकाग्र होता है। इससे बौद्धिक जड़ता न'ट होकर उसमें तीक्ष्णता आती है।
3. **सुख-दुःख तितिक्षा**—कायोत्सर्ग से सुख-दुःख को सहने की अपूर्व क्षमता उत्पन्न होती है।
4. **अनुप्रेक्षा**—कायोत्सर्ग में अवस्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षा या भावना का स्थिरतापूर्वक अभ्यास करता है।
5. **ध्यान**—कायोत्सर्ग में शुभध्यान का सहज अभ्यास हो जाता है।

जैन मुनि की सारी अतिचार-विशुद्धि की प्रक्रिया कायोत्सर्ग के साथ जुड़ी हुई है। प्रतिक्रमण में साधक अपने पापों की आलोचना करता है, जिससे उसका चित्त निर्मल हो जाता है। चित्त निर्मल होने के बाद कायोत्सर्ग स्वतः सधने लगता है।

17.10 प्रत्याख्यान

प्रमादपूर्वक किए गए भूतकालीन दोषों का प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण कहलाता है तथा भविष्यकाल के प्रति मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति तथा शुभ योग की प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान कहलाता है। अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्याख्यान का दूसरा नाम गुणधारण दिया गया है। गुणधारण का तात्पर्य है—व्रतरूपी गुणों को धारण करना। आवश्यकनिर्मुक्ति में प्रत्याख्यान का लाभ बताते हुए आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि प्रत्याख्यान से जीव को संयम प्राप्त होता है, संयम से आश्रव का निरोध होता है आश्रव के निरोध से तृष्णा का क्षय होता है। तृष्णा के क्षय से अनुपम उपशम भाव उत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है। उपशमभाव की विशुद्धि से चारित्र धर्म प्रकट होता है। चारित्र से कर्म निर्जरित होते हैं, उससे अपूर्वकरण होता है। अपूर्वकरण से केवलज्ञान और केवलदर्शन का दिव्य आलोक प्रकट होता है, जिससे मुक्ति-सुख की प्राप्ति होती है।

वस्तुतः प्रत्याख्यान शब्द तत्त्व के द्वारा जानकर हेतुपूर्वक नियम करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। चाहे हम किसी वस्तु का भोग भले ही न करें, यदि प्रत्याख्यान नहीं किया हो तो वह त्याग फलदायक नहीं होता। क्योंकि हमने तत्त्वरूप से इच्छा का निरोध नहीं किया। प्रत्याख्यान रूप में नियम न करने से अपनी इच्छा खुली रहती है। यदि प्रत्याख्यान हो तो स्वाभाविक रूप से दोष के हेतुओं की ओर दृष्टि करने तक की इच्छा नहीं होती। इसके विपरीत प्रत्याख्यान न करने वाला पुरुष विवेकहीन होने के कारण सतत कर्मबंध करता रहता है। प्रत्याख्यान के मुख्यतः दो भेद हैं—1. मूलगुण प्रत्याख्यान 2. उत्तरगुण प्रत्याख्यान। मूलगुण प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिए किया जाता है। उत्तरगुण प्रत्याख्यान सावधिक या प्रतिदिन किया जाता है। अपराजितसूरि ने मन, वचन और काय इन तीन योगों की दृ'ट से प्रत्याख्यान के तीन भेद किए हैं—1. मनः प्रत्याख्यान 2. वचन प्रत्याख्यान 3. काय प्रत्याख्यान।

भगवती, ठाणं, आवश्यकनिर्युक्ति एवं मूलाचार आदि ग्रंथों में प्रत्याख्यान के दस भेद मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं—

1. **अनागत**—पर्युषण आदि पर्व में किया जाने वाला तप किसी कारणवश पहले कर लेना।
2. **अतिक्रान्त**—जो तप पर्व के दिनों में करना चाहिए उसे सेवा आदि किसी कारण के उपस्थित होने पर आगे अपर्व के दिनों में करना।
3. **कोट्सहित**—जो तप चल रहा है उसको पूरा किए बिना ही अगला तप प्रारम्भ कर देना। जैसे उपवास का पारणा किए बिना ही अग्रिम तप प्रारम्भ कर देना।
4. **निर्यत्रित**—जिस दिन प्रत्याख्यान या तप करने का विचार हो, उस दिन रोग आदि विशेष बाधा उपस्थित होने पर भी संकल्पित तप को पूरा करना। यह प्रत्याख्यान चतुर्दशपूर्वी, जिनकल्पी आदि दृढ़ मनोबली व्यक्ति ही कर सकते हैं।
5. **साकार**—प्रत्याख्यान करते समय मन में विशेष आकार—छूट रखकर प्रत्याख्यान करना। जैसे—यदि कोई विशेष कारण या बाधा उपस्थित हो जाएगी तो मैं यह तप नहीं करूँगा।
6. **निराकार**—यह प्रत्याख्यान बिना किसी अपवाद के किया जाता है।
7. **परिणामकृत**—श्रमण भिक्षार्थ जाते हुए या आहार ग्रहण करते समय यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि आज मैं इतने घास ही ग्रहण करूँगा। अथवा भिक्षार्थ जाते समय यह संकल्प ग्रहण करे कि अमुक प्रकार का आहार प्राप्त होगा तब ही मैं ग्रहण करूँगा।
8. **निरवसेस**—अशन, पान, खादिम, स्वादिम—इन चारों प्रकार के आहार का पूर्वरूपेण प्रत्याख्यान करना।
9. **सांकेतिक**—जो प्रत्याख्यान संकेतपूर्वक किया जाता है। जैसे—मैं जब तक मुट्ठी या गांठ नहीं खोलूँगा तब तक मुँह में कोई वस्तु नहीं डालूँगा। इस प्रत्याख्यान में साधक अपनी सुविधा के अनुसार प्रत्याख्यान करता है। मूलाचार में इसका नाम अद्धानगत है। यह अटवी, नदी आदि को पार करते समय उपवास आदि करने की पद्धति का सूचक है।
10. **अद्धा**—समय विशेष की निश्चित मर्यादा के अनुसार प्रत्याख्यान करना। इस प्रत्याख्यान के नवकारसी, पोरसी, पूर्वाद्ध, एकाशन, एकस्थान, आचाम्त, उपवास, दिवसचरिम, अभिग्रह, निर्विकृतिक—ये दस भेद हैं।

2.6.2 प्रत्याख्यान के दोष

आचार्य भद्रबाहु के अनुसार प्रत्याख्यान में तीन प्रकार के दोषों की संभावनाएं रहती हैं—

1. अमुक व्यक्ति ने प्रत्याख्यान ग्रहण किया, जिससे उसका समाज में आदर हो रहा है। मैं भी ऐसा प्रत्याख्यान करूँ, जिससे मेरा आदर हो।
2. मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूँ, जिससे दूसरे ने जो प्रत्याख्यान किया है, उसकी कीर्ति, ख्याति भुंभली पड़ जाए।
3. इस लोक में मुझे वश प्राप्त होगा और परलोक में भी मेरे जीवन में सुख और शांति की वंशी बजेगी। इस भावना से उत्तेजित होकर प्रत्याख्यान करना।

17.11 सारांश

षडावश्यक आध्यात्मिक साधक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोग है। भावक्रिया से इस अनुष्ठान को सम्पन्न करने वाले साधक के जीवन में स्वतः रूपान्तरण घटित होने लगता है।

17.12 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आवश्यक का स्वरूप बताते हुए उसके प्रयोजन एवं माहात्म्य पर प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सामायिक आवश्यक का महत्व बताते हुए उसके भेदों एवं अधिकारी की योग्यता का वर्णन करें।
2. कायोत्सर्ग के भेदों का उल्लेख करते हुए उससे होने वाले लाभों का वर्णन करें।
3. प्रत्याख्यान से आप क्या समझते हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पांचवां आवश्यक है—
(क) सामायिक (ख) लोगस्स (ग) प्रतिक्रमण (घ) कायोत्सर्ग
2. मुनि के लिए अवश्यकरणीय है—
(क) स्वाध्याय (ख) ध्यान (ग) आवश्यक (घ) प्रवचन
3. भावपूर्ण वंदना किसने की?
(क) वीरकौलिक (ख) कृष्ण (ग) चंडप्रद्योत (घ) सम्प्रति
4. काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के भेद हैं—
(क) पांच (ख) सात (ग) चार (घ) आठ
5. वंदना की जाती है—
(क) राजा को (ख) राजनेता को (ग) देवता को (घ) सद्गुरु को
6. चतुर्विंशतिस्तव में स्तुति की जाती है—
(क) आचार्य की (ख) साधु की (ग) तीर्थंकरों की (घ) उपाध्याय की
7. सामायिक पर जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की विशिष्ट कृति है—
(क) आवश्यक निर्युक्ति
(ख) विशेषावश्यक भाष्य
(ग) आवश्यक दीपिका
(घ) आवश्यक चूर्ण।
8. बारह व्रतों में सामायिक का स्थान है—
(क) नौवां (ख) पांचवां (ग) ग्यारहवां (घ) सातवां।
9. वंदना के बाद चौथा आवश्यक है—
(क) सामायिक (ख) प्रतिक्रमण (ग) प्रत्याख्यान (घ) लोगस्स

☆☆☆

इकाई-18 : परीषह

संरचना

- 18.0 प्रस्तावना
- 18.1 उद्देश्य
- 18.2 परीषह : परिभाषा
- 18.3 परीषह क्रम में अन्तर
- 18.4 परीषहों की उत्पत्ति के कारण
- 18.5 गुणस्थानों की दृष्टि से परीषह
- 18.6 एक साथ कितने परीषह
- 18.7 परीषह और काय क्लेश
- 18.8 सारांश
- 18.9 अभ्यास प्रश्नावली

18.0 प्रस्तावना

जैन आचार मीमांसा की आठवीं इकाई के 19वें पाठ में श्रमणाचर की विस्तार से चर्चा की गई थी। श्रमण जीवन का साधना मार्ग तलवार की धार पर चलने के समान होता है। श्रमण को संयम साधना के पथ पर बढ़ते हुए विविध कष्ट सहन करने पड़ते हैं जिन्हें परीषह कहा जाता है। इस पाठ के अन्तर्गत हम श्रमण जीवन में आने वाले 22 परीषहों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

18.1 उद्देश्य- इसके अध्ययन से परीषह का पूर्ण ज्ञान हो सकेगा।

18.2 परीषह : परिभाषा

‘परिषद्वत इति परीषह’ जो सहा जाये वह परीषह है। परीषह को परिभाषित करते हुये आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र 9/8 में लिखा है—‘सर्गाच्चयन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः’ अर्थात् स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिये भूख, प्यास आदि जो दुःख, कष्ट या विघ्न सहन किये जायें उन्हें परीषह कहते हैं और परीषहों को जीतना परीषह जय कहलाता है। परीषह के अर्थ में ही कहीं-कहीं पर ‘उपसर्ग’ शब्द भी व्यवहृत हुआ है। भगवान् महावीर की धर्म-प्ररूपणा के दो मुख्य अंग हैं—अहिंसा और कष्ट सहिष्णुता। कष्ट सहन का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को पीड़ित करना नहीं, किन्तु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना को सुस्थिर बनाये रखना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि।

तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावण।

अर्थात् सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिये योगी को यथाशक्ति अपने आपको दुःख से भावित करना चाहिये। साधना की सफलता के लिये अनुकूलता की शीतलता के साथ परीषह की प्रतिकूलता रूपी गर्मी की भी आवश्यकता है, परीषह साधक के लिये बाधक नहीं, साधक है। अतः परीषहों के उत्पन्न होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करना चाहिये।

18.3 परीषह क्रम में अन्तर

उत्तराध्ययन, समवायंग और तत्त्वार्थसूत्र में परीषह की संख्या बाईस मानी गई है। संख्या की दृष्टि से सभी में समानता है, पर क्रम की दृष्टि से कहीं कुछ अन्तर है। उत्तराध्ययन में परीषह के बाईस भेद इस प्रकार मिलते हैं—1. क्षुधा, 2. पिपासा, 3. शीत, 4. उष्ण, 5. दंश-मशक, 6. अचेल, 7. अरति, 8. स्त्री, 9. चया, 10. निषद्या, 11. शय्या, 12. आक्रोश, 13. वष, 14. याचना, 15. अलाभ, 16. रोग, 17. तृण-स्पर्श, 18. जल्ल, 19. सत्कार-पुरस्कार, 20. प्रज्ञा, 21. अज्ञान, 22. दर्शन।

समवायांग (समवाय 22) में अंतिम तीन परीषहों का क्रम उत्तराध्ययन से भिन्न है—

उत्तराध्ययन

समवायांग

- | | |
|------------|------------|
| 1. प्रज्ञा | 1. ज्ञान |
| 2. अज्ञान | 2. दर्शन |
| 3. दर्शन | 3. प्रज्ञा |

तत्त्वार्थसूत्र (9/9) में 'अचेत' के स्थान पर 'नाग्न्य' परीषह का उल्लेख है और दर्शन परीषह के स्थान पर अदर्शन परीषह का। प्रवचनसारोद्धार (गाथा 686) में दर्शन परीषह के स्थान में सम्यक्त्व-परीषह माना गया है। दर्शन और सम्यक्त्व यह केवल शब्द भेद है। अचेत और नाग्न्य में थोड़ा अर्थ-भेद भी है। अचेत का अर्थ है—1. नग्नता और 2. फटे हुए या अल्पमूल्य वाले वस्त्र।

बाईस परीषहों में 'दर्शन' परीषह और 'प्रज्ञा' परीषह ये दो परीषह मार्ग से अच्यवन में सहायक होते हैं और शेष बीस परीषह निर्जरा के लिये होते हैं। इन बाईस परीषहों का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

क्षुधा—क्षुधा से आकुल-व्याकुल होने पर और शरीर के अत्यन्त कृश हो जाने पर भी श्रमण क्षुधा की शांति के लिए न तो फल आदि को स्वयं तोड़ता है, न दूसरे से तोड़वाता है, भोजन न स्वयं पकाता है और न दूसरे से पकावाता है; अपितु क्षुधाजन्य कष्ट को शांति से सहन करता है। श्रमण निरवद्य आहार की अन्वेषणा करता है। आहार के उपलब्ध न होने पर या किंचित् मात्रा में मिलने पर भी वह नियमविरुद्ध आहार ग्रहण नहीं करता। वह षट् आवश्यकों की साधना सम्यक् प्रकार से करता है। प्रतिपल-प्रतिक्षण ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय व भावना में लीन रहता है। साथ ही कभी अनशन की साधना करता है, कभी ऊनोदरी तप की आराधना करता है। जो भी उसे नीरस आहार उपलब्ध होता है उसे वह ग्रहण करता है। नीरस आहार के सेवन से उनका शरीर अत्यन्त कृश भी हो जाता है, तो भी वह चिन्ता नहीं करता। भिक्षा के अलाभ में भी वह शांति रखता है। इस प्रकार श्रमण क्षुधा परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

2. पिपासा

श्रमण प्यास को शांत भाव से सहन करे, प्यास को शांत करने के लिए सचित्त जल का उपयोग न करे। जो श्रमण स्नान का सर्वथा त्याग करता है वह अतिक्षार, अत्यन्त स्निग्ध, अत्यन्त रूक्ष और अत्यन्त विरुद्ध भोजन से शरीर में भयंकर आतप (दाहज्वर) और तप की आराधना से अति तीव्र प्यास लगने पर भी सचित्त जल का उपयोग नहीं करता और समभाव से पिपासा परीषह को जीतता है।

3. शीत

श्रमण सनसनाती सर्दी को सहन करे, उस सर्दी के निवारण के लिए अग्नि का सेवन न करे। श्रमण न स्वयं अग्नि जलाता है और न दूसरों द्वारा प्रज्वलित अग्नि का सेवन करता है। स्वयं का वस्त्र जीर्ण-शीर्ष हो जाने पर भी शीत से बचने हेतु अमर्यादित और अकल्पनीय वस्त्रों को ग्रहण नहीं करता। शीत ऋतु में भी श्रमण कई बार वृक्ष के मूल में, पर्वत की चट्टान के नीचे या खुले आवास में निवास करता है। वह ठण्डी हवा और हिम को भी समभाव से सहन करता है।

4. उष्ण

श्रमण गर्मी को सहन करे, भीष्म-ग्रीष्म की उष्णता के निवारण हेतु जलावाहन, स्नान, पंखे से हवा न करे और न छत्र धारण करने की इच्छा करे। श्रमण पवन व जलरहित स्थल पर और वृक्षों से रहित शुष्क प्रदेश में भी विचरण करता है। कभी वह वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में खड़ा होता है तो कभी वह पर्वतों की गहन गुफा में भी ध्यान करता है। शरीर में जब पित्त की मात्रा बढ़ जाती है तो उसके शरीर में अन्तर्दाह उत्पन्न होता है। उष्ण हवा चलने के कारण उसका गला सूख जाता है। उस समय भी वह सचित्त जल का उपयोग नहीं करता। तप्त होने पर भी जलस्नान, जल में अवाहन नहीं करता और न उस गर्मी से बचने के लिए पंखे आदि का ही उपयोग करता है। भयंकर श्रुप से बचने के लिए वह छत्रा भी धारण नहीं करता है। समभाव से उष्णता को सहन करता है।

आचारांग के तृतीय अध्ययन का नाम "शीतोष्णीय" है। शीतोष्णीय का अर्थ है शीत=अनुकूल, उष्ण=प्रतिकूल परीषह। वहाँ बाईस परीषहों को केवल शीतोष्णीय में ले लिया गया है। आचारांगनिर्युक्ति के

अनुसार स्त्री परीषह और सत्कार परीषह ये शीत परीषह के अन्तर्गत आते हैं और शेष बीस उष्ण परीषह में। दोनों को श्रमण समभाव से सहन करता है।

5. दंश-मशक

श्रमण दंश-मशक के द्वारा काटने से उत्पन्न हुई वेदना का अनुभव करने पर भी उसके निवारण हेतु दंश-मशकों को सन्त्रस्त नहीं करता, न उसके अन्तर्मानस के प्रति उपेक्षा भाव रखता है पर उन्हें नष्ट करने के लिए किंचित् मात्र भी चिन्तन नहीं करता। दंश-मशक को नष्ट करने के लिए न वह झुआँ आदि का प्रयोग करता है और न उन्हें किसी तरह से कष्ट हो वैसा उपाय ही सोचता है; अपितु जैसे संग्राम में हाथी अडिग रहता है वैसे ही वह भी प्रस्तुत परीषह उपस्थित होने पर अडिग रहता है।

6. अचेल

वस्त्ररहित या अल्प वस्त्र सहित हो जाने पर भी किसी भी प्रकार की चिन्ता न करना, अचेल परीषह है। श्रमण के अन्तर्मानस में ये विचार लहरियाँ उत्पन्न न हों कि मेरे वस्त्र जीर्ण हो चुके हैं, अब मैं अचेल हो जाऊँगा या वस्त्र मिल जाने पर मैं सचेल हो जाऊँगा। इस प्रकार न उसके मन में दीन भावना आये और न हर्ष से उत्पन्न होकर नाचने ही लगे। आचार्य उमास्वाति ने अचेल परीषह के स्थान पर नाग्य परीषह का उल्लेख किया है।

जिनकल्पित श्रमण प्रायः नग्न रहा करते थे और स्थविरकल्पिक मुनि जीर्ण-शीर्ण अथवा अल्प मूल्य वाले वस्त्र धारण किया करते थे। कभी श्रमणों को मनोनुकूल वस्त्र आदि मिल जाते थे और कभी नहीं भी मिलते थे। किन्तु वह दोनों स्थितियों में सम रहता था।

उत्तराध्ययन के टीकाकार ने लिखा है—अचेल परीषह जिनकल्पी श्रमणों के लिए है और जिन स्थविरकल्पी श्रमणों को वस्त्र मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जिन श्रमणों के पास वस्त्रों का पूर्ण अभाव है या वर्षादि के निमित्त से जिनके वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो चुके हैं उन स्थविरकल्पी श्रमणों के लिए यह परीषह है। प्रवचनसारोद्धार की टीका में भी प्रस्तुत परीषह केवल जिनकल्पी श्रमण के लिए बताया है।

7. अरति

श्रमण संयम के प्रति समुत्पन्न अभैर्य को सहन करे। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए या एक स्थान पर अवस्थित रहते हुए यदि उसके अन्तर्मानस में अरति उत्पन्न हो जाये तो सम्यक् धर्म की आराधना से उसका निवारण करे।

“अरति” का अर्थ ‘संयम के प्रति अश्रुति’ है। जो श्रमण आसक्त नहीं होता, उसके मन में उसके प्रति उदासीनता होती है। वह कभी शून्यगृह में रहता है, कभी देवालय में, कभी वृक्षा के नीचे, कभी गिरि-गुफा में। वह सदा स्वाध्याय और ध्यान में अनुरक्त रहता है। विश्व के जितने भी प्राणी हैं उसके मन में उनके प्रति करुणा का सागर लहराता है। वह अपने जीवन में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करता और न उसकी रुचि विलासितापूर्ण कथाओं के श्रवण में ही रहती है, ऐसा साधक ही अरति परीषह को जीतता है। यहाँ पर ‘अरति’ का अर्थ श्रमण चर्या के प्रति अरुचि उत्पन्न न होने देना है। आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में ‘अरति’ के स्थान पर ‘अरति रति’ लिखा है।

8. स्त्री

स्त्री को निहारकर काम-विह्वल न होना, स्त्री-परीषह-जय है। श्रमण यह चिन्तन करे कि स्त्रियों का अत्यधिक परिचय मेरे संयमी जीवन के लिए घातक है। वे अखण्ड ब्रह्मचर्य में बाधक हैं। उनके भू-विलास, नेत्र-विकार और सुन्दर शृंगार साधना में विकार उत्पन्न करने वाले होते हैं। अतः वह उनसे बचता है। वह जानता है कि स्त्रियों की चेष्टाएँ मन को विक्षिप्त करने वाली होती हैं। अतः वह अपनी इन्द्रियों को कूर्म (कछुए) की तरह संकुचित कर लेता है। यहाँ स्त्री शब्द कामवासना का उपलक्षण है। किसी पुरुष को निहारकर संयमी का काम-विह्वल न होना भी स्त्री-परीषहजय है।

9. चर्या

यहाँ पर चर्या का अर्थ गमन है। किसी गृहस्थ या घर आदि में आसक्ति न रखते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए सभी प्रकार के कष्टों को सहन करना चर्या परीषह है। जो श्रमण गुरु के चरणों में रहता है, उसे तत्त्वों का गहरा परिज्ञान होता है। वह संयम हेतु श्रमणों की विनय भक्ति करता है। और गुरुजनों के आदेश-निर्देशानुसार विचरण भी करता है। वह पवन की तरह निस्संघ होता है। कायक्लेश को सहन करता है। कंटक आदि की बाधा उपस्थित होने पर भी वह यह चिन्तन नहीं करता कि यदि वाहन आदि मिल जाता तो कितना श्रेयस्कर होता। वह तो अप्रतिबद्ध-विहारी होता है। वह ग्राम, नगर, कुल आदि की मोह-ममता से ऊपर उठा हुआ होता है। इस प्रकार वह चर्या परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

10. निषद्या

श्रमण श्मशान, शून्य गृह आदि स्थानों में ध्यानस्थ होता है। उस समय सिंह की गंभीर गर्जना का श्रवण कर, हाथी की चिंघाड़ को सुनकर या अन्य पशुओं की भयंकर चीत्कार को सुनकर उसके मन में भय का संचार नहीं होता। वह नियत काल के लिए वीरासन, कुक्कुटासन आदि विविध आसनों को ग्रहण करता है। उस समय देव, तिर्यंच, मानव अन्य चेतन या अचेतन पदार्थों से उत्पन्न उपसर्गों को वह शांति से सहन करता है। उपसर्गों के भय से वह किसी भी प्रकार के मंत्रादि से उनका प्रतिकार भी नहीं करता और न उस स्थान का ही परित्याग करता है। प्रवचनसारोद्धार में इसे “नेषेधिकी” परीषह माना है और टीकाकार ने विकल्प में निषद्या परीषह को मानकर उसकी व्याख्या की है।

11. शय्या

शयन करते समय यदि शय्या ऊँची-नीची या ऊबड़-खाबड़ हो तो भी सहन करे। श्रमण की शय्या भले ही कंकड़-पत्थर युक्त हो या खेती से संयुक्त हो तो भी उस पर निश्चल सोता रहे। किसी प्रकार का उपसर्ग उपस्थित होने पर भी उस शय्या का परित्याग न करे और न मन में उद्विग्न ही हो। वह तो यही सोचे कि एक रात में कुछ भी नहीं होगा। इस प्रकार विचार करता हुआ शय्या परीषह को सहन करे।

12. आक्रोश

यदि कोई गाली दे, कोई प्रतिकूल वचन भी कहे तो भी श्रमण उसकी उपेक्षा कर प्रशान्त बना रहे। कोई उसे कितना भी कठोर वचन कहे तथापि वह मन में क्रोध न लाये। प्रतिकार करने का सामर्थ्य होने पर भी वह उसका प्रतिकार न करे। वह साचता है कि यदि मेरी भूल है तो इसने मेरा परिष्कार कर मेरे पर महान उपकार किया है। यदि भूल नहीं है तो भी मुझे आक्रोश करने से क्या लाभ? इस तरह वह आक्रोश पर विजय प्राप्त करता है।

13. वष

श्रमण को कोई नारने के लिए तत्पर हो उस समय वह चिन्तन करे—आत्मा और शरीर ये दोनों पृथक् हैं। शरीर विनाशी है, आत्मा अविनाशी है। तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से आहत होने पर भी भेद-विज्ञान से उसके मन में द्वेष की चिंगारी नहीं उछलती। वह ताड़ना, तर्जना की जाने पर भी सोचता है—यह कर्मों का विपाक है। यदि कोई गाली देता है तो वह सोचता है इसने मुझे पीटा नहीं है। यदि कोई पीटा है तो वह सोचता है इसने मुझे प्राणों से अलग नहीं किया है। यदि प्राणों से अलग करने आता है तो वह सोचता है कि इसके निमित्त से मैं मुक्ति को वरण कर रहा हूँ। इस प्रकार द्वेष न करके धर्म का अनुचिन्तन करता हुआ वह वष परीषह पर विजय प्राप्त कर सकता है।

14. याचना

श्रमण को कोई भी वस्तु बिना याचना किये प्राप्त नहीं होती। कई बार राजकुमार या सम्राट तथा सम्पन्न कुल के व्यक्ति भी श्रमण बन जाते हैं। सम्पन्न कुल के होने के कारण उन्हें माँगने में लज्जा का अनुभव होता है। पर आवश्यकता होने पर धर्म व शरीर की सुरक्षा के लिए उसे माँगना पड़ता है। किन्तु यह स्मरण रहे—तप के द्वारा शरीर अत्यन्त कृश हो जाने पर भी श्रमण दीन वचन न कहे और न इस प्रकार का अभिनय ही करे कि जिससे यह ज्ञात हो कि यह क्षुधा से बहुत ही पीड़ित है। वह जो भी भोजन मिल जाता है उसे शांत भाव से ग्रहण कर लेता है, किन्तु दीन शब्दों में याचना नहीं करता।

15. अलाभ

याचना करने पर भी सभी आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध हो ही जायें, यह संभव नहीं। कई बार आवश्यकता होने पर भी वस्तु प्राप्त नहीं होती। अभिलषित वस्तु की उपलब्धि न होने पर भी श्रमण को खिन्न नहीं होना चाहिए। यहाँ तक कि अनेक दिनों तक आहार न भी मिले तो भी वह सोचे कि मुझे तप का सुनहरा अवसर मिला है। वह गृहस्थ के यहाँ पर भिक्षा के लिए जाय, अभिलषित वस्तु गृहस्थ के घर में है, फिर भी गृहस्थ वस्तु देने से इनकार करे तो भी वह यही सोचे कि देना और न देना गृहस्थ की इच्छा पर अवलंबित है, मुझे दोनों ही स्थितियों में सम रहना है।

16. रोग

रोग समुत्पन्न होने पर उससे जो असह्य वेदना हो, श्रमण समभाव से सहन करे। वह मन में सोचे शरीर व्याधि मन्दिरम्—यह शरीर व्याधियों का घर है। शरीर में अनेक व्याधियाँ हैं। व्याधि होने पर वह दीन न बने और न व्याधि से विचलित ही हो। वह शरीर को संयम साधना का साधन मानता है। उसका आहार भी उसी दृष्टि से होता है। आहार पराश्रित होने के कारण कभी पथ्यवाला और कभी अपथ्यवाला भी मिल सकता है। पर वह अधीर नहीं होता। यदि रोग उत्पन्न हो जाय तो स्वयं के रोग को नष्ट करने के लिए लब्धि का प्रयोग भी नहीं करता। रोग शांति के लिए चिकित्सा की आवश्यकता होने पर वह शास्त्रोक्त विधि से चिकित्सा करवाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में लिखा है कि श्रमण चिकित्सा का अभिनन्दन न करे। पर आचार्य नेमीचन्द्र ने लिखा है—चिकित्सा की आवश्यकता होने पर शास्त्रोक्त विधि का उपयोग किया जाये। किन्तु वहाँ पर शास्त्रोक्त विधि क्या है इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। उसमें यह भी लिखा है कि चिकित्सा न करवाना यह जिनकल्पी श्रमणों के लिए है, स्थविरकल्पी श्रमणों के लिए नहीं। श्रमणोपासक श्रमणों को चौदह प्रकार के दान प्रदान करता है, उन दानों में औषध और भोजन ये दो दान भी हैं। यदि श्रमण उनका उपयोग न करता होता तो इनका उल्लेख क्यों होता? आगम साहित्य में श्रमणों की चिकित्सा के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

17. तृण स्पर्श

तृणों पर शयन करते समय तृणों का कर्कश स्पर्श शरीर में वेदना उत्पन्न करता है। उनकी तीखी चुभन से साधक विचलित भी हो सकता है। उस समय वस्त्र सेवन की अभिलाषा न करे। श्रमण कुछ गीली भूमि पर तृणों को बिछाकर सोते थे। अथवा जिन श्रमणों के वस्त्र तस्करों ने अपहरण कर लिये हों वे भी उन जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों के अभाव में उस घास पर सोते थे। घास का तीक्ष्णग्र भाग शरीर में पीड़ा उत्पन्न करता है। ऐसा ज्ञात होता है कि वस्त्र आदि बिछाने की परम्परा अतीत काल में कम रही थी। वस्त्र के स्थान पर घास आदि का ही बिछाना अधिक होता था। जैसाकि उत्तराध्ययन के केशी गौतमीय अध्ययन में केशी श्रमण ने गौतम को बैठने के लिए घास का आसन दिया था। उत्तरकाल में श्रमणों के वस्त्र बिछाने की विधि आई है।

18. जल्ल

पसीना, कीचड़, धूल आदि के शरीर पर इकट्ठे हो जाने पर भी उसे दूर करने का प्रयत्न न करना जल्ल परीषह है। घृणित वस्तुओं का सम्पर्क हो जाने पर भी उससे घृणा न करना, शरीर को संस्कारित करने की अभिलाषा न करना जल्ल परीषह है। श्रमणों के लिए स्नान का निषेध है। शरीर में पसीना आने पर और उस पर धूल जम जाने पर भी वह उसे खुजलाता नहीं। वह इस प्रकार चिन्तन नहीं करता—मेरा शरीर मल रहित हो। उसे दूर करने के लिए स्नान आदि की अभिलाषा नहीं करता। इस तरह वह जल्ल परीषह पर विजय पाता है। इसका दूसरा नाम मल परीषह भी मिलता है।

19. सत्कार-पुरस्कार

अभिवादन, नमस्कार, निमंत्रण आदि से किसी अन्य श्रमण का सम्मान होते देखकर स्वयं सम्मान की इच्छा न करे। स्वयं का सम्मान न होने पर ईर्ष्या आदि न करे और न मन में किसी प्रकार का अनुताप ही करे। यहाँ पर सत्कार का अर्थ प्रशंसा करना है और पुरस्कार का अर्थ किसी को किसी कार्य में श्रेष्ठ

बताना है। अन्य व्यक्तियों द्वारा सत्कार-पुरस्कार न करने पर भी श्रमण ऐसा नहीं सौचता—मैं चिर तपस्वी हूँ। मैंने अनेक बार प्रतिवादियों को विचार-चर्चा में परास्त किया है, तथापि कोई भी मुनि मेरी उपासना नहीं करता, मुझे आसनादि देकर सम्मानित नहीं करता और न मेरे को वन्दन आदि कर सत्कार ही करता है। ये लोग कितने अन्धे हैं, जो अल्पज्ञ हैं, तपस्वी भी नहीं हैं, तथापि लोग उनकी उपासना करते हैं। मैं प्रवचन कला में दक्ष हूँ, मेरे सामने इनका प्रवचन कुछ भी नहीं है। पर इनका सम्मान हो रहा है, मेरा नहीं। मैं इतना महान् तपस्वी हूँ, पर मेरी कोई अर्चना नहीं करता। वह इस प्रकार का दुर्ध्यान नहीं करता। इस तरह वह सत्कार-पुरस्कार परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

20. ज्ञान

श्रमण अज्ञान से समुत्पन्न कष्ट को समभाव से सहन करे। यह चिन्तन न करे—‘मैं कितना उग्र जप-तप की साधना कर रहा हूँ, तथापि मेरा अज्ञान अभी तक नष्ट नहीं हुआ है। मुझे दिव्य ज्ञान का आलोक प्राप्त नहीं हुआ है। जिस दिव्य ज्ञान के लिए मैंने कुशील का परित्याग किया, इन्द्रियों का निग्रह किया, मन का निरोध किया क्या ये सभी व्यर्थ हैं? धर्म कल्याणकारी है—मैंने अभी तक इसका अनुभव नहीं किया है। मैं तो आगम साहित्य का मर्मज्ञ नहीं बन सका हूँ।’ इस प्रकार चिन्तन कर वह खिन्न नहीं होता। ऐसा करने से ही वह अज्ञान परीषह को जीत लेता है।

उत्तराध्ययन में ‘ज्ञान’ को परीषह न बताकर ‘अज्ञान’ परीषह बताया है और उत्तराध्ययन में अज्ञान परीषह की जो व्याख्या की है वह तत्त्वार्थसूत्र की श्रुतसागरीया वृत्ति में “अदर्शन” की व्याख्या है। उन्होंने लिखा है दीक्षा ग्रहण किये लंबा समय होने पर भी अवधिज्ञान या ऋद्धि प्रभृति की प्राप्ति न होने पर भी मुनि यह चिन्तन न करे कि यह दीक्षा निष्फल है। मैंने ब्रतों का धारण क्यों किया इत्यादि। इस प्रकार वह श्रमण अदर्शन परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

21. दर्शन

परलोक नहीं है। तप से ऋद्धि की उपलब्धि नहीं होती। मैं श्रमण धर्म ग्रहण करके ठगा गया हूँ। तीर्थंकर पहले नहीं थे और न होंगे ही—इस प्रकार धर्म में अविश्वास न होने देना दर्शन परीषह पर विजय प्राप्त करना है। वह प्रत्येक परिस्थिति में धर्म पर दृढ़ निष्ठा रखता है। चाहे जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय तो भी उसकी श्रद्धा डगमगाती नहीं।

साधक के सामने ज्ञानवादी, अज्ञानवादी, क्रियावादी, अक्रियावादी न जाने कितने मत और मतान्तर आते हैं। उस समय कितने ही साधकों की श्रद्धा विचलित हो जाती है। पर जिसकी श्रद्धा पूर्ण रूप से स्थिर रहती है वह दर्शन परीषह पर विजय प्राप्त करता है। जिसे समवायों और उत्तराध्ययन में ‘दर्शन’ परीषह कहा है, तत्त्वार्थ श्रुतसागरीया वृत्ति में अदर्शन परीषह माना गया है। मूलाचार में भी ‘दर्शन’ के स्थान पर ‘अदर्शन परीषह’ का उल्लेख हुआ है।

22. प्रज्ञा

प्रज्ञा का अर्थ बुद्धि की प्रखरता व तीक्ष्णता है। जो मुनि तर्कशास्त्र में प्रवीण हो, व्याकरण, साहित्य प्रभृति कलाओं में निष्णात हो और प्रतापपूर्ण प्रतिभा के धनी हो तथापि जिसमें किंचित् मात्र भी ज्ञान का अहंकार हो, वह यह चिन्तन करता हो कि चाहे जैसा प्रवादी क्यों न हो वह प्रवादी मेरे सामने उसी तरह से भागता है जैसे सिंह के शब्द को श्रवण करके हरिण चौकड़ियाँ भरते हुए भागते हैं। ऐसा मुनि प्रज्ञा परीषह को नहीं जीतता है।

उत्तराध्ययन के अनुसार प्रज्ञा परीषह वह है जब साधक यह चिन्तन करे कि निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञान रूप फल देनेवाले कर्म किये हैं। उन्हीं के कारण मैं किसी के जिज्ञासा व्यक्त करने पर भी उसका समाधान नहीं कर सकता, मैं कुछ नहीं जानता। इस प्रकार कर्म-विपाक मानकर उसे सहन करे।

शान्त्याचार्य ने इस परीषह को उत्कर्ष एवं अपकर्ष दोनों रूप में व्याख्यायित किया है। प्रज्ञा होने पर उसका मद करना प्रज्ञा परीषह है। इसी प्रकार प्रज्ञा न होने पर हीनता की अनुभूति करना भी प्रज्ञा परीषह है।

उत्तराध्ययन में यह बताया गया है श्रमण को पूर्वबद्ध कर्मों का फल जानकर जैसे युद्धस्थल में हस्ति स्थिर रहता है, मेरु पर्वत प्रचंड वेग से कंपित नहीं होता; सिंह पीछे कदम रखना नहीं जानता वैसे ही श्रमणों को इन बाईस परीषहों को जीतना चाहिए।

18.4 परीषहों की उत्पत्ति के कारण

परीषहों की उत्पत्ति के कारण कर्म हैं। वे कर्म हैं ज्ञानावरणीय कर्म, अन्तरायकर्म, मोहनीय कर्म और वेदनीय कर्म। इन कर्मों की चर्चा तृतीय पत्र के पाठों में विस्तार से की गई है।

परीषह	उत्पत्ति के कारण कर्म	परीषह	उत्पत्ति के कारण कर्म
1. प्रज्ञा	ज्ञानावरणीय	12. क्षुषा	वेदनीय
2. अज्ञान	ज्ञानावरणीय	13. पिपासा	वेदनीय
3. अलाभ	अन्तराय	14. शीत	वेदनीय
4. अरति	चारित्र मोहनीय	15. उष्ण	वेदनीय
5. अचेल	चारित्र मोहनीय	16. दंश मशक	वेदनीय
6. स्त्री	चारित्र मोहनीय	17. चर्या	वेदनीय
7. निषद्या	चारित्र मोहनीय	18. शय्या	वेदनीय
8. याचना	चारित्र मोहनीय	19. वष	वेदनीय
9. आक्रोश	चारित्र मोहनीय	20. रोग	वेदनीय
10. सत्कार-पुरस्कार	चारित्र मोहनीय	21. तृण-स्पर्श	वेदनीय
11. दर्शन	दर्शन मोहनीय	22. जल्ल	वेदनीय

18.5 गुणस्थानों की दृष्टि से परीषह

गुणस्थान का अर्थ है—विकास क्रम। जैसे-जैसे कर्मों का क्षयोपशम अर्थात् हल्कापन उपशम या क्षय होता है वैसे-वैसे व्यक्ति गुणस्थानों का आहरण करता जाता है और जैसे-जैसे गुणस्थान आरोहण करता है वैसे-वैसे परीषहों को जीतता जाता है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र 9/10-12 में यह स्पष्ट किया है कि किस गुणस्थान में कितने परीषह पाये जाते हैं—

1. सूक्ष्मसम्परायाच्छद्मस्थ नीतराग्याऽचतुर्दश 2. एकादश जिने 3. बादरसम्पराये सर्वे

दसवें सूक्ष्मसंपराय, ग्यारहवें उपशातमोह और बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानों में 1. क्षुषा 2. पिपासा 3. शीत 4. उष्ण 5. दंश मशक 6. चर्या 7. प्रज्ञा 8. अज्ञान 9. अलाभ 10. शय्या 11. वष 12. रोग 13. तृण स्पर्श और 14. जल्ल ये चौदह परीषह ही संभव हैं। शेष आठ परीषह मोह जन्य होने के कारण होते हैं वहां पर मोहोदय का अभाव होने के कारण ये आठ परीषह नहीं हैं। दसवें गुणस्थान में अत्यल्प मोह रहता है। इसलिए प्रस्तुत गुणस्थान में भी मोहजन्य आठ परीषह संभव न होने से केवल चौदह ही बताये हैं।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में 1. क्षुषा 2. पिपासा 3. शीत 4. उष्ण 5. दंश मशक 6. चर्या 7. वष 8. रोग 9. शय्या 10. तृण स्पर्श और 11. जल्ल ये ग्यारह परीषह संभव हैं। इन गुणस्थानों में घाती कर्मों का अभाव होने से शेष ग्यारह परीषह नहीं हैं।

पहले गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक बाईस परीषह हैं क्योंकि वहां पर परीषहों के कारणभूत सभी कर्म विद्यमान हैं।

18.6 एक साथ कितने परीषह

एक जीव में एक साथ कितने परीषह हो सकते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है—एक आत्मा में एक साथ अधिक से अधिक 19 परीषह संभव हैं। बाईस परीषहों में अनेक परीषह परस्पर विरोधी हैं। उदाहरण के रूप में, जहां पर शीत परीषह है वहां उष्ण परीषह नहीं है और जहां पर उष्ण परीषह है वहां पर शीत परीषह नहीं है। इसी प्रकार शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनों में एक समय में एक ही परीषह संभव है। अतः पांचों में से एक समय में किन्हीं दो को संभव और तीन को असंभव मानें तो 19 परीषह होते हैं।

18.7 परीषह और काय क्लेश

परीषह का अर्थ काया को क्लेश देना नहीं है। यद्यपि एक सीमित अर्थ में काय-क्लेश भी तप रूप में स्वीकृत है पर परीषह और काय-क्लेश एक नहीं है।

काय-क्लेश आसन करने, ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेने, वर्षा ऋतु में तरूमूल में निवास करने, शीत ऋतु में अनावृत्त स्थान में और नाना प्रकार की प्रतिमाओं को स्वीकार करने, न खुजलाने, शरीर की विभूषा न करने के अर्थ में स्वीकृत है। जैसा कि उत्तराध्ययन 30/27 में कहा है—

ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।

उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं।।

तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय) के अनुसार—‘यदृच्छाया समागतः परीषहः, स्वयमेव कृतः कायक्लेशः’ अर्थात् उक्त प्रकारों में से कोई कष्ट जो स्वयं इच्छानुसार झेला जाता है, वह कायक्लेश है और जो इच्छा के बिना प्राप्त होता है, वह परीषह है।

कायक्लेश के अभ्यास से शारीरिक दुःख को सहने की क्षमता, शारीरिक सुखों के प्रति अनाकांक्षा और क्वचित् जिनशासन की प्रभावना भी होती है। परीषह सहन करने से स्वीकृत अहिंसा आदि धर्मों की सुरक्षा होती है।

सुत्त निपात में कहा गया है कि मुनि शीत, उष्ण, क्षुषा, पिपासा, वात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना करता हुआ ‘खग-विसाण’ (गैडे) की तरह अकेला विचरण करे।

सीतं च उष्णं च ख्रुदं पिपासं, वातातपे डंसं सिरिसिपे च।

सन्वानिपेतानि अभिसंभवित्वा, एको चरे खग विसाण कप्पो॥

इससे ज्ञात होता है कि बौद्धों में भी परीषहजय पर बल दिया गया है। पर बौद्ध भिक्षु काय-क्लेश को महत्त्व नहीं देते।

परीषह के सम्बन्ध में आगम एवं आगमन्तर साहित्य में विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

18.8 सारांश

जिज्ञासु पाठक मूल ग्रंथों यथा—उत्तराध्ययन (अध्ययन दो) समवायांग (समवाय 22) व उत्तराध्ययन की टीका तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथों का अध्ययन कर सकते हैं। टीकाकारों ने विषय को स्पष्ट करने के लिए रोचक व प्रेरक कथाएँ भी प्रस्तुत की हैं और वे सभी कथाएँ साधक को परीषहों में किस तरह सुदृढ़ रहना चाहिए। इस पर चिन्तन करने को उत्प्रेरित करती हैं।

18.9 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. परीषह कितने हैं? उनके उत्पत्ति के कारणों को बताते हुए परीषहों की विस्तृत व्याख्या करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. परीषह और काय-क्लेश में क्या अंतर है?
2. गुणस्थानों की दृष्टि से परीषहों को स्पष्ट करें?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. वीतराग में कितने परीषह पाये जाते हैं?
2. अज्ञान परीषह किस कर्म के कारण होता है?
3. परीषह सहन क्यों करना चाहिए?
4. परीषहों का विवेचन मुख्यतया किन ग्रंथों में हुआ है?
5. परीषह किसे कहते हैं?
6. परीषह की संख्या कितनी है?
7. परीषहों की उत्पत्ति के कारण क्या हैं?
8. एक जीव में एक साथ कितने परीषह हो सकते हैं?
9. क्षुषा-पिपासा परीषह किस कर्म के उदय से होते हैं?

संवर्ग-9 : संघ व्यवस्था, नव तत्त्व

इकाई-19 : संघ व्यवस्था

संरचना

- 19.0 प्रस्तावना
- 19.1 उद्देश्य
- 19.2 व्यवस्था संचालन के सूत्रधार गणधर
- 19.3 नेतृत्व का विस्तार
- 19.4 आचार्य
- 19.5 उपाध्यक्ष
- 19.6 प्रवर्तक
- 19.7 स्थविर
- 19.8 गणी
- 19.9 गणधर
- 19.10 गणावच्छेदक
- 19.11 पद निर्वाचन
- 19.12 भगवान् महावीर की अनुशासन शैली
- 19.13 प्रायश्चित्त
- 19.14 साधना
- 19.15 साधना
- 19.16 सारांश
- 19.17 अभ्यास प्रश्नावली

19.0 प्रस्तावना

किसी भी संघ, संस्थान या संगठन को ऊंचाई देता है उसका संविधान, आचार-संहिता और मर्यादायें तथा व्यवस्थाएं। संविधान की हर धारा सदस्यों के लिए पथदर्शक बनती है। किसी भी संघ या संगठन की दीर्घजीविता उसके संविधान और कुशल व्यवस्था पर निर्भर करती है। जिस संघ में आचार की ऊंचाई, चिन्तन की गहराई, युगानुरूप परिवर्तन करने की क्षमता तथा व्यवस्था की सुघड़ता होती है, उस संघ के अस्तित्व को कोई चुनौती नहीं दे सकता। संविधान संघ को ऊंचाई देता है, व्यवस्था उसको सौन्दर्य प्रदान करती है। यदि व्यवस्था सक्षम, निष्पक्ष और सत्य की बुनियाद पर प्रतिष्ठित होती है तो वह विकास के नए पदचिह्न अंकित कर सकती है।

व्यवस्था पक्ष को लेकर जैन शासन परिवर्तन के अनेक पड़ावों से गुजरा है। परिवर्तन भी वहां होता है जहां चिन्तन की जीवन्तता, उदारता और गम्भीरता होती है तथा दृष्टिकोण में संघ-हित की स्पष्टता होती है। परिवर्तन उसके अस्तित्व को सुरक्षा देता है, उसकी तेजस्विता में निखार लाता है।

संगठन का मुख्य आधार है—व्यवस्था। उसके सम्यक् संचालन के लिए भगवान् के समय में एक ही पद निश्चित था—संचालन पद। उस पर भगवान् ने अपने ग्यारह प्रमुख शिष्यों को नियुक्त किया था।

व्यवस्था की दृष्टि से वहां मात्र इतनी ही जानकारी मिलती है कि भगवान् के शासन में श्रमण-समुदाय के नौ गण थे, ग्यारह गणधर थे। प्रथम सात गणों का नेतृत्व एक-एक गणधर करते थे और अन्तिम दो गणों का दो-दो गणधर संयुक्त नेतृत्व करते थे। इन्द्रभूति, गौतम के अतिरिक्त नौ गणधरों ने भगवान् की वर्तमानता में ही अपने-अपने गणों को सुधर्मा स्वामी के नेतृत्व में समर्पित कर दिया था।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि महावीर के समय में उनके संघ में गणधर के अतिरिक्त किसी पद-मर्यादा का सूत्रपात नहीं हुआ था।

साध्वी-समाज का नेतृत्व महासती चंदना को सौंपा गया था। पर प्रवर्तिनी जैसे किसी पद पर उनकी नियुक्ति हुई हो, यह आगमिक आधार पर सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अंग-साहित्य में उनके नाम के साथ 'अञ्ज चंदना'—आर्य चंदना के अतिरिक्त किसी भी उपाधि-सूचक शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

19.1 उद्देश्य - इसके अध्ययन से संघ व्यवस्था की सम्यक् जानकारी हो सकेगी।

19.2 व्यवस्था-संचालन के सूत्रधार गणधर

विचारणीय प्रश्न यह है कि समूचे संघ की अथवा अपने-अपने गणों की संचालन-व्यवस्था या देखरेख अकेले गणधर ही करते थे अथवा वे अपनी सुविधा के अनुसार कार्य का विभाजन भी करते थे? इस परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने से विदित होता है कि संघीय व्यवस्था की किसी भी पद्धति का निर्धारण, पल्लवन या स्थिरीकरण उस समय तक नहीं हुआ था। हां, कार्य को अच्छी तरह से संपादित करने की दृष्टि से गणधरों ने तात्कालिक अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए कार्य का विभाजन किया हो ता असम्भव नहीं।

उपलब्ध जैन वाङ्मय का प्राचीनतम अंश है—अंग-साहित्य। उसमें आत्मनःशासन, संघीय विधि-विधान और आचार-सम्बन्धी नियमोपनियमों की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है, तथापि वहां संघ के कार्य-विभाजन और पद-मर्यादा का विवरण कहीं भी निर्दिष्ट नहीं है।

इसका एक मात्र कारण हो सकता है—श्रमण साधक-साधिकाओं की आत्मनिष्ठा, बाहरी प्रवृत्तियों के विस्तार का अभाव, आशुग्राही प्रज्ञा और ध्यान-स्वाध्याय में लीनता।

ऐसे प्रबुद्ध साधकों के लिए संकेत ही पर्याप्त होता है, न कि विधि-विधानों का जाल या भारी भरकम व्यवस्था। इसलिए व्यवस्था-विस्तार की उस समय कोई विशेष अपेक्षा महसूस की गई हो—ऐसा प्रतीत नहीं होता। अतः व्यवस्थाओं के सूत्रधार स्वयं गणधर ही थे और श्रमण-श्रमणी-गण पांच महाव्रतों को केन्द्र तथा परिधि मानकर स्वयं चालित यन्त्र के समान साधना में स्वतः स्फूर्त रहता था।

अंग-साहित्य के अनुसार आगम युग में आचार्य और उपाध्याय—इन दो पदों की व्यवस्था अवश्य उपलब्ध होती है। उससे यह भी विदित होता है कि श्रुत-परम्परा (आगम परम्परा) को अविच्छिन्न रखने के लिए उनकी उपस्थिति और सक्रियता अतिवार्य थी। इसीलिए आगम-युग तक आचार्य एवं उपाध्याय का कार्य-क्षेत्र आगम-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन तक ही सीमित था। इस तथ्य की पुष्टि के लिए आगम-ग्रन्थों में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

19.3 नेतृत्व का विस्तार

कालान्तर में जब श्रमण-संघ विस्तार पाने लगा, धर्माचार्यों का झुकाव लोक-संग्रह की ओर हुआ, कार्य-क्षेत्र और संघीय प्रवृत्तियां बढ़ने लगी, तब उन्हें अपनी श्रुत-केन्द्रित दृष्टि को विकेंद्रित करना पड़ा और अन्यान्य प्रवृत्तियों से संयुक्त होना पड़ा। परिणामस्वरूप शैक्षणिक प्रवृत्तियों में शैथिल्य और श्रुत-परम्परा के विच्छिन्न होने की सम्भावना ने अधिकारी-वर्ग को सतर्क किया। आचार्यों का कार्य-क्षेत्र विभक्त हुआ। कुछ आचार्यों को श्रुत-वाचना का कार्य सौंपा गया। कुछ को गण-संचालन का और कुछ को प्रचार-प्रसार और धर्मोपदेश का।

कुछ आचार्य जन-प्रतिबोध का कार्य करते। कुछ श्रमण-संघ के विस्तार की दृष्टि से व्यक्तियों का चयन कर उन्हें दीक्षित करते। कुछ दोनों ही कार्य करते और कुछ दोनों से ही उपरत रहकर मात्र धर्मोपदेश का कार्य करते।

आचार्य-पट्टावली में वाचक-वंश और गणधर-वंश के उल्लेख भी इसी ओर संकेत करते हैं कि सामयिक अपेक्षाओं को देखते हुए आचार्य को अपना दायित्व विस्तार और कार्य-विभाजन करना पड़ा। उसके अन्तर्गत कुछ आचार्य विस्तार से पूर्व परम्परा के अनुसार सूत्रार्थ के अध्यापन का दायित्व निभाते रहे और कुछ को संघ की आन्तरिक प्रवृत्तियों से संयुक्त होना पड़ा। लेकिन संघ की बहुमुखी प्रवृत्तियों और अपेक्षाओं की दृष्टि से आचार्यों के दायित्वों का उक्त वर्गीकरण भी अपर्याप्त समझा गया। फलतः संघ की

सुव्यवस्था के लिए नेतृत्व के क्षेत्र में परिवर्तन की अपेक्षा प्रतीत हुई। धर्मसंघ की प्रवृत्तियों का वर्गीकरण हुआ। उसके अनुसार सम्यक् संचालन के लिए विभिन्न पदों और पदाधिकारियों का मनोनयन हुआ। आचार्य, उपाध्याय प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर और गणावच्छेदक—इन सात पदों का निर्धारण हुआ और इनकी प्रतिष्ठा को धर्म-संघ में वरीयता प्राप्त हुई।

उक्त पदों का उल्लेख छेद सूत्रों में हुआ है जिनके रचयिता हैं—चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु। उनका समय था वीर निर्वाण की दूसरी सदी। अतः यह निश्चित है कि भगवान् के निर्वाण के पश्चात् भद्रबाहु के समय तक श्रमण-संघ के नेतृत्व की दिशाएं बहुत कुछ पल्लवित हो चुकी थी। इन सातों पदों और पदाधिकारियों के कार्य का विभाजन तथा क्षमताओं का विवरण छेद-सूत्रों और उनके व्याख्या ग्रन्थों—निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों एवं टीकाओं में प्रचुरता से उपलब्ध है।

19.4 आचार्य

जैन परम्परा में आचार्य का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया और पद-व्यवस्था के क्रम में भी उनकी वरिष्ठता को अक्षुण्ण रखा गया। संघ के संचालन, संरक्षण, संवर्द्धन, एकसूत्रता तथा परम्परा की अविच्छिन्नता का आधारभूत तत्त्व है—अर्हत्-प्रवचन का यथावत् संरक्षण, अर्थ की विशुद्धि का जागरूकता से रक्षण, अर्थ का स्थिरीकरण और संघ में उसका अधिक से अधिक पल्लवना। इस गुरुतम दायित्व के निर्वहन हेतु सर्वगुण सम्पन्न व्यक्तित्व की अपेक्षा होती है। आचार्य-पद के लिए ऐसी ही व्यक्ति का चयन होता था। उसकी योग्यता और दायित्व का परिचय देते हुए पूर्व मनीषियों ने लिखा है—“सूत्र और अर्थ का पारगामी एवं समग्र शारीरिक शुभ लक्षणों से युक्त व्यक्ति आचार्य-पद पर समासीन हो सकता है। वह संघ की समग्र प्रवृत्तियों का केन्द्रभूत होता है। वह शिष्यों को अर्थ की वाचना देता है और गण की अन्यान्य चिन्ताओं से मुक्त रहता है।”

आचार्य संघ की प्रवृत्तियों के केन्द्र होते हुए भी उसकी व्यवस्था संबंधी चिन्ताओं से सदा मुक्त रहते हैं। चूर्णिकार ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—आचार्य तीर्थंकर के प्रतिनिधि होते हैं। तीर्थंकर संघ की व्यवस्था-सम्बन्धी चिन्ता नहीं करते केवल अर्थ की प्ररूपणा करते हैं, वैसे ही आचार्य गण की चिन्ता से मुक्त रहते हैं, शिष्यों को श्रुत के अर्थ की वाचना देते हैं, सूत्र की वाचना नहीं देते क्योंकि अर्थ की वाचना में विशेष एकाग्रता और मति की सूक्ष्मता अपेक्षित होती है, ताकि वे आगमों के अर्थ की नई-नई पर्यायें उद्घाटित कर सकें। वह मति यदि सूत्र-स्पर्शनी बन जाए तो उसकी वह सूक्ष्मता सुरक्षित नहीं रह सकती।

19.5 उपाध्याय

समस्त श्रुतज्ञान के अधिकारी संयमयोग युक्त, सूत्र, अर्थ और तदुभय के ज्ञाता, आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होने के योग्य मुनि उपाध्याय-पद पर नियुक्त हो सकते हैं। वे मुनि-मण्डली को सूत्र की वाचना देते हैं। सूत्र, अर्थ और तदुभय के वेत्ता, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की साधना में उद्यत शिष्यों को श्रुत-सम्पन्न बनाने वाले उपाध्याय होते हैं। कल्पसूत्र चूर्ण में भी यही संकेत मिलता है—“सुत्तं वाएइ उवज्झाओ।”

19.6 प्रवर्तक

आचार्य और उपाध्याय श्रमण-संघ की व्यवस्था और दायित्व की दृष्टि से सर्वथा मुक्त होते थे। व्यवस्था की दृष्टि से प्रवर्तक का स्थान सर्वोपरि था। संघ की प्रत्येक गतिविधि एवं स्थिति का ध्यान रखना, श्रमणों को उनकी रुचि एवं क्षमता के अनुरूप साधना के क्षेत्र में प्रवृत्त करना, उनकी रुचि एवं क्षमता के विपरीत कार्य-क्षेत्र से उन्हें निवृत्त करना, साधना की दिशा में प्रगति के लिए उन्हें प्रेरित या प्रोत्साहित करना प्रवर्तक का प्रधान दायित्व है।

संघ के विभिन्न सदस्यों में रुचि की भिन्नता और योग्यता की तरतमता निश्चित है। उनमें से किसी का झुकाव ध्यान-साधना की ओर होता है तो किसी का तपोयोग की ओर। किसी का रुझान श्रुत समुपासना की ओर होता है तो किसी का सेवा की ओर; अतः सबकी रुचियों को समझना और उन्हें यथायोग्य दिशा में व्यापृत करना नायक का मुख्य दायित्व हो जाता है। सब सदस्य साधना की सभी दिशाओं में गतिशील हो सकें और सफलता पा सकें, यह संभव नहीं है। यह मार्गदर्शक और योजक पर निर्भर करता है कि वह

किस व्यक्ति को किस दिशा में नियुक्त करें? इस गुरुतम दायित्व को वहन करते थे प्रवर्तक-पद पर प्रतिष्ठित विशिष्ट श्रमण। उनकी मति परीक्षा-पटु होती थी। वे व्यक्ति की रुचि, अभीप्सा, लक्ष्य की प्रखरता, क्षमता, धैर्य आदि समग्र दृष्टियों से परीक्षा करते और फिर उसके लिए किसी एक दिशा का चयन करते।

कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि साधक अति उत्साह या भावुकता-वश किसी कार्य में व्याप्त हो जाता है लेकिन धैर्य, शारीरिक शक्ति, परिस्थितियों की अनुकूलता आदि के अभाव में वह आगे नहीं बढ़ सकता। ऐसी स्थिति में प्रवर्तक का यह भी दायित्व होता था कि उसे उस कार्य से निवृत्त कर उसकी योग्यता और क्षमता के अनुरूप साधना-पथ सुझाए और उसमें उसे प्रवृत्त करें।

प्रवर्तक की योग्यता का वर्णन करते हुए पूर्वाचार्यों ने लिखा है—“तप, विनय और गुणों का निधान, श्रमणों को यथायोग्य ज्ञान, दर्शन और चरित्र की साधना में नियोजित करने वाले, संग्रह-अनुग्रह में कुशल श्रमण प्रवर्तक-पद को समलंकृत कर सकते हैं।” प्रवर्तक के कार्यक्षेत्र को और अधिक स्पष्ट करते हुए कल्पसूत्र वृत्ति की टिप्पण में लिखा है—“श्रमणों को ज्ञानादि में प्रवृत्त करना प्रवर्तक का कार्य है। ज्ञान के क्षेत्र में जैसे—अध्ययन और पारायण की प्रेरणा देना, उनके अधिकृत ज्ञान को सुनना और आगे के लिए मार्गदर्शन करना। दर्शन के क्षेत्र में जैसे—दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन और पारायण की प्रेरणा देना और सुनना। चरित्र में जैसे—श्रमणों को प्रमाद का प्रायश्चित्त देना, भिक्षावृत्ति, प्रतिश्रमण आदि विधियों को सम्यक् संपादित न करने पर उन्हें समझाना, सावधान करना तथा बारह प्रकार के तपोयोग में सबको यथाशक्ति, यथारुचि नियोजित करना।

19.7 स्थविर

स्थविर प्रवर्तक के परम सहयोगी होते थे। प्रवर्तक द्वारा निर्दिष्ट दिशा में चलते-चलते यदि किसी श्रमण का मन उच्च जाता, चरण श्लथ हो जाते और मन कतरा जाता, तो स्थविर उसे पुनः आश्वस्त करते, लक्ष्य में स्थिर करते, प्रेरित करते और स्फुरणाशील साधकों को प्रोत्साहित भी करते थे। आवश्यक निर्युक्ति से भी यही सिद्ध होता है—“जो श्रमण सामर्थ्य होते हुए भी प्रवर्तक द्वारा नियोजित कार्य में निरुत्साहित हो जाते हैं तो स्थविर उन्हें पुनः लक्ष्य में स्थिर करते हैं।”

इस गम्भीर दायित्व को वहन करने की सामर्थ्य भी हर किसी में नहीं होता। अतः स्थविर की योग्यता का भी पूरा ध्यान रखा गया। व्यवहार भाष्य के अनुसार जिसकी दृष्टि परमार्थनिष्ठ हो, प्रकृति कोमल हो, जो प्रियधर्मी हो, ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना में स्वयं जागरूक और तत्पर रहता हो, वही श्रमण संघ की उचित प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता हुआ स्थविर पद को गौरवान्वित कर सकता है। स्थविर का शाब्दिक अर्थ होता है—बुद्ध, किन्तु इस पद पर वयोवृद्ध व्यक्ति ही नियुक्त हो, यह जरूरी नहीं था। स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार के स्थविरों का उल्लेख है—वय-स्थविर, पर्याय-स्थविर और श्रुत-स्थविर। अल्प-वयस्क मुनि भी यदि दीक्षा-पर्याय और श्रुताध्ययन की दृष्टि से परिपक्व हो तो वह स्थविर पद पर नियुक्त हो सकता था। इसके विपरीत श्रुत और पर्याय की दृष्टि से अपरिपक्व मुनि वयः स्थविर होते हुए भी, इस पद के योग्य नहीं समझा जाता था।

19.8 गणी

गणी का सामान्य अर्थ होता है गण का अधिपति आचार्य। वर्तमान में भी गणी शब्द से आचार्य का ही बोध होता है। प्राचीन ग्रन्थों में भी आचार्य के लिए ‘गणी’ शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है। लेकिन पद-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रयुक्त गणी शब्द अतिरिक्त अर्थवत्ता संजोए हुए है। ‘गणी’ पद उस समय का अत्यन्त प्रभावपूर्ण पद था। अप्रतिम प्रतिभा, विद्वता और श्रुत-सम्पदा के धनी श्रमण ही इस पद के लिए मनोनीत होते थे। गणी का कार्य था—आचार्यों को श्रुत की वाचना देना। यस्य पार्श्वे आचार्याः सूत्रार्थ अभ्यस्यन्ति—जिसके पास आचार्य सूत्र ओर अर्थ का अभ्यास करते हैं, वह गणी कहलाता है।

अणे आयरिया सुत्तादि निमित्त उववण्णगा—अन्य आचार्य भी जिनके पास सूत्रादि के अध्ययन के लिए रहते हैं। आचार्य और उपाध्याय सामान्य मुनियों के अध्यापन हेतु नियुक्त थे। किन्तु आचार्यों को भी यदि पदारूढ़ होने के पश्चात् विशेष अध्ययन की अपेक्षा होती तो उनकी पद-गरिमा के अनुरूप विशिष्ट श्रमणों से

ही वे श्रुत-ग्रहण करते थे। 'गणी' की नियुक्ति मात्र इसी उद्देश्य से होती थी। श्रमणों के छोटे-छोटे समूहों का नेतृत्व करना भी गणी का कार्य था। स्थानांग वृत्तिकार को भी गणी शब्द का उक्त अर्थ ही मान्य है, जैसे कि गणो अस्य अस्तीति गणी।

19.9 गणधर

'गणधर' शब्द का भी सामान्य अर्थ होता है गण को धारण करने वाला—आचार्य। आवश्यक वृत्ति के अनुसार अनुत्तर ज्ञान-दर्शन आदि गुण समूह के धारक गणधर कहलाते हैं। आगम साहित्य में गणधर शब्द मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—तीर्थंकर के प्रमुख शिष्यों के अर्थ में, जो द्वादशांगी की रचना करते हैं और सामान्य आचार्यों के अर्थ में लेकिन आचार्य के अर्थ में वह उतना प्रचलित नहीं है। मूलतः गणधरों की परम्परा का अस्तित्व तीर्थंकरों की विद्यमानता में ही होता है। तीर्थंकरों के निर्वाण के पश्चात् विद्यमान गणधर, फिर गणधर नहीं कहलाते। जैसे कि भगवान् के पांचवें गणधर सुधर्मा स्वामी को उत्तरवर्ती साहित्य या पश्चात् संकलित आगमों में कहीं भी गणधर नहीं कहा गया है, उनके लिए 'अज्जमुहम्मं' का ही प्रयोग हुआ है। उत्तरवर्ती साहित्य में जहां आचार्य के अर्थ में गणधर शब्द का प्रयोग हुआ है वह विशेष रूप में ही हुआ है। पद-व्यवस्था के क्रम में प्रयुक्त गणधर शब्द का अर्थ बिल्कुल बदल जाता है। वहां 'गणधर' का अर्थ है 'श्रमणों की दिनचर्या का ध्यान रखने वाले विशिष्ट श्रमण'।

गणधर का मुख्य दायित्व था—साध्वियों की व्यवस्था के प्रति जगरूक रहना, उनके रहने के लिए स्थान की व्यवस्था करना आदि-आदि। बृहत्कल्प भाष्य में गणधर का स्वरूप बताया है—

**“पियधम्मे दढधम्मे संविगोऽवज्ज ओय तेयस्सी,
संगहुवगहकुसले सुत्तत्थविऊ गणाहिर्वई”।**

जो श्रुत और चारित्र की आराधना में रत है, जिनकी धर्म के प्रति घनीभूत आस्था किसी भी स्थिति में चलित नहीं होती, जो संविग्न और पापभीरु है, जिनका शरीर ओजस्विता और तेजस्विता से युक्त है, जो सूत्र और अर्थ के ज्ञाता हैं, वे गणधर साध्वियों के लिए औषध, वस्त्र, उपकरण आदि की व्यवस्था करते हैं। साध्वियों की सारी चिन्ता का भार वहन करते हैं।

19.10 गणावच्छेदक

संघीय व्यवस्था की दृष्टि से 'गणावच्छेदक' का दायित्व भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उनके लिए 'गणवच्छ' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। अर्थात् वे गण के प्रति विशेष वत्सल-भाव रखते थे। बहुश्रुता आदि गुणों से युक्त, धृति-संहनन संपन्न, संघ-हितैषी और महान् सेवाभावी मुनि इस पद पर नियुक्त किए जाते थे। संघ की आन्तरिक व्यवस्थाओं का दायित्व मुख्यतया इन्हीं पर होता था। संघ की हर अपेक्षा को पूरा करने के लिए सदा तत्पर रहना और उसी तत्परता से कार्य सम्पन्न करना उनकी अपनी विशिष्टता थी। संघ के किसी भी सेवा-कार्य के लिए वे आचार्य-उपाध्याय के निर्देशन की प्रतीक्षा नहीं करते थे। संघीय अपेक्षा को देखकर वे स्वयं उस कार्य में प्रवृत्त हो जाते थे अथवा आचार्य से अनुरोध करते कि आपकी अनुज्ञा है तो मैं अमुक कार्य करूं, क्योंकि संघ को इसकी अपेक्षा है।

इन सात पदों की व्यवस्था जैन श्रमण-संघ की अपनी मौलिक उपलब्धि थी। यह आश्चर्य का विषय है कि महावीर युगीन कोई भी धर्म संघ जैन-संघ के समान सुव्यवस्थित और सुगठित नहीं बन पाया। इन सात पदों जैसी व्यवस्था का संकेत तो वैदिक, बौद्ध आदि किसी भी संघ में नहीं मिलता। जैन-संघ की सुव्यवस्था और आचार्यों की सूझबूझ का ही परिणाम है कि सहस्राब्दियों के बाद भी यह संघ शक्ति-सम्पन्न बना रहा। अनेक अवरोधों के बावजूद भी जैन धर्म की धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रही तथा अपने तत्त्व दर्शन और चिन्तन से जन जीवन को अनुप्राणित करती रही।

छेदसूत्रकार चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु के समय तक इनकी पूर्णतः प्रतिष्ठा हो चुकी थी। क्योंकि उक्त पदों की जानकारी निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प और दशाश्रुत स्कन्ध—इन छेद सूत्रों में भी और मिलती है या इनके भाष्यों और चूर्णियों में। मूल आगमों के टीका साहित्य में भी उनका उल्लेख हुआ है। पर वह उत्तरवर्ती है। कालक्रम से उन-उन अधिकारियों के दायित्वों में संकोच, विस्तार और संक्रमण भी होता रहा है।

19.11 पद-निर्वाचन

इन पदों की नियुक्तियों के लिए कोई संघीय निर्वाचन-प्रणाली नहीं थी। निर्वाचन का अधिकार एक मात्र आचार्य को था। आचार्य उन पदाधिकारियों का मनोनयन स्वयं करते थे। अपेक्षा होती तो संघ की या स्थविर मुनियों की सहमति ली जा सकती थी। किन्तु एक आचार्य के लिए अपने उत्तराधिकारी आचार्य की नियुक्ति जितनी अनिवार्य समझी जाती थी, उतनी शेष पदों की नहीं। व्यवहार भाष्य में लिखा है—आचार्य मोह-चिकित्सा या रोग-चिकित्सा के लिए किसी अन्य गण में जाए तो स्थायी या अस्थायी रूप से उत्तराधिकारी की नियुक्ति अवश्य कर के जाए।

आचार्य और उपाध्याय के निर्वाचन में मुख्यतः उनकी बहुश्रुता, गीतार्थता और प्रखर-प्रतिभा को महत्व दिया जाता था। इन दृष्टियों से परिपूर्ण मुनि तीन और पांच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला क्रमशः उक्त पदों के योग्य समझा जाता था। जबकि गणावच्छेदक आदि पदों के लिए कम से कम आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय आवश्यक होती थी। आचार्य की श्रुत-सम्पदा अतिशायिनी होती थी। वे बहुश्रुत, परिचितश्रुत, विचित्रश्रुत और घोष - विशुद्धिकारक होते थे।

जैन श्रमण-संघ के विस्तार, स्थिरीकरण और अभ्युदय की दृष्टि से यह पद-व्यवस्था बहुत ही मूल्यवान सिद्ध हुई। वीर-निर्वाण की एक सहस्राब्दी तक यह परम्परा लगभग अविच्छिन्न रूप से चलती रही। कालान्तर में यह स्वस्थ परम्परा भी अनेक दोषों से आक्रान्त हो गयी। परिणामस्वरूप अयोग्य व्यक्तियों का भी चयन होने लगा। इसीलिए सातों पदों के अधिकार और कार्य-क्षेत्र धीरे-धीरे सिमटने लगे। एक दिन सम्पूर्ण पद-मर्यादा एक मात्र आचार्य केन्द्रित हो गयी।

19.12 भगवान् महावीर की अनुशासन-शैली

अध्यात्म का क्षेत्र आत्मानुशासन का क्षेत्र है। आत्मानुशासन जितना पुष्ट और परिपक्व होता है, अध्यात्म उतना ही विकसित होता है। किन्तु क्षयोपशम की तरतमता के कारण सामूहिक जीवन में सबकी विकास भूमिकाएँ समान नहीं होती। इसलिए सामूहिक जीवन में आत्मानुशासन के साथ-साथ आचार्य, गुरु या वरिष्ठ साधर्मिक मुनियों का अनुशासन भी अध्यात्म-परम्पराओं में मान्य रहा है, इसी आधार पर अनुशासन की विविध प्रणालियाँ पल्लवित हुई।

साधना का आदि बिन्दु है विनय। विनय का अर्थ है—आचार या अनुशासन। बौद्ध परम्परा में बुद्ध की शिक्षा और अनुशासन-सूत्रों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है—विनय पिटक। जैन परम्परा में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन में अनुशासन के सूत्र उपलब्ध होते हैं। उत्तराध्ययन का तो प्रारम्भ ही विनय प्रतिपादन के साथ हुआ है—

संजोगा विष्णुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।

विणयं पाठकरिस्सामि, आणुपुब्बिं सुणेह मे।।

उत्तराध्ययन—॥१॥

छेद सूत्रों का विषय भी अनुशासन से जुड़ा हुआ है। किन्तु इन सब ग्रन्थों में अनुशासन का सैद्धान्तिक या शिक्षात्मक प्रतिपादन ही हुआ है। उसका प्रायोगिक स्वरूप क्या रहा है यह जानकारी बहुत कम मिलती है। शिष्य को विनीत और अनुशासित रहना चाहिए, उसे गुरु के ईंगित और आकार को समझ कर वर्तन करना चाहिए, ये उपदेशवाक्य प्रचुरता से मिलते हैं, पर अनुशासन करने की विधा क्या होनी चाहिए तथा किस परिस्थिति में किस प्रकार मार्ग-दर्शन कर शिष्य की मानसिकता को बदला जाए, इस संबंध में प्रायोगिक उदाहरण बहुत ही कम उपलब्ध होते हैं। ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन के उपसंहार में वृत्तिकार द्वारा उद्धृत गाथा में इतना संकेत मिलता है कि—“शिष्य यदि कहीं स्खलित हो जाता है तो आचार्य उसे मधुर और निपुण वचनों से प्रेरित करते हैं, जैसे मेघ मुनि को महावीर प्रेरित करते हैं।

उत्तरवर्ती साहित्य में अनुशासन के दो पक्ष उपलब्ध होते हैं—सारणा और वारणा।

संघीय जीवन में दोषों का प्रवेश न हो, इस दृष्टि से उक्त दोनों विधाओं का प्रयोग उत्तरवर्ती आचार्यों के काल में होता रहा है—

संचो महाणुभावो एत्थ वंसताणं निज्जरा विउत्ता।

सारण वारण चोयणमादीहिं, न दोस पडिवत्ती।। (गच्छाचार प्रकीर्णक श्लोक-51)

सारणा का अर्थ है स्मारणा—प्रमाद की स्मृति कराना, सजग करना। सारणा का दूसरा अर्थ है—प्रेरणा—कर्तव्य के प्रति प्रेरित करना। वारणा का अर्थ है—निवारण—अकरणीय का निषेध।

जहाँ संघ होता है, वहाँ सभी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। विवेक या प्रज्ञा का जागरण सब में समान नहीं होता। इसलिए भगवान् महावीर ने संघीय जीवन में आत्म-नियंत्रण, अनुशासन और व्यवस्था—इन तीनों में संतुलन स्थापित करने के लिए अपने संघ को अनुशासन के नये आयाम दिए। उनके अनुशासन के आधारभूत तत्त्व दो ही रहे हैं—सारणा और वारणा। भगवती सूत्र में इन दो सूत्रों का अनेक रूपों में पल्लवन और प्रयोग हुआ है। सारणा का प्रयोग सामान्यतः पाँच रूपों में हुआ है—1. इच्छाकार/अहासुहं 2. प्रशिक्षण 3. अनुज्ञा 4. प्रत्यक्ष अनुभूति और 5. प्रोत्साहन।

वारणा का प्रयोग सामान्यतः तीन रूपों में हुआ है—1. मौन 2. निषेध और 3. प्रतिवाद
कहीं-कहीं सारणा और वारणा का समन्वित प्रयोग भी उपलब्ध होता है।

19.12.1 इच्छाकार

महावीर के अनुशासन की सहज प्रक्रिया थी—इच्छाकार। जो साधक चिक्क-बोष या आत्मानुशासन की उच्च भूमिका तक पहुँच जाते, उनकी चित्त-चेतना में प्रकृति-भद्रता, प्रकृति-उपशान्तता, कषाय-मंदता, मृदुता, आत्मलीनता और विनम्रता सहज प्रतिबिम्बित होने लगती है। (पगईभद्दए, पगईउवसंसे, पगई-पयणुकोहमाणमायालोभे, मिउमद्दवसंपन्ने, अल्लीणे, विणीए—भगवती 5/78.) ऐसे व्यक्तियों के लिए अनुशासन की अपेक्षा नहीं है। (उद्देसो पासगस्स नत्थि।—आयारो 21/85) द्रष्टा के लिए उपदेश नहीं है।

कुसले पुण नो बद्धे, नो मुक्के (आयारो—2/133)

ऐसे साधकों के लिए भगवान् महावीर ने किसी भी आज्ञा या निर्देशन के प्रसंग में इच्छाकार का प्रयोग किया है। इच्छाकार उनके अनुशासन का मौलिक मंत्र है।

भगवान् महावीर जहाँ व्यक्ति-स्वातंत्र्य के उद्गाता थे, वहाँ वे सामूहिक मूल्यों के संस्थापक भी थे। सामूहिक जीवन में संतुलन और समीकरण बना रहे, इस दृष्टि से उन्होंने अपने शासन में सामाचारी अर्थात् साधु के लिए करणीय आचरण की पद्धति को विकसित किया। उत्तराध्ययन में सामाचारी का प्रावधान एवं विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। वह साधु-जीवन में व्यवहार-संचालन का आधारभूत तत्त्व है। उसे दुःख-मुक्ति का हेतु और संसार-सागर को पार करने का उपाय माना गया है।

सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं।

जं चरित्तणं निगंथा, तिण्णा संसार-सागरं।। उत्तराध्ययन (26/1)

सामाचारी दस है, उनमें छह प्रकार हैं—इच्छाकार सामाचारी का “इच्छाकारो य छद्दओ” (उत्तराध्ययन 26/3)।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इच्छाकार का अर्थ सारणा ही किया गया है—‘इच्छाकारो य सारणे’ (उत्तराध्ययन 26/6)। बृहद् वृत्तिकार के अनुसार इच्छाकार का अर्थ है, अपने या दूसरे के अभिप्राय को प्रमुखता देते हुए किसी कार्य का संपादन करना। सारणा का अर्थ है—अपना या दूसरे का काम औचित्य पूर्ण ढंग से हो, जिससे किसी को बाधा न आए। (उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति पत्र 365)

पारस्परिक सम्बन्धों और सहयोग के सन्दर्भ में इच्छाकार एक अहिंसात्मक प्रयोग है। इसके अनुसार संघीय जीवन में परस्पर सहयोग लिया-दिया जाता है, किन्तु वह बल प्रेरित न होकर इच्छा प्रेरित हो, यह आवश्यक है। महावीर के अनुशासन का ‘इच्छाकार’ सूत्र मुनि जीवन की दैनिक चर्या के साथ जुड़कर व्यापक बन गया। इसी का परिणाम है कि संघ में कोई भी साधु-साध्वी दूसरे साधु-साध्वियों से सहयोग लेते हैं तो वे इच्छाकार का प्रयोग करते हैं। जैसे—यदि आपकी इच्छा हो तो आप मेरा अमुक काम करें, अथवा आप चाहे तो मैं आपका सहयोग करूँ। इस इच्छाकार सामाचारी में महावीर का ‘अहासुहं देवाणुप्पिया’। प्रयोग ही है, ऐसा प्रतीत होता है।

शिष्य चाहे तप और ध्यान की विशेष साधना में समर्पित होना चाहता अथवा संलेखना या अनशन करना चाहता, उसके निवेदन की भाषा यही होती—इच्छामि णं भन्ते! भन्ते! मैं आपसे अनुज्ञा प्राप्त कर ऐसा करना चाहता हूँ। भगवान् की स्वीकृति की भाषा होती—जैसा सुख हो देवानुप्रिया।

दोनों ओर भाषा का प्रयोग कितना मृदु, कितना विनम्र और कितना सहज। शिष्य कभी नहीं कहता—मैं अमुक काम करूँगा या अमुक काम करना ही है। शास्ता भी कभी रूखी-सूखी और सपाट भाषा में हाँ और ना नहीं करते।

भगवान् द्वारा अनेकशः प्रयुक्त 'अहासुहं देवानुप्पिया' शब्द इच्छाकार का ही प्रतिनिधि है। भगवती में इसका अनेक बार प्रयोग हुआ है।

स्कन्दक संन्यासी महावीर के संघ में दीक्षित होने के पश्चात् जब एक मासिकी पहली भिक्षु प्रतिमा से लेकर बारहवीं एक अहोरात्रि (दिन-रात) की भिक्षु प्रतिमा स्वीकार करने की अनुज्ञा लेते हैं, उसके पश्चात् 'गुण—रचना संवत्सर' नाम का महान् तपोनुष्ठान प्रारंभ करना चाहते हैं और तदनंतर अनशन की अनुज्ञा लेते हैं, तो भगवान् अपनी इसी शब्दावली में प्रदान करते हैं। अहासुहं देवानुप्पिया! मा पडिबंभ करेहि (भगवती 2/59, 57, 61, 66)

भगवान् महावीर ने जिस शासन-मुक्त शासन की परिकल्पना की थी, उसका प्रयोग उन्होंने अपने धर्म-संघ में किया। उस प्रयोग का आदि बिन्दु यह इच्छाकार ही था।

19.12.2 आध्यात्मिक प्रशिक्षण

वीतराग के शासन में प्रमाद की स्मरणा और कर्तव्य की प्रेरणा—ये दोनों तत्त्व उपलब्ध होते हैं, फिर भी शिष्यों की छोटी-बड़ी स्खलनाओं को देखकर उन्हें बार-बार सावधान करना या उनकी हर प्रवृत्ति पर टिप्पणी करना, महावीर की शैली में कहीं भी प्राप्त नहीं है।

कुछ प्रसंगों से ज्ञात होता है, शिष्यों द्वारा माँग करने पर भगवान् महावीर उन्हें प्रशिक्षण देते थे। उनका मार्ग-दर्शन करते थे।

स्कन्दक परिव्राजक जब महावीर के शासन में दीक्षित होता है, वह माँग करता है भन्ते! आप स्वयं मुझे, आचार-गोचर, विनय, वैनयिक का प्रशिक्षण दें और संयम यात्रा के लिए उचित धर्म का आख्यान करें—“इच्छामि णं संयमेव.....आचार, गोचर, विणय-वेणइय, चरण-करण जाया माया वतियं धम्म माइक्खियं—(भ. 2/52)।

इस प्रकार स्कन्दक द्वारा माँग करने पर भगवान् उसे साधु-चर्या का प्रशिक्षण देते हैं—“एवं देवानुप्पिया! गंतव्वं एवं चिट्ठियव्वं, एवं निसीहियव्वं तुयट्ठियव्वं एवं भासियव्वं एवं उट्ठाय-उट्ठाय पाणंहिं, भूएहिं, जीवेहिं, सत्तेहिं संनमण संजतियव्वं, अस्सिं च अट्ठे णो किंचि वि पमाइयव्वं” (भगवती 2/53)।

देवानुप्रिय! संयम पूर्वक चलो, संयम पूर्वक खड़े रहो, संयम पूर्वक बैठो, संयम पूर्वक लेटो, संयम पूर्वक खाओ, संयम पूर्वक बोलो इस प्रकार जागरूक भाव से जागृत रहकर प्राण भूत जीव और सत्त्वों के प्रति संयम पूर्वक प्रवृत्ति करो और इस अर्थ में प्रमाद मत करो।

इसी प्रकार जब ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानंदा ब्राह्मणी भगवान् के चरणों में दीक्षित होते हैं और भगवान् से अनुशासन की माँग करते हैं तब भगवान् उन्हें प्रशिक्षण देते हैं। (भगवती 6/150)।

ऐसा ही प्रशिक्षण जमाली की प्रार्थना पर उसे देते हैं। (भगवती 6/214, 215)।

प्रशिक्षण के क्रम में भगवान् महावीर ने उपदेश की अपेक्षा संवाद शैली का अधिक प्रयोग किया।

गौतम पूछते हैं—भन्ते! श्रमणों, निर्ग्रन्थों के लिए लाघव, अल्पेच्छा, अगृद्धि और अप्रतिबद्धता प्रशस्त है?

भगवान् कहते हैं—हां गौतम! श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए लाघव ... अप्रतिबद्धता प्रशस्त है।

फिर प्रश्न होता है—भन्ते! श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अक्रोष, निरभिमानता, निश्छलता और निर्लोभता प्रशस्त है? भगवान् उत्तर देते हैं—हां गौतम! श्रमण निर्ग्रन्थों के अक्रोष ... ये प्रशस्त होते हैं। (भगवती 1/417, 418)।

इस संवाद के माध्यम से उपस्थित साधु-साध्वियों को अपेक्षित प्रशिक्षण भी मिल गया और किसी को अप्रतिकर भी नहीं लगा। प्रत्युत मानना चाहिए संवाद-शैली के कारण महावीर के अनुशासन में और अधिक सरसता आ गई।

उपनिषदों की शैली संवाद-प्रधान है, इसलिए वे सरस भी हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी व्यक्तिशः किसी की कमियों की ओर अंगुलि-निर्देश की अपेक्षा, सामूहिक रूप से औचित्य की प्रस्तुति अधिक सफल, सार्थक मानी जाती है। महावीर की अनुशासन शैली में ये तत्त्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

19.12.3 अनुज्ञा

भगवती सूत्र में ऐसे भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब भगवान् ने विशेष रूप से आज्ञा का प्रवर्तन किया।

भगवान् श्रावस्ती के कोष्ठक उपवन में बिहार कर रहे थे। उनका पूर्व शिष्य गोशालक क्रोध के प्रचंड आवेग के साथ चर्चा के लिए आया। भगवान् ने उससे पहले भी निषेधाज्ञा प्रसारित करवा दी थी, कि कोई भी मुनि गोशालक से चर्चा न करे। किन्तु जब गोशालक अपनी तेजोलब्धि से दो मुनियों को भस्म कर चुका था और रही-सही शक्ति का प्रयोग महावीर पर कर चुका तो वह शक्तिहीन और निस्तेज हो गया। वैसी स्थिति में भगवान् ने शिष्यों को स्वयं अनुज्ञा दी कि आर्यो! जैसे तुष आदि की राशि अग्नि के बुझ जाने पर शान्त और तेज रहित हो जाती है, वैसे ही मेरे वष के लिए अपना तेज निकालने के पश्चात् गोशालक का तेज हत, उपहत, नष्ट, भ्रष्ट लुप्त और विनष्ट हो गया है। इसलिए अब तुम उसे प्रश्न प्रतिप्रश्न कर निरुत्तर करने में स्वतन्त्र हो" (भगवती 15/116)।

करुणा से प्रेरित होकर भी भगवान् कभी-कभी विशेष अनुज्ञा देते थे। गोशालक द्वारा प्रयुक्त तेजोलेश्या से भगवान् का शरीर झूलस गया। उसके कारण उन्हें पित्तज्वर और रक्ताभिसार हो गया। लोगों में चिन्ता व्याप्त हो गई कि कहीं गोशालक की भविष्यवाणी सही न हो जाए। उसने कहा था—महावीर मेरे तप-तेज से हत-प्रतिहत हो गए हैं। वे छह महीने में मर जाएंगे।

भगवान् उस समय कोष्ठक नाम के चैत्य में बिहार करते थे। उनका अन्तेवासी सिंह नाम का अणगार विहारस्थली से कुछ ही दूर मालुका कक्ष में तप और ध्यान की विशेष साधना में लगा हुआ था। उसने महावीर के संबंध में उक्त जन-प्रवाद सुना। उसका मन विक्षुब्ध और विचलित हो उठा। वह आतापना - भूमि से उतरा। मालुका कक्ष के भीतर गया और जोर-जोर से रोने लगा। भगवान् ने यह जाना। भ्रमणों को बुलाकर कहा—आर्यो! तुम जाओ। मालुका कक्ष में सिंह अणगार मेरी मृत्यु की आशंका से आशंकित हो जोर-जोर से रो रहा है। उसे बुलाकर यहां ले आओ। (भ. 15/146)।

सिंह भगवान् के चरणों में उपस्थित हुआ उसकी मानसिक व्यथा को उद्घाटित करते हुए भगवान् ने कहा—“सिंह! इस आशंका को मन से निकाल दे। मैं अभी 16 वर्ष तक तुम्हारे बीच ओर रहूंगा। यह शारीरिक रोग काज का परिपाक होने पर अपने आप ठीक हो जाएगा। फिर भी तेरा मन आश्वस्त हो जाए, इस दृष्टि से तू एक काम कर रेवती श्राविका के घर जा। उसने मेरे लिए कुम्हड़े का पाक बनाया है, वह मत लाना। किन्तु उसने अपने लिए, अपने परिवार के लिए बिजोरापाक बनाया है वह ले आ। (भगवती—15/152)।

भगवान् से अनुज्ञा प्राप्त कर सिंह मुनि धन्य हो उठा। वह रेवती के घर गया। यथास्थिति बताई। बिजोरापाक की याचना की। रेवती विस्मित हुई। पूछा—भन्ते! मेरे मन का रहस्य किसने जाना, किसने बताया? किंह मुनि बोले-भगवान् महावीर ने कहा। रेवती ने भगवान् के ज्ञान की वंदना की। मुनि को बिजोरापाक से प्रतिलाभित किया। उसके सेवन से भगवान् का शरीर रोग-मुक्त हुआ चतुर्विध संघ संतुष्ट हुआ। (भगवती 15/153/163)।

19.12.4 प्रत्यक्ष-अनुभूति

अध्यात्म के क्षेत्र में सफल गुरु वह होता है, जो अपने शिष्यों को किसी एक विषय की प्रत्यक्ष अनुभूति करा दे। भगवान् महावीर के पास भी प्रत्यक्ष अनुभूति कराने की विशेष प्रक्रिया थी। जिसके आधार पर उन्होंने अनेक शिष्यों को जाति-स्मरण ज्ञान कराया था।

तत्त्वज्ञ श्रावक सुदर्शन ने जिज्ञासा के स्वर में कहा—भंते! पत्योपम और सागरोपम जैसे प्रलंब कालांशों का क्षय कैसे होता है। भगवान् ने मात्र ध्योरी के रूप में समझाना उपयुक्त नहीं समझा। वे सुदर्शन को सुदूर अतीत की, जन्मान्तरों की यात्रा कराते हैं। पूर्ववर्ती जन्मों को स्मरण कराते हुए कहते हैं—सुदर्शन! तू इससे पूर्व तीसरे भव में हस्तिनापुर का अधिपति बल नाम का राजा था। तेरी अध्यात्म चेतना जागी। विमलनाथ तीर्थंकर की परम्परा के धर्मघोष अनगर के चरणों में तू मुनि बना। मुनि जीवन की अवस्था को पर्याय संपन्न कर ब्रह्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहां दस सागरोपम का आयुष्य भोगकर तू वणिक् ग्राम के श्रेष्ठ कुल में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ है। स्वर्ग में दस सागरोपम का काल कैसे बीत गया सुदर्शन! कुछ अनुभव हुआ।

सुदर्शन के अतीन्द्रिय ज्ञान के स्रोत खुल गए। उसे जाति-स्मृति हो गई। वह स्वयं अपने जन्मान्तरों को साक्षात् देखने लगा। अब उसे किसी सिद्धान्त को मानने की अपेक्षा नहीं थी। क्योंकि वह स्वयं जानने लगा था। पूर्वभव की स्मृति होने पर सुदर्शन की श्रद्धा और संवेग (मुमुक्षाभाव) द्विगुणित हो गए। उसकी आंखों में आनंद के आंसू छलक आए। “संभारिए पुण्य भवे दुगुणाणीय सङ्ग संवेगे आणंदमुपगुणनयणे” (भगवती 11/172)।

‘णायाधम्मकहाओ’ के मेघ मुनि को भगवान् महावीर ने पूर्व जन्मों की स्मृति कराकर पुनः साधुत्व में प्रतिष्ठित किया था, जो मुनि-जीवन की प्रथम रात्रि में ही शयन की असुविधा के कारण विचलित हो उठे थे। (णायाधम्मकहाओ-अध्ययन 1)

वस्तुतः प्रत्यक्ष अनुभूति की प्रक्रिया महावीर के अनुशासन की विलक्षण शैली थी। इसके आधार पर अनेक शिष्यों की अतीन्द्रिय क्षमता जागी और उन्होंने आध्यात्मिक अभियान में सफलता प्राप्त की।

19.12.5 प्रोत्साहन

यह भी महावीर के अनुशासन का एक उज्ज्वल पक्ष था। विशेष योग्यता क्षमता और दक्षता भरे कार्य के लिए अपने शिष्यों को समय-समय पर प्रशंसित और प्रोत्साहित करते रहते थे। आलंभिका नगरी में ऋषिभद्र-पुत्र नाम का तत्त्वज्ञ श्रावक रहता था। श्रावकों की तत्त्व-संगोष्ठी में देवों के आयुष्य के सम्बन्ध में चर्चा चली। ऋषिभद्र-पुत्र ने प्रश्न को समाहित करने का प्रयत्न किया। सही उत्तर दिया, फिर भी अन्य श्रावकों को उस पर विश्वास नहीं हुआ। बात भगवान् तक पहुंची। उन्होंने श्रावकों को सम्बोधित किया—“ऋषिभद्र-पुत्र तत्त्व का मर्मज्ञ है। इसका प्रतिपादन सही है। मैं भी इस विषय में ऐसा ही कहता हूँ” श्रावक प्रसन्न हुए, ऋषिभद्र-पुत्र ने स्वयं द्वारा कृत अवज्ञा के लिए क्षमा-याचना की। (भगवती 12/1)।

मद्दुक श्रमणोपासक ने अन्यतीर्थिकों के साथ बहुत ही सुन्दर तत्त्व चर्चा की। उनके मत का निरसन कर अर्हत्-प्रवचन की प्रतिष्ठा की। इस संदर्भ में भगवान् ने उसकी मुक्त रूप से प्रशंसा की। (भगवती 8/142)।

भगवान् राजगृह में समवसूत थे। अन्यतीर्थिक आए। चर्चा के प्रसंग में उन्होंने गौतम से कहा—तुम निवरण योग से संयत-विस्त नहीं हो ... यावत् तुम एकांत बाल हो। गौतम ने इसका सम्यक् प्रतिवाद कर अन्य तीर्थिकों को निरुत्तर किया। गौतम भगवान् के पास आए, उन्हें वंदना की। भगवान् ने कहा—

सुट्ठु णं तुमं गोयमा। ते अण्णउत्थिए एवं वदासी। साहु णं तुमं गोयमा ते अण्णउत्थिए एवं वदासी। अत्थि णं गोयमा। मम बहवे अंतेवासी समणा निगंथा छउमत्था, जेणं णो पभू एवं वागरणं वागरित्ते जहां तुमं। तं सुट्ठु णं तुमं गोयमा। ते अण्णउत्थिए एवं वदासी। साहु णं तुमं गोयमा। ते अण्णउत्थिए एवं वदासी। (भगवती 18/172)।

इसका सारांश यह है कि गौतम तुमने बहुत ही सुन्दर उत्तर दिया है। मेरे और भी अनेक छद्मस्थ शिष्य हैं, जो तुम्हारे जैसा उत्तर नहीं दे सकते।

भगवती के सिवाय भी जैन आगम-साहित्य में ऐसे अनेक प्रसंग हैं। जब भगवान् ने किसी के ज्ञान की, किसी के निष्प्रकंप सम्यक्त्व की, किसी के निर्मल चरित्र की, किसी के दान की, किसी की सामायिक साधना की प्रशंसा कर उसे प्रोत्साहित किया तथा औरों को उस दिशा में प्रेरित किया।

मनोविज्ञान की दृष्टि से आत्मस्थापन की मनोवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में होती है। यदि उसकी पूर्ति नहीं होती है तो मन कुंठित और हीनभावना से ग्रस्त हो जाता है, विकास की गति अवरूद्ध हो जाती है। इसके विपरीत प्रोत्साहन और प्रशंसा से व्यक्ति को मानसिक तृप्ति मिलती है। आत्म-विश्वास पुष्ट होता है। सफलता के द्वार उद्घाटित होते हैं। परिपार्श्व को प्रमोद-भावना का बोध-पाठ मिलता है।

इस प्रकार भगवान् महावीर की अनुशासन-शैली के अनेक बीज आगमों में उपलब्ध होते हैं। उनका अनुशासन रूढ़ और परंपरित अवधारणाओं से प्रतिबद्ध नहीं था। प्रत्येक प्रसंग में उनके अनुशासन में नवीनता प्रतीत होती है। उनके अनुशासन में सारणा और वारणा के दोनों रूप मिलते हैं।

19.12.6 वारणा

सफल अनुशासक वह होता है, जो समय की अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए अपनी शैली में परिवर्तन करता रहे। अनेकान्त के आलोक में देखा जाए तो एक ही विधि का प्रयोग सर्वत्र उपयुक्त नहीं होता। समय पर उसे मोड़ भी देना पड़ता है। भगवान् महावीर की अनुशासन-शैली मुख्यतः सकारात्मक ही रही है, किन्तु आवश्यकतावश उन्होंने कहीं-कहीं अपनी शैली को नकारात्मक भी बनाया है। हां जहां तक संभव हुआ उन्होंने सीधा निषेध नहीं किया, प्रत्युत मौन के द्वार अपनी असहमति अभिव्यक्त की। कहीं-कहीं प्रतिवाद भी किया।

19.12.7 मौन

भगवान् की वीतराग चेतना में जिस कार्य के सम्पादन का औचित्य प्रतिबिम्बित नहीं होता, वहां वे प्रायः मौन रहते। यह उनकी विलक्षण शैली थी। भगवान् के मौन रहने के अनेक प्रसंग आगम-साहित्य में उपलब्ध हैं।

साधना-काल में भी वे अनेक बार मौन रहे। इस कारण से यद्यपि उन्हें भीषण परीषह और उपसर्ग झेलने पड़े। किन्तु यह प्रयोग ही उनकी अहिंसा और सत्य के विकास का मापक यंत्र बन गया था।

क्षत्रियकुमार जमाली 500 क्षत्रिय कुमारों के साथ सीक्षित हुआ। साधु-चर्या में निपुण और बहुश्रुत बना। किसी समय वह भगवान् के पास आया और बोला—मैं आपसे अनुज्ञा प्राप्त कर 500 श्रमण निग्रन्थों के साथ स्वतन्त्र जनपद-बिहार करना चाहता हूँ। (भगवती 9/216)

तब भगवान् ने जमाली के इस कथन को न आदर दिया, न उस पर ध्यान दिया, किन्तु वे मौन रहे। (भगवती, 9/218, 219)

भगवान् के मौन का रहस्य तब खुला, जब जमाली मिथ्यात्व-प्रतिपन्न हो गया। घटना-चक्र ने मोड़ लिया। भगवान् की आज्ञा के बिना ही जमाली 500 मुनियों के साथ जनपद विहार करने लगा। वह श्रावस्ती में प्रवास कर रहा था। तपस्या और प्रतिकूल आहार के परिणाम-स्वरूप वह अस्वस्थ हो गया। (भगवती 6/220/224)

एक बार तीव्र वेदना से अभिभूत होकर जमाली ने श्रमणों से बिछौना बिछाने के लिए कहा। श्रमण बिछौना बिछाने लगे। वह अधीर हो उठा। बोला देवानुप्रियो! बिछौना कर दिया है या कर रहे हो? उच्चर मिला—देवानुप्रियो! किया नहीं, कर रहे हैं। (भगवती 9/227)

जमाली के मन में विकल्प उठा। महावीर कहते हैं—क्रियमाणकृत है, अर्थात् जो करना शुरू कर दिया वह किया हुआ है, चलमान चलित है, उदीर्यमाण उदीरित है, निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण है इत्यादि किन्तु यह कथन मिथ्या है। क्योंकि मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि शय्या संस्तरक क्रियमाण है अर्थात् शुरू कर दिया गया फिर भी अकृत अर्थात् अभी तक हुआ नहीं है। संस्तीर्यमाण है, फिर भी अंस्तृत है। इस प्रकार जमाली मिथ्यात्व को प्राप्त हो निहव बन गया। उत्सूत्र या मिथ्या मत की प्ररूपणा करने लगा। (भगवती 6/228, 229)

19.12.8 निषेध

वर्तमान युग-चिन्तन के सन्दर्भ में प्रेरणा, प्रोत्साहन और यथार्थ का प्रस्तुतीकरण व्यक्तित्व-निर्माण के सफलतम उपाय हैं। इनके प्रयोग से व्यक्ति में आत्म-विश्वास जागता है। फलतः वृत्तियों में परिवर्तन और क्षमताओं के विकास की संभावनाएं उजागर होती हैं। इसके विपरीत निषेध या वर्जना व्यक्ति के अवचेतन मन पर विपरीत प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। मनोवैज्ञानिक वितृष्णा को जन्म देती है। भगवान् महावीर भी परम

मनोवैज्ञानिक थे। उनके अनुशासन में भी व्यावहारिक धरातल पर निषेध का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। हां उसका सर्वथा वर्जन तो जुग, फ्रायड के दर्शन में भी संभव नहीं है। महावीर की अनुशासन शैली में भी केवल निषेध का प्रयोग बहुत कम मिलता है।

भगवान् ने एक बार गौतम के पूछने पर बताया कि गोशालक मेरा पूर्व शिष्य है। वह जिन अर्थात् अर्हत् (वीतराग) नहीं, पर जिन-प्रलापी है। यह बात जब गोशालक तक पहुंची तो वह क्रुद्ध हो उठा। भिक्षा के लिए घूमते हुए आनन्द स्थविर को बुलाकर उसने कहा—आनन्द! जा तेरे धर्माचार्य, धर्मापदेशक, ज्ञातपुत्र से कह दे कि आज यदि मेरे बारे में कुछ कहा तो खैर नहीं है। मैं अपने तप-तेज के प्रभाव से उसे भस्म कर दूंगा। (भगवती 15/66)

आनन्द ने सारी बात भगवान् से कही और पूछा—भंते! क्या वह अपने तप तेज के प्रभाव से किसी को भस्म करने में समर्थ है। भगवान् ने कहा—हां वह समर्थ है किन्तु वह अर्हत् को भस्म करने में समर्थ नहीं है।

इसके अनंतर भगवान् ने आनन्द से कहा—आनन्द! तुम जाओ, गौतम और अनार्यों को सूचित करो कि इस समय गोशालक से कोई भी धर्मचर्चा या प्रश्न-प्रतिप्रश्न न करें। वह मिथ्यात्व-प्रतिपन्न है अर्थात् विपरीत दृष्टि से युक्त और क्रोधाविष्ट है। (भगवती, 15/66)

19.12.9 प्रतिवाद

जन सामान्य कुमार्ग में प्रस्थित न हो जाए, इसलिए मिथ्या अवधारणाओं और स्थापनाओं का प्रतिवाद अर्थात् प्रतिकार, विरोध करना भी महावीर की अपनी विशिष्ट शैली थी। महावीर अभय थे। इसलिए सत्य को प्रकट करने के लिए वे कभी-कभी खतरा भी मोल ले लेते थे।

गोशालक ने महावीर से कहा—काश्यप! तुम कहते हो, गोशालक मंखलिपुत्र मेरा धर्मान्तेवासी हैं, यह मिथ्या है। गोशालक तो कभी का मर चुका है। मैं तो उसके शरीर में प्रविष्ट कौण्ड्यायन उदाई हूँ। तब भगवान् महावीर ने इसके प्रतिवाद में चोर का दृष्टान्त देते हुए कहा—गोशालक तू वही है, फिर भी स्वयं को अन्य बताता है, यह षोखा है। वस्तुतः तेरी ज्ञाया वही है, अन्य नहीं। (भगवती 15/102)

इस सचोट प्रतिवाद से गोशालक और अधिक क्रुद्ध हो उठा। वह बोला—नट्ठेसि कदाइ, विणट्ठे सि कदाइ, भट्ठेसि कदाइ, नट्ठ-विणट्ठ भट्ठेसि कदाइ, अज्ज न भवसि, नाहि ते ममाहिंतो सुहमत्थि।” (भगवती, 15/106)

आखिर गोशालक ने महावीर के दो शिष्यों—सर्वानुभूति और सुनक्षत्र को अपनी तेजोलेश्या से भस्म कर दिया। स्वयं महावीर पर भी उसने असफल प्रयोग किया। उससे महावीर का शरीर झूलस गया। इसके अतिरिक्त वह उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सका। उसकी शक्ति स्वयं उसके लिए ही घातक बन गई। (भगवती 15/112)

क्षेत्र और काल की अनुकूलता में भगवान् कभी-कभी सैद्धान्तिक का भी सशक्त प्रतिवाद करते थे।

जमाली मिथ्यात्व-प्रतिपन्न हो जाने के पश्चात् एक बार श्रावस्ती से विहार कर चंपा आया। वहां भगवान् पहले से ही समवस्तु थे। जमाली भगवान् के पास आकर बोला—जैसे देवानुप्रिय के अनेक शिष्य छद्मस्थ पर्याय में अवस्थित हैं, वैसे मैं नहीं हूँ। मैं उत्पन्न ज्ञान और दर्शन का धारक, अर्हत्, जिन और केवली होकर केवलज्ञान की अवस्था में अवस्थित हूँ। (भगवती 6/230)

जमाली का यह आत्म-ख्यापन गौतम को प्रिय नहीं लगा। उन्होंने जमाली से कुछ तात्त्विक प्रश्न पूछे। वह उत्तर नहीं दे सका। यह जान और देखकर भगवान् ने जमाली से कहा—जमाली! यद्यपि मेरे बहुत से अन्तेवासी अर्थात् शिष्य श्रमण निर्ग्रन्थ छद्मस्थ हैं, फिर भी वह इन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं, जितना मैं, तथापि वे ऐसा कभी नहीं बोलते, जैसा तुम बोल रहे हो, कि मैं सर्वज्ञ हूँ। (भगवती 6/233)

ऐसे ओर भी प्रसंग भगवती सूत्र में उपलब्ध हैं जब भगवान् ने अपनी अनुशासना में प्रतिवाद का प्रयोग किया।

अनुशासनहीनता के इस युग में भी उनके अनुशासन की शैली अप्रासंगिक नहीं है। वह मनोविज्ञान, बाल मनोविज्ञान, व्यावहारिक मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान के संदर्भ में आज भी अध्ययन अनुशीलन और प्रयोग का विषय है। वर्तमान की प्रशासन-प्रणाली भी इस शैली से उपकृत हो सकती है।

19.13 प्रायश्चित्त

19.13.1 प्रायश्चित्त की परिभाषा

पापं छिदति जग्मा पायच्छितं तु भुण्णइ तेणं।

पाएण वावि चितं विसोहए तेण पच्छितं।।

जो पापकर्मों को क्षीण करता है वह प्रायश्चित्त है।

जो प्रचुरता से चित्त-आत्मा का विशोधन करता है, वह प्रायश्चित्त है।

जो चित्तविशुद्धि का प्रशस्त हेतु है, वह प्रायश्चित्त है।

असत्य आचरण का अनुस्मरण करना प्रायश्चित्त है।

19.13.2 प्रायश्चित्त का प्रयोजन

अपराध (नियमों का अतिक्रमण) होने पर आत्मा मलिन होती है। उसका विशोधि के लिए अनुष्ठान किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है। अपराध शल्य है। शल्य को दूर करने के लिए जो किया जाता है वह प्रायश्चित्त है। आठों कर्म पाप है। उनके रहते निर्वाण नहीं होता। उनके उन्मूलन के लिए जो किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है।

19.13.3 प्रायश्चित्त के प्रकार

प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं।

1. **आलोचना**—गुरु के समक्ष अपने दोषों का विवेचन करना। गुरु को सूचित किए बिना परस्पर वाचना अर्थात् पढ़ाने पर, परिवर्तना करने पर तथा वस्त्र आदि का आदान-प्रदान करने पर गुरु को निवेदन करना।
2. **प्रतिक्रमण**—किए हुए पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिथ्या में दुष्कृतम्' ऐसा कहना। प्रवचन आदि में अथवा आवश्यक कार्यों में सहयोग नियमों का अतिक्रमण होने पर दूसरों से प्रेरित हो या स्वयं स्मृति कर 'मिच्छामि दुष्कृतं' करना।
3. **तदुभय**—आलोचना एवं प्रतिक्रमण—दोनों करना। मूलगुण अथवा उत्तरगुणों के अतिक्रमण में संदेह होने पर अथवा जानबूझकर अतिक्रमण करने पर तदुभय प्रायश्चित्त होता है।
4. **विवेक**—अशुद्ध आहार आदि का उत्सर्ग करना। उद्गम आदि दोषों से अशुद्ध आहार आदि ग्रहण करने के पश्चात् नानकारी होने पर उस आहार का विर्सजन करना विवेक प्रायश्चित्त है।
5. **तप**—उपवास आदि करना। मूलगुण-उत्तरगुण में अतिचार होने पर अतिचार के अनुरूप तप करना तप प्रायश्चित्त है।
6. **व्युत्सर्ग**—गमनागमन, स्वप्न, नंदीस्तंभ आदि प्रसंगों पर कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।
7. **छेद**—संयम-काल को छेदकर कम कर देना। अपराधों का उपचय और शासनविरुद्ध समाचरण होने पर तथा तप के योग्य प्रायश्चित्त का अतिक्रमण होने पर प्रव्रज्या के पांच दिन आदि का छेद करना, संयमपर्याय को कम करना छेद प्रायश्चित्त है।
8. **मूल**—पुनः व्रतारोपण करना। प्रागद्वतर अपराध होने पर संयमपर्याय का मूल से विच्छेद करना—नई दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है।
9. **अनवस्थाप्य**—तपस्या पूर्वक व्रतारोपण करना। एक निश्चित अवधि के बाद पुनः दीक्षा देना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है।
10. **पारांचित्त**—अवहेलना पूर्वक व्रतारोपण करना। इसमें क्षेत्र व देश से व्यक्ति को पृथक् कर दिया जाता है।

छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारंक्षित प्रायश्चित्त का प्रयोग देश, काल और पुरुष की शक्ति आदि को ध्यान में रखकर किया जाता है।

19.13.4 प्रायश्चित्त के परिणाम

पायच्छित्तकरणेण पावकम्मविसोहिं जणयइ निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणं मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ आयारं च आयारफलं च आरोहेइ। (उ 29/17)

प्रायश्चित्त करने से जीव पापकर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार अर्थात् दोषों से रहित हो जाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्गफल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र्य) तथा आचार फल (मुक्ति) की आराधना करता है।

19.14 साधना

संघ, संघीय, अनुशासन एवं प्रायश्चित्त—ये सारे साधना के परिप्रेक्ष्य में चिन्तनीय हैं। साधक का प्रधान लक्ष्य आत्म-साधना है। साधना के मूल आधार-सूत्र साधना के मापदण्ड एवं आत्म-विकास की प्रक्रिया को समझ कर ही श्रमण साधक संघ-बद्ध साधना के क्रम में सफल हो सकता है। इस दृष्टि से इन सबका संक्षिप्त परिचय भी आवश्यक है।

19.14.1 साधना के सूत्र

1. अप्रमाद

साधना का प्रथम सूत्र अप्रमाद है। अप्रमत्त व्यक्ति ही दुःखों का अंत करता है। एक बार 'आर्यो! आओ।' भगवान् ने गौतम आदि श्रमणों को आमंत्रित किया।

भगवान् ने पूछा—'आयुष्यमन् श्रमणो! जीव किससे डरते हैं?'

गौतम आदि श्रमण निकट आये, वन्दना की, नमस्कार किया। विनम्र भाव से बोले—'भगवन्! हम नहीं जानते, इस प्रश्न का क्या तात्पर्य है?'

भगवान् बोले—'आर्यो! जीव दुःख से डरते हैं।'

गौतम ने पूछा—'भगवन्! दुःख का कर्त्ता कौन है और उसका कारण क्या है?'

भगवान्—'गौतम! दुःख का कर्त्ता जीव और उसका कारण प्रमाद है।'

गौतम—'भगवन्! दुःख का अन्त-कर्त्ता कौन है और उसका कारण क्या है?'

भगवान्—'गौतम! दुःख का अन्त-कर्त्ता जीव है और उसका कारण अप्रमाद है।'

2. उपशम

मानसिक सन्तुलन के बिना कष्ट-सहन की क्षमता नहीं आती। उसका उपाय उपशम अर्थात् क्रोध आदि कषायों का शान्त होना है। व्याधियों (शारीरिक बीमारी) की अपेक्षा मनुष्य को आधियां अधिक सताती हैं। हीन-भावना और उत्कर्ष-भावना की प्रतिक्रिया दैहिक कष्टों से अधिक भयंकर होती है। इसलिए भगवान् ने कहा—'जो निर्मम और निरहंकार है, निःसंग है, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव से रहित है, सब जीवों के प्रति सम है; लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मौत, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम है; अकषाय, अदण्ड, निःशल्य और अभय है; हास्य, शोक और पौद्गलिक सुख की आशा से मुक्त है; ऐहिक और पारलौकिक बन्धन से मुक्त है; पूजा और प्रहार में सम है; आहार और अनशन में सम है; अप्रशस्त वृत्तियों का संवारक है; अध्यात्म-ध्यान और योग में लीन है, प्रशस्त आत्मानुशासन में रत है; श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र्य और तप में निष्ठावान् है—वही भावितात्मा श्रमण है।'

भगवान् ने कहा—'कोई श्रमण कभी कलह में फंस जाए तो वह तत्काल सम्भलकर उसे शान्त कर दे। वह क्षमा-याचना कर ले। सम्भव है, दूसरा श्रमण वैसा करे या न करे, उसे आदर दे या न दे, उठे या न उठे, वन्दना करे या न करे, किन्तु जो कलह का उपशमन करता है वह धर्म की आराधना करता है, जो उसे शान्त नहीं करता उसके धर्म की आराधना नहीं होती। इसलिए आत्म-गवेषक श्रमण को उसका उपशमन करना चाहिए।'

गौतम ने पूछा—'भगवन्! उसे अकेले को ही ऐसा क्यों करना चाहिए?'

भगवान् ने कहा—‘गौतम! श्रामण्य उपशम-प्रधान है। जो उपशम करेगा वही श्रमण, साधक या महान् है।

उपशम विजय का मार्ग है। जो उपशम-प्रधान होता है, वही मध्यस्थ-भाव और तटस्थ-नीति को बरत सकता है।

3. साम्य-योग

जाति और रंग, ये बाहरी आवरण हैं। वे जीव को हीन और उच्च नहीं बनाते।

बाहरी आवरणों को देख जो दृष्ट और रुष्ट होते हैं, वे मूढ़ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभिमान की वृत्ति होती है। इसलिए किसी के प्रति भी तिरस्कार, तृष्णा और निम्नता का व्यवहार करना हिंसा है, व्यामोह है।

4. तितिक्षा

भगवान् ने कहा—‘गौतम! अहिंसा का आधार तितिक्षा है। जो कष्टों से घबराता है वह अहिंसक नहीं हो सकता।’

इस शरीर को खपा। साध्य (आत्म-हित) खपने से सधता है।

इस शरीर को तपा। साध्य तपने से सधता है।

5. अभय

लोक-विजय का मार्ग अभय है। जो स्वयं अभय होता है, वह दूसरों को अभय दे सकता है। स्वयं भीत दूसरों को अभीत नहीं कर सकता।

6. आत्मानुशासन

भगवान् ने कहा—‘गौतम! तू आत्मानुशासन में आ। अपने आपको जीता। यही दुःख मुक्ति का मार्ग है। मनाओं, इच्छाओं और वासनाओं को जीता। यही दुःख मुक्ति का मार्ग है। कषाय-विजय, काम-विजय, इन्द्रिय-विजय, मनोविजय, शस्त्र-विजय और साम्य-दर्शन यही दुःख मुक्ति के उपाय हैं।

संवर और निर्जरा

यह जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति)—इन पांच आस्रवों के द्वारा विजातीय-तत्त्व का आकर्षण करता है। यह जीव अपने हाथों ही अपने बन्धन का जाल बुनता है। जब तक आस्रव का संवरण नहीं होता, तब तक विजातीय तत्त्व का प्रवेश-द्वार खुला ही रहता है।

भगवान् ने दो प्रकार का धर्म कहा है—संवर और निर्जरा (तपस्या)। संवर के द्वारा नये विजातीय द्रव्य के संग्रह का निरोध होता है और तपस्या के द्वारा पूर्व-संचित संग्रह का विलय होता है। जो व्यक्ति विजातीय द्रव्य का नये पिर से संग्रह नहीं करता और पुराने संग्रह को नष्ट कर डालता है, वह उससे मुक्त हो जाता है।

19.14.2 साधना का मानदण्ड

भगवान् ने कहा—‘गौतम! साधना के क्षेत्र में व्यक्ति के अपकर्ष-उत्कर्ष या अवरोह-आरोह का मानदण्ड संवर (विजातीय तत्त्व का निरोध) है।

संयम और आत्म-स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति का चरम-बिन्दु एक है। पूर्ण संयम यानी असंयम का पूर्ण अन्त, असंयम का पूर्ण अन्त यानी आत्मा का पूर्ण विकास। जो व्यक्ति भोग-तृष्णा का अन्तकर अर्थात् अंत करने वाला है, वही इस अनादि दुःख का अन्तकर है।

19.14.3 आत्म विकास के सूत्र

पहला सूत्र है—अपनी पूर्णता और स्वतन्त्रता का अनुभव—मैं पूर्ण हूँ, स्वतंत्र हूँ। जो परमात्मा है, वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है।

दूसरा सूत्र है—चेतन-पुद्गल विवेक—मैं भिन्न हूँ, शरीर भिन्न है। मैं चेतन हूँ वह अचेतन है।

तीसरा सूत्र है—आनन्द बाहर से नहीं आता। मैं आनन्द का अक्षयकोष हूँ। पुद्गल-पदार्थ के संयोग से जो सुखानुभूति होती है, वह अतात्त्विक है। मौलिक आनन्द को दबा वह व्यामोह उत्पन्न करती है।

चौथा सूत्र है—पुद्गल-विरक्ति या संसार के प्रति उदासीनता। पुद्गल से पुद्गल को तृप्ति मिलती है, मुझे नहीं। पर-तृप्ति में स्व का जो आरोप है, वह उचित नहीं।

जो पुद्गल-वियोग आत्मा के लिए उपकारी है, वह देह के लिए अपकारी है और जो पुद्गल-संयोग देह के लिए उपकारी है, वह आत्मा के लिए अपकारी है।

पांचवां सूत्र है—ध्येय और ध्याता का एकत्व। ध्येय परमात्मपद है। वह देह से भिन्न नहीं है। ध्यान आदि की सम्प्रसाधना होने पर मेरा ध्येय रूप प्रकट हो जाएगा।

19.14.4 अक्रियावाद

दर्शन के इतिहास में वह दिन अति महत्वपूर्ण था, जिस दिन अक्रियावाद का सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ। आत्मा की खोज भी उसी दिन पूर्ण हुई, जिस दिन मननशील मनुष्य ने अक्रियावाद का मर्म समझा।

मोक्ष का स्वरूप भी उसी दिन निश्चित हुआ, जब दार्शनिक जगत् ने 'अक्रियावाद' को निकट से देखा।

गौतम ने पूछा—'भगवन्! जीव सक्रिय हैं या अक्रिय? भगवान् ने कहा—'गौतम! जीव सक्रिय हैं और अक्रिय भी। जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त और संसारी। मुक्त जीव अक्रिय होते हैं। अयोगी (शैलेशी-अवस्था-प्रतिपन्न) जीवों को छोड़ शेष सब संसारी जीव सक्रिय होते हैं।

शरीर-धारी के लिए क्रिया सहज है, ऐसा माना जाता था। पर 'आत्मा का सहज रूप अक्रियामय है'—इस संवित् अर्थात् ज्ञान का उदय होते ही 'क्रिया आत्मा का विभाव है यह निश्चय हो गया। क्रिया वीर्य से पैदा होती है। योग्यतात्मक वीर्य मुक्त जीवों में भी होता है। किन्तु शरीर के बिना वह स्फुटित नहीं होता। इसलिए वह लब्धि-वीर्य ही कहलाता है। शरीर के सहयोग से लब्धि-वीर्य (योग्यतात्मक वीर्य) क्रियात्मक बन जाता है। इसलिए उसे 'करण-वीर्य' की संज्ञा दी गई। वह शरीरधारी के ही होता है।

आत्मवादी का परम या चरम साध्य-मोक्ष है। मोक्ष का मतलब है शरीर-मुक्ति, बन्धन-मुक्ति, क्रिया-मुक्ति। क्रिया से बन्धन, बन्धन से शरीर और शरीर से संसार—यह परम्परा है। मुक्त जीव अशरीर, अबन्ध और अक्रिय होते हैं।

कर्म से कर्म का क्षय नहीं होता, अकर्म से कर्म का क्षय होता है। ज्यों ही यह कर्म-निवृत्ति का घोष प्रबल हुआ, त्यों ही व्यवहार-मार्ग का द्वन्द्व छिड़ गया। कर्म जीवन के इस छोर से उस छोर तक लगा रहता है। उसे करने वाले मुक्त नहीं बनते। उसे नहीं करने वाले जीवन-धारण भी नहीं कर सकते, समाज और राष्ट्र के धारण की बात तो दूर रही।

इस विचार-संघर्ष से कर्म (प्रवृत्ति)-शोधन की दृष्टि मिली। अक्रियात्मक साध्य (मोक्ष) अक्रिया के द्वारा ही प्राप्य है। आत्मा का अभियान अक्रिया की ओर होता है, तब साध्य दूर नहीं रहता। इस अभियान में कर्म रहता है पर वह अक्रिया से परिष्कृत बना हुआ रहता है। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म। प्रमत्त का कर्म बाल-वीर्य अर्थात् अज्ञानी का वीर्य होता है और अप्रमत्त का कर्म पंडित-वीर्य अर्थात् ज्ञानी का वीर्य होता है। पंडित-वीर्य अस्त-क्रिया-रहित होता है, इसलिए वह प्रवृत्ति रूप होते हुए भी निवृत्ति रूप अकर्म है—मोक्ष का साधन है।

साधना के पहले चरण में ही सारी क्रियाओं का त्याग शक्य नहीं है। मुमुक्षु साधना की पूर्व-भूमिकाओं में क्रिया-प्रवृत्त रहता है। किन्तु उसका लक्ष्य क्रिया से निवृत्त होना होता है, इसलिए वह कुछ भी न बोले। अगर बोलना आवश्यक हो तो भाषा-समिति (दोष-रहित पद्धति) से बोले। वह चिन्तन न करे। अगर उसके न रह सके तो आत्महित की बात ही सोचे—वह कुछ भी न करे। अगर किये बिना न रह सके तो वही करे जो साध्य से दूर न ले जाए। यह क्रिया-शोधन का प्रकरण है। इस चिन्तन से संयम, चरित्र, ध्यान आदि साधनों को जन्म दिया और उनका विकास किया।

निश्चय-दृष्टि के अनुसार समूह आरोपवाद या कल्पनावाद है। ज्ञान वैयक्तिक होता है। अनुभूति वैयक्तिक होती है। संज्ञा और प्रज्ञा वैयक्तिक होती है। जन्म, मृत्यु वैयक्तिक है। एक का किया हुआ कर्म दूसरा नहीं भोगता। सुख-दुःख का संवेदन भी वैयक्तिक है।

सामूहिक अनुभूतियाँ कल्पित होती हैं। वे सहजतया जीवन में उतर नहीं आतीं। जिस समूह-परिवार, समाज या राष्ट्र से सम्बन्धों की कल्पना जुड़ जाती है, उसी की स्थिति का मन पर प्रभाव होता है। यह मान्यता मात्र है। उनकी स्थिति ज्ञात होती है, तब मन उससे प्रभावित होता है। अज्ञात दशा में उन पर कुछ भी बीते, मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

निश्चय-दृष्टि उपादान-प्रधान है। उसमें पदार्थ के शुद्ध रूप का ही प्ररूपण होता है। व्यवहार की दृष्टि स्थूल है। इसलिए वह पदार्थ के सभी पहलुओं को छूता है। निमित्त को भी पदार्थ के अभिन्न मान लेता है। समूहगत एकता का यही बीज है। इसके अनुसार क्रिया-प्रतिक्रिया सामाजिक होती है। समाज से अलग होकर व्यक्ति जी नहीं सकता। समाज के प्रति जो व्यक्ति अनुत्तरदायी होता है वह अपने कर्तव्यों को नहीं निभा सकता। इसमें परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ जुड़ने की संवेदनशीलता की बात होती है।

जैन-दर्शन का मर्म नहीं जानने वाले इसे नितान्त व्यक्तिवादी बताते हैं। पर यह सर्वथा सच नहीं है। वह अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति के व्यक्तिवादी होने का वर्जन करता है किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में समष्टिवाद की मर्यादाओं का निषेध भी करता है। निश्चय-दृष्टि से वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व को आत्मनिष्ठ ही स्वीकार करता है, इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने बाह्य साधना-शील आत्मा को पर-समयत अर्थात् दूसरों के सिद्धान्तों में रत कहा है।

औपचारिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व को परनिष्ठ मानने के लिए वह अनुराग भी नहीं है। इसलिए—‘सिद्ध मुझे सिद्धि दे’—ऐसी प्रार्थनाएं की जाती हैं।

प्राणिमात्र के प्रति, केवल मानव के प्रति ही नहीं, आत्म-तुल्य दृष्टि और किसी को भी कष्ट न देने की वृत्ति आध्यात्मिक संवेदनशीलता और सौमित्र है। इसी में से प्राणी की असीमता का विकास होता है।

19.15 साधना

साधक का प्रयत्न है—सत्या उसे पाने के लिए जो खज है, वह साधना है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक जितनी भी साधना-पद्धतियाँ विकसित हुई हैं, उनके अपने स्वतन्त्र नाम और स्वतन्त्र प्रयोग रहे हैं। आगमकालीन साधना पद्धतियों में जिनकल्प, स्थविरकल्प, परिहार विशुद्ध, यथालन्दक आदि पद्धतियाँ विशेष प्रचलित थीं।

19.15.1 जिनकल्प साधना

जिनकल्प का शाब्दिक अर्थ होता है—वीतराग जैसा कल्प, अर्थात् आचार, दिनचर्या और बाह्य जीवन व्यवस्था। जिनकल्प साधना को कई साधक संन्यास ग्रहण करने के साथ ही स्वीकार करते हैं और कई अपने सामर्थ्य पर भरोसा हो जाने के बाद। जिनकल्प साधक निम्न पांच भावनाओं का अभ्यास करते हैं—

1. **तपो भावना**—जिनकल्पिक मुनि सर्वप्रथम देह-ममत्व को तोड़ने के लिए तप का प्रयोग करते हैं। इस साधना में बाह्य तप अनिवार्य नहीं होता। ध्यान, कायोत्सर्ग और समत्व योग की अनिवार्यता होती है।
2. **एकत्व भावना**—एकत्व भावना देहात्म-भिन्नता का भाव जागृत करती है। स्नेह के धागों से बंधी आत्मा एकत्व भावना के बल से स्वयं के अस्तित्व का स्वतन्त्र अनुभव करने लगती है। उसका साधना सूत्र होता है—‘एगोहं नत्थि मे कोवि’।
3. **बल भावना**—बल के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। बल-भावना श्रुति का एक कारण है। बिना श्रुति के जप, तप, ध्यान आदि सारी क्रियाएं निष्फल और अर्थशून्य हैं।
4. **सत्त्व भावना**—सत्त्व मानसिक बल का प्रतीक है। कई साधक शरीर से सबल होकर भी मानसिक बल के अभाव में आत्मसमर में जूझ नहीं पाते। इसलिए सर्वप्रथम भय और निद्रा पर विजय पाने के लिए निम्नोक्त विधि से क्रमिक अभ्यास करते हैं—

1. सब साधुओं के सो जाने पर उपाश्रय में एकाकी कायोत्सर्ग करना पहली सत्त्व भावना है।
2. इस अभ्यास के सध जाने पर उपाश्रय के बाहर करना दूसरी सत्त्व भावना है।
3. चौराहे पर करना तीसरी सत्त्व भावना है।
4. शून्य गृह में करना चौथी सत्त्व भावना है।
5. श्मशान में करना पांचवीं सत्त्व भावना है।

5. **सूत्र भावना**—सूत्रों का स्वाध्याय, अर्थात् उनके बार-बार परावर्तन एवं अनुप्रेक्षा करने से काल का ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए सूत्र स्वाध्याय पर विशेष बल दिया गया है।

प्रारम्भ में जिनकल्पिक मुनि एक-प्रहर प्रमाण रात्रिक कायोत्सर्ग करते हैं, फिर क्रमशः दो प्रहर, तीन प्रहर और पूर्ण रात्रिक कायोत्सर्ग का अभ्यास करते हैं। इतना अभ्यास सहज हो जाने के बाद वे गण-व्युत्सर्ग करते हैं अर्थात् संघ को छोड़ देते हैं। इस प्रकार साधना करते हुए जीवन के अन्तकाल में पादोपगमन अर्थात् वृक्ष की डाली की तरह अनेक अडोल रहते हुए संशारे में प्राणों का परित्याग करते हैं।

19.15.2 यथालन्दक साधना

‘यथालन्दक’ इसमें दो शब्द हैं—यथा और लन्द। यथा सांकेतिक शब्द है, जिसका पूरा अर्थ है—यथाविधि, अर्थात् सूत्रोक्त विधि के अनुसार। लन्द का अर्थ है, समय का छोटा भाग जो जल से भीगी हुई हस्तरेखा के सूखने में पर्याप्त है। उतने समय तक भी यथालन्दक मुनि प्रमाद नहीं करते। यथालन्दक मुनि जागरूक होते हैं। वे बहुत कम सोते हैं। नींद खुलते ही तुरन्त स्वाध्याय में बैठ जाते हैं। यथालन्दक साधना जिनकल्प के साथ भी होती है और स्वतंत्र भी। जो दोनों को साथ-साथ करते हैं वे मारणान्तिक कष्ट उत्पन्न होने पर भी सेवा और चिकित्सा की कामना नहीं करते। स्थविरकल्पी यथालन्दक मुनि सेवा की अपेक्षा गण से पूरी करते हैं।

उनकी भिक्षा विधि कठोर और सरल दोनों थी। वे हर सात्विक भोजन को स्वीकार करते, परन्तु अभिग्रहपूर्वक लेते। आज किस ओर गोचरी जाना है, यह निर्णय उपाश्रय के बाहर निकलने के बाद लेते, इससे पूर्व नहीं। यदि यथोचित आहार-पानी नहीं मिलता तो उस दिन अल्पाहार लेते या फिर निराहार रहते।

गच्छ से बाहर रहकर साधना करने वाले मुनियों की लगभग समाचारी और व्यवस्थाएं जिनकल्पिक मुनियों के समान होती थीं। इस साधना की समाप्ति के बाद कई जिनकल्प साधना को स्वीकार कर लेते और कई गण में वापस आ जाते। वे कभी प्रमाद नहीं करते। इस प्रकार अप्रमत्तता का प्रतीक यथालन्दक साधना क्रम है।

19.15.3 परिहार विशुद्ध साधना

जैन साधना पद्धति तप और ध्यान प्रधान रही है। तप से शरीर, इन्द्रिय और मन के मल का नाश होता है और ध्यान से अन्तः सम्भावित शक्तियों का जागरण और उत्थान। परिहार-विशुद्ध साधना इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक है। आचार्य मलयगिरि ने ‘आवश्यक निर्युक्ति’ में इस साधना के चर्या-सूत्रों की विवेचना करते हुए लिखा है— इस साधना का आचार-सूत्र एकाग्रता है। एकाग्रता से तात्पर्य है— अप्रमत्तता की पूर्वदशा।

“तेषां कल्पः एकाग्रता प्रधानः तद् भंगे गुरुतरो दोषः” परिहार विशुद्ध साधक यदि एक क्षण के लिए भी मानसिक व्यग्रता का सेवन करते हैं तो उन्हें चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

इस विधि से साधना करने वाले मुनि आहार और विहार दोनों तीसरे प्रहर में किया करते थे तथा अवशेष सारा समय आत्म-जागरण और कायोत्सर्ग में बिताते थे। वे सामान्यतया एक प्रहर से अधिक नहीं सोते।

‘तद्व्यापे पोरिसिए, भिक्षु-कालो विहार-कालोय। सेसासुये उस्सगो, पायं अप्पाय णिद्धेति’ (आवश्यक निर्युक्ति, पृ.122)

29 वर्ष की आयु के पूर्व यह चरित्र पर्याय किसी भी मुनि को नहीं दी जाती। इस चरित्र का प्रशिक्षण दीक्षा स्वीकार करने के पूर्व दिया जाता है ताकि दीक्षित होने के बाद एक क्षण भी निर्लक्ष्य जीवन जीना न पड़े।

नौ साधुओं का एक समूह होता है जो अठारह महीनों के लिए साधना के विशेष प्रकारों का अभ्यास करता है। प्रथम क्रम में चार मुनि तपस्या करते हैं और शेष चार मुनि आहार-पानी की गवेषणा और आचार्यकल्प-स्थित मुनि की परिचर्या करते हैं। छः मास के बाद जो साधक मुनि होते हैं वे पर्युपासक बनते हैं, और जो पर्युपासक (सेवक) होते हैं वे साधक। तीसरी आवृत्ति में आचार्य साधक बनते हैं और शेष आठों पूर्व

निर्धारित साधना करते हुए जनकल्याण कार्य, आहार-गवेषणा और गुरु-सेवा में अपना विशेष समय लगाते हैं। इस प्रकार अठारह मास की एक अवधि पूर्ण होने के बाद कई साधक योग्य साथ पाकर पुनः उसी में जुट जाते हैं और कई वापस गण में चले जाते हैं। जो इन दोनों में नहीं जाते वे जिनकल्प साधना स्वीकार करते हैं।

19.15.4 स्थविर कल्प साधना

स्थविर उसे कहा जाता है जो समूह (गच्छ या गण) में रहता है। गच्छवासी को पांच भागों में विभक्त किया गया है— 1. आचार्य 2. उपाध्याय 3. भिक्षु 4. स्थविर 5. क्षुल्लक।

स्थविर प्रथम बारह वर्ष तक सूत्र का अध्ययन करते हैं और बाद के 12 वर्ष सूत्र के अर्थ को समझने में लगाते हैं। सूत्र और अर्थ का अध्ययन पूर्ण होने के बाद देश के विभिन्न भागों में यात्रा करते हैं। जिनकल्पी साधना की अपेक्षा स्थविरकल्प की साधना करने वालों का विहार द्रव्य, क्षेत्र आदि से अप्रतिबद्ध होता है। ये इच्छाकार, मिच्छाकार आदि दस प्रकार की समाचारी का पालन करते हैं, जो इनकी अप्रमत्तता को पुष्ट करते हैं।

जिनकल्प, परिहारविशुद्धकल्प, यथालन्दक कल्प के लिए जिन सामान्य नियमों का प्रतिबन्ध होता है उनका प्रतिबन्ध इनके लिए नहीं होता जैसे— क्षेत्र, संख्या, अभिग्रह, भिक्षा-संबन्धी-निवम आदि।

19.16 सारांश

इस प्रकार ये कुछ आगमकालीन विशिष्ट साधना पद्धतियाँ भी थी जिनका अभ्यास साधक मुनि करते थे।

19.17 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन शासन में संघीय व्यवस्था का विस्तार (सात पदों का विकास) कब हुआ? व्यवस्था संचालन में आचार्य की भूमिका समझाये?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. महावीर की अनुशासन शैली के मुख्य अंग कौन-कौन से हैं?
2. साधना के सूत्र क्या हैं? आगमकालीन साधना पद्धतियों का निरूपण करें?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

- छेद सूत्रों के रचयिता कौन हैं?
(अ) आचार्य हरिभद्र (ब) आचार्य भद्रबाहु (स) आचार्य सुषर्मा (द) आचार्य जिनभद्रगणी
- उपाध्याय का मुख्य कार्य होता है—
(अ) सूत्र की वाचना देना (ब) संघ की सभाल करना (स) मौन साधना करना (द) एकान्त वास करना
- प्रायश्चित्त करने का प्रयोजन क्या है—
(अ) भूल की स्वीकृति (ब) स्वर्ग की प्राप्ति (स) आत्मविशोधि (द) यश की प्राप्ति
- प्रायश्चित्त के कितने प्रकार हैं— (अ) पांच (ब) दस (स) बारह (द) बीस
- जिनकल्प साधना की जाती है—
(अ) गण में रहकर (ब) गण से बाहर (स) दूसरे गण में जाकर (द) इच्छानुसार
- संघ का मुख्य आधार है— (अ) अव्यवस्था (ब) व्यवस्था (स) मान (द) सम्मान
- प्रवर्तक के परम सहयोगी होते थे— (अ) स्थविर (ब) आचार्य (स) उपाध्याय (द) गणी
- मुक्त जीव होते हैं— (अ) सक्रिय (ब) अक्रिय (स) दोनों (द) दोनों नहीं
- परिहार विशुद्ध साधना का आचार-सूत्र है—
(अ) सेवा (ब) सहयोग (स) एकाग्रता (द) इनमें से कोई नहीं
- बौद्ध दर्शन में अनुशासनसूत्रों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है—
(अ) सुत्त पिटक (ब) अभिषम्म पिटक (स) माध्यमिक कारिका (द) विनय पिटक



इकाई-20 : नव तत्त्व

संरचना

- 20.0 प्रस्तावना
- 20.1 उद्देश्य
- 20.2 नव तत्त्व
- 20.3 सारांश
- 20.4 अभ्यास प्रश्नावली

20.0 प्रस्तावना

प्रस्तुत पत्र के खण्ड क में हम जैन तत्त्व-मीमांसा का अध्ययन कर रहे हैं। तब प्रश्न होता है कि नव तत्त्व का विषय आचार-मीमांसा में क्यों लिया गया? इसका समाधान यह है कि तत्त्व शब्द के दो फलितार्थ हैं—1. अस्तित्व की दृष्टि से जो मूल वस्तु या पदार्थ है, वह तत्त्व है, जिसे हम सत् (Reality) भी कहते हैं। यह तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics) का विषय है।

2. तत्त्व का दूसरा अर्थ है—“तत्त्वं पारमार्थिक वस्तु”—जो परमार्थ यानी मोक्ष की प्राप्ति में साधक या बाधक बनता है, वह पारमार्थिक पदार्थ तत्त्व है। ‘नव तत्त्वों’ में विवेचित सभी तत्त्व की मीमांसा इस दृष्टि से की गई है, इसलिए ये आचार-मीमांसा के तत्त्व हैं, न कि तत्त्व-मीमांसा के। जैसे इस पाठ में हम समझेंगे 9 तत्त्वों में संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तीन तत्त्व आध्यात्मिक हैं—परमार्थ के साधक हैं तथा शेष छह उसमें बाधक हैं। मोक्ष की साधना करने वाला साधक व्यक्ति अजीव, पुण्य, पाप, बंध, जीव और आश्रव—इन छहों से मुक्त होकर “मोक्ष” तत्त्व तक पहुंचता है जिसमें संवर और निर्जरा उसका साधना-मार्ग है।

20.1 उद्देश्य- इस प्रकार नव तत्त्वों को हमें आचार-मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा।

20.2 नव तत्त्व

20.2.1 परिभाषा और स्वरूप

जैन दर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझाने के लिए दो पद्धतियाँ काम में ली गई हैं—जागतिक और आत्मिक। जहां जागतिक विवेचन की प्रमुखता है, वहां छह द्रव्यों की चर्चा है और जहां आत्मिक तत्त्व प्रमुख हैं, वहां नव तत्त्व का विवेचन उपलब्ध होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है—

“जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तह।

संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव।।

तहियाणं तु भावाणं सम्भावे उवएसणं।

भावेणं सदहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं।।

अर्थात्—जीव, अजीव, बंध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव तथ्य (तत्त्व) हैं। इन तथ्य-भावों के सद्भाव (वास्तविक अस्तित्व) के निरूपण में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है, उसे सम्यक्त्व कहा गया है।” ठाणं में तथ्य के स्थान पर सद्भाव पदार्थ का प्रयोग हुआ है। तथ्य, पदार्थ और तत्त्व—ये सब पर्यायवाची हैं। उत्तराध्ययन के वृत्तिकार ने तथ्य का अर्थ ‘अवितथ’ किया है अर्थात् जो वास्तविक है।

आचार्य उमास्वाति ने सम्यग् दर्शन की परिभाषा करते हुए बताया है कि “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” अर्थात्—तत्त्व के अर्थ के प्रति जो श्रद्धान है, वह सम्यग् दर्शन है। यहां तत्त्व का तात्पर्य है—जो अर्हत् के द्वारा जीव आदि पदार्थों का स्वरूप निरूपित है, उस तत्त्वार्थ के प्रति जो श्रद्धान है, वही सम्यग् दर्शन है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मोक्ष साधना की दृष्टि से जिनका स्वरूप ज्ञेय है, वह तत्त्व है। इस प्रकार मोक्ष-साधना में उपयोगी ज्ञेय पदार्थ को तत्त्व कहा जाता है।

ऊपर उद्धृत उत्तराध्ययन के श्लोक में नौ तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। वस्तुवत्ता तत्त्व दो ही हैं—

1. जीव और 2. अजीव। (ठाणं, 2/1)

नौ तत्त्व इन दो विभागों में समाविष्ट हो जाते हैं। यथा—जीव, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—जीव में। अजीव, पुण्य, पाप और बंध—अजीव में।

आश्रव आदि आत्मा के ही विशेष परिणाम हैं और पुण्य, पाप आदि पौद्गलिक कर्म अजीव के ही विशेष परिणाम हैं। जिस प्रकार लोक की व्यवस्था के लिए छह द्रव्य आवश्यक हैं, उसी प्रकार आत्मा के आरोह और अवरोह को जानने के लिए नौ तत्त्व उपयोगी हैं। इनके बिना आत्मा के विकास या ह्रास की प्रक्रिया बुद्धिगम्य नहीं हो सकती।

दिगम्बर-ग्रंथों में नौ तत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्व माने गए हैं। पुण्य-पाप को बंध के अंतर्गत माना गया है। दोनों मान्यताएं आपेक्षिक हैं, उनमें स्वरूप-भेद कुछ भी नहीं है। जब इनकी पृथक् विवक्षा हो, तो तत्त्व नौ और यदि इनकी स्वतंत्र विवक्षा न हो, तो वे सात होते हैं। पुण्य से लेकर मोक्ष तक के सात तत्त्व स्वतंत्र नहीं हैं। वे जीव और अजीव की अवस्था-विशेष हैं। पुण्य, पाप और बंध पौद्गलिक हैं, इसलिए अजीव के पर्याय हैं। आश्रव आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति भी है और शुभ-अशुभ कर्म-पुद्गलों का आकर्षक भी है इसलिए इसे मुख्यतया कुछ आचार्य जीव पर्याय मानते हैं कुछ अजीव-पर्याय मानते हैं। यह विवक्षा भेद है। संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव की परिणति विशेष हैं, अतः जीव की पर्याय हैं।

नव तत्त्वों में पहला तत्त्व जीव है और नवां तत्त्व मोक्ष है। जीव के दो प्रकार बतलाये गये हैं—बद्ध और मुक्त। यहां बद्ध जीव पहला और मुक्त जीव नवां तत्त्व है। अजीव जीव का प्रतिपक्षी है। वह बद्ध मुक्त नहीं होता। पर जीव का बंधन पौद्गलिक होता है, इसलिए साधना के क्रम में जीव के साथ-साथ अजीव की जानकारी भी आवश्यक है। बंधन-मुक्ति की जिज्ञासा उत्पन्न होने पर जीव साधक बनता है और उसका साध्य होता है—मोक्ष। शेष सारे तत्त्व मोक्ष-प्राप्ति में साधक या बाधक बनते हैं। पुण्य, पाप और बंध, मोक्ष के बाधक तत्त्व हैं। आश्रव को अपेक्षा-भेद से बाधक और साधक दोनों माना जाता है।

वैसे तो आश्रव तत्त्व कर्म-बंध का द्वार होने के कारण साधना में बाधक ही है; मुख्य रूप से पांच आश्रव हैं—मिथ्यात्व, अक्रत, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें प्रथम चार तो एकान्ततः अशुभ ही हैं किन्तु योग आश्रव शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का है। शुभ योग की प्रवृत्ति से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है; इस अपेक्षा से उसे मोक्ष-मार्ग का साधक कहा जा सकता है; किन्तु शुभ योग के साथ भी जो अनिवार्यतः पुण्य का बंध होता है, वह शुभ-योग-आश्रव तो बंधन का हेतु होने से बाधक ही है। संवर और निर्जरा ये दो मोक्ष के साधक तत्त्व हैं। कहा भी है—आश्रवो भव हेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।

संवर निरोधात्मक तत्त्व है और निर्जरा विशोधनात्मक तत्त्व है। संवर के द्वारा भविष्य में आने वाले कर्मों का निरोध एवं निर्जरा के द्वारा बंधे हुए कर्मों का विशोधन होने पर ही जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। नव तत्त्ववाद में मोक्ष के बाधक और साधक तत्त्वों का गंभीर विवेचन किया गया है।

20.20.2 जीव तत्त्व

नव तत्त्व विवेचन में जीव तत्त्व को प्रथम स्थान प्राप्त है। उत्तराध्ययन सूत्र में 'जीवो उवओग लक्खणो' इस सूत्र के द्वारा जीव तत्त्व के लक्षण को स्पष्ट किया गया है अर्थात् जिसमें उपयोग है वह जीव है। यहां उपयोग का आशय चेतना से है। प्रवचनसार के अनुसार इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणों से जो जीता है, जियेगा तथा पहले जीवित था वह जीव है। द्रव्य संग्रह की दूसरी गाथा में कहा है—

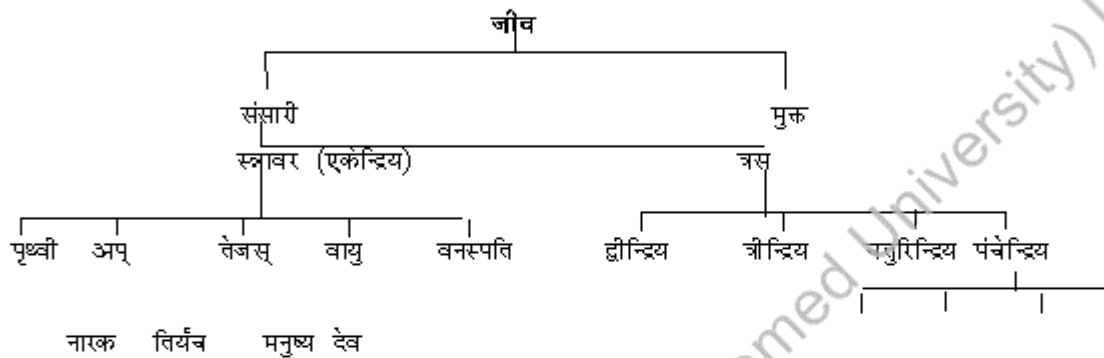
जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।

भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोद्धगई ॥

अर्थात् जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्त्तिक है, कर्त्ता है, भोक्ता है, स्वहेदह-परिमाणवाला और संसारस्थ है, सिद्ध होने की शक्ति रखता है तथा स्वभाव से ऊर्ध्वगति करने वाला है वह जीव है।

इस तरह जैन दृष्टि से जीव ज्ञान-चैतन्य स्वरूप तथा सदा प्रकाशयुक्त है। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर वह समस्त जड़ द्रव्यों से पृथक् माना जाता है। ज्ञान जीव का एक विशिष्ट गुण है, जिसके कारण जीव में जानने की प्रवृत्ति होती है। तत्त्वार्थसूत्र 2/10 में जीव तत्त्व के मुख्यतः दो भेद किये गये हैं—‘संसारिणो मुक्ताश्च’—संसारी और मुक्त। इस भेद का आधार कर्म है। जो जीव कर्म-बंधन से युक्त है वे संसारी हैं और जो कर्म-रहित हो गये हैं वे मुक्त हैं। कर्म-बंधन के कारण जीव नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं, ऐसे कर्म-सहित संसारी जीव पुनः दो भागों में विभक्त हैं—त्रस और स्थावर। स्थावर उपभेद तिर्यंच जीवों में ही मिलता है। पृथ्वी, अप, तैजस्, वायु और वनस्पति स्थावर जीव हैं। शेष मनुष्य, देव व नारक त्रस कोटि में आते हैं। जो जीव कर्म-बंधन से रहित होकर ज्ञान-दर्शन रूप शुद्ध उपयोग चेतना में रमण करते हैं वे मुक्त कहलाते हैं। जीव की परम विशुद्ध दशा मोक्ष है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए नव तत्त्वों को जानना आवश्यक है।

जीव के भेद-प्रभेद



20.2.3 अजीव तत्त्व

अजीव तत्त्व जीव का प्रतिपक्षी है। जहां जीव तत्त्व सचेतन होता है वहां अजीव तत्त्व अचेतन होता है। जब तक जीव का इसके साथ संबंध रहेगा तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकेगा। अजीव (कर्म) तत्त्व के साथ बंधे रहने के कारण ही जीव को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। इसलिए साधना की दृष्टि से जीव की तरह अजीव को भी समझना जरूरी है। दशवैकालिक सूत्र, 4/12 में कहा है—“जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह साधना के क्षेत्र में भी आगे नहीं बढ़ सकता। अजीव तत्त्व के मुख्य भेद पांच हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय। इन पांचों में पुद्गल द्रव्य ही कर्म के रूप में परिणत होकर आत्मा को संसार में परिभ्रमण करवाते हैं। पुद्गल के रूप हैं—परमाणु और स्कन्ध। परमाणु पुद्गल की सबसे छोटी ईकाई है। पुद्गल अनन्त है, पूरे लोक में व्याप्त है किन्तु सारे पुद्गल कर्म-रूप में परिणत नहीं होते। जो पुद्गल-स्कन्ध कर्म-रूप में परिणत होते हैं उन्हें वर्णना कहते हैं। वर्णना का अर्थ है—सजातीय पुद्गलों का समूह। पुद्गल की आठ वर्णनाएं बताई गई हैं। उनमें एक हैं—कार्मण वर्णना। यह वर्णना कार्मण शरीर के रूप में परिणत होती है। इसका संबंध कर्म से है। प्राणी की अपनी शुभ और अशुभ प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट पुद्गल स्कन्ध (कर्म वर्णना) जो आत्मा के साथ एकीभूत हो जाते हैं, कर्म कहलाते हैं। शुद्ध आत्म स्वरूप में अवस्थित होने के लिए कर्मों से मुक्त होना आवश्यक होता है और कर्म-मुक्ति के लिए मोक्ष के बाधक-साधक तत्त्वों का ज्ञान अपेक्षित होता है।

अजीव के भेद



मोक्ष के बाधक तत्त्व

आत्मा का अपना स्वरूप मोक्ष है। विजातीय द्रव्य के प्रभाव से उसकी जो दशा बनती है, वह वैभाविक दशा कहलाती है। इसके पोषक चार तत्त्व हैं—आश्रव, बंध, पुण्य और पाप।

20.2.4 आश्रव

शुभ-अशुभ कर्म को ग्रहण करने वाला जीव का अध्यवसाय, परिणाम एवं प्रवृत्ति को 'आश्रव' कहा जाता है। सांख्य-योग में वर्णित 'क्लेश' आश्रव के अति निकट है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—कर्म वासना का मूल क्लेश है।

बौद्ध-दर्शन में अविद्या को अनादि दोष माना है। इस अविद्या के जो निमित्त आत्म-परिणामों के प्रेरक बनते हैं, उन्हें 'आसव' कहा जाता है। आसव का अर्थ है—मद उत्पन्न करने वाला रस। ये आसव चार हैं—1. काम-आसव, 2. भव-आसव, 3. दृष्टि-आसव और 4. अविद्या-आसव।

1. काम-आसव—शब्दादि विषयों को प्राप्त करने की इच्छा-वासना या राग।

2. भव-आसव—जीवन की अभिलाषा।

3. दृष्टि-आसव—बौद्ध-दर्शन से विपरीत दृष्टि का सेवन।

4. अविद्या-आसव—अनित्य पदार्थों में नित्यता की बुद्धि।

जैन दर्शन के अनुसार जीव और अजीव की स्वतन्त्र निरपेक्ष सत्ता है। दोनों में संबंध स्थापित कराने वाला तत्त्व आश्रव है। आश्रव कर्मों के आने का द्वार है। जिस तरह कुप में जल आने का मार्ग उसके अन्तः स्रोत होते हैं। नौका में जल-प्रवेश के निमित्त उसके छिद्र होते हैं और मकान में प्रवेश करने का साधन उसका द्वार होता है। उसी तरह जीव के प्रदेशों में कर्म के आगमन का मार्ग आश्रव पदार्थ है। कर्मों के प्रवेश में निमित्त होने से आश्रव पदार्थ को द्वार कहा जाता है। जब तक यह द्वार खुला रहता है, तब तक आत्मा और शरीर का संबंध बना रहता है। आश्रव कर्म बंध का हेतु है इस दृष्टि से मोक्ष का बाधक है। प्रश्न होता है कि शरीर मूर्त है और आत्मा अमूर्त है, ऐसे दो विरोधी तत्त्वों का संबंध कैसे व कब हुआ? जैन दर्शन के अनुसार सर्वथा अमूर्त आत्मा के साथ शरीर का संबंध नहीं हो सकता। आत्मा दो प्रकार की होती है संसारी आत्मा और सिद्धात्मा। सिद्धात्मा सर्वथा अपूर्ण होती है अतः उसका शरीर के साथ संबंध नहीं होता किन्तु संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त होती है। संसारी अवस्था में कथंचित् मूर्त होने के कारण आत्मा के साथ शरीर का संबंध होना असंभव नहीं है। आत्मा और शरीर का संबंध अनादि है। इनमें पौर्वापर्य संबंध न होकर अपश्चानुपूर्विक संबंध है। अपश्चानुपूर्वी उसे कहते हैं जहां पहले पीछे का कोई विभाग नहीं होता। आत्मा और शरीर का मुख्य संबंध-सेतु आश्रव है। यह संबंध किसी एक ओर से नहीं होता अपितु आत्मा और शरीर दोनों की तरफ से होता है। जीव में स्नेह है आश्रव और पुद्गल में स्नेह है आकर्षण होने की योग्यता। आश्रव निरन्तर पुद्गलों को आकृष्ट कर रहा है। भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने इसे समझाने के लिए एक सुन्दर उपमा प्रस्तुत की है। यथा—एक तालाब पानी से भरा हुआ है। उसमें जल समा नहीं रहा है। पानी के उस अथाह प्रवाह में एक व्यक्ति ने अपनी नौका को खड़ा किया। वह नौका सैकड़ों छिद्र वाली है। आश्रव और छिद्र पर्यायवाची हैं। छिद्रों में पानी प्रविष्ट होता है। धीरे-धीरे पूरी नौका पानी से भर जाती है। इस दृष्टान्त को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—जीव एक नौका के समान है। उसमें छिद्र है आश्रव। पुद्गल की प्रकृति है छिद्र में भर जाना। कर्म पुद्गल सर्वत्र फैले हुए हैं। वे आश्रव द्वार से निरन्तर प्रविष्ट होते रहते हैं और आत्मा एवं शरीर के संबंध को बनाये रखते हैं ठाणें में आश्रव के मुख्य पांच भेद बताये गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन्हीं पांच आश्रवों को उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र 8/1 में बंध-हेतु कहा है। 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंध हेतवः'। जब तक इन पांचों आश्रवों का निरोध नहीं होता, तब तक साधक बंधन से मुक्ति की दिशा में प्रयाण नहीं कर सकता, अतः आश्रव मोक्ष का बाधक तत्त्व है।

20.2.4.1 आसवों की संख्या

आसव कितने हैं इस विषय में भिन्न-भिन्न प्रतिपादन मिलते हैं—

1. आचार्य कुन्दकुन्द के मत से आस्रव 4 हैं—1. मिथ्यात्व आस्रव 2. अविरति आस्रव 3. कषाय आस्रव और 4. योग आस्रव। (समयसार 4, 164-65) श्री विनयविजयजी ने भी आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए इन चार को ही आस्रव कहा है। (शांतसुधारसः आस्रव भावना 3)

2. वाचक उमास्वाति के मत के आस्रव 42 हैं—1. पांच इन्द्रियां 2. चार कषाय 3. पांच अक्रत 4. पचीस क्रियाएं और 5. तीन योग। (तत्त्वार्थ, 6, 12, 6) अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने इसी पद्धति से आस्रव का निरूपण किया है। (शांतसुधारसः आस्रव भावना 4)

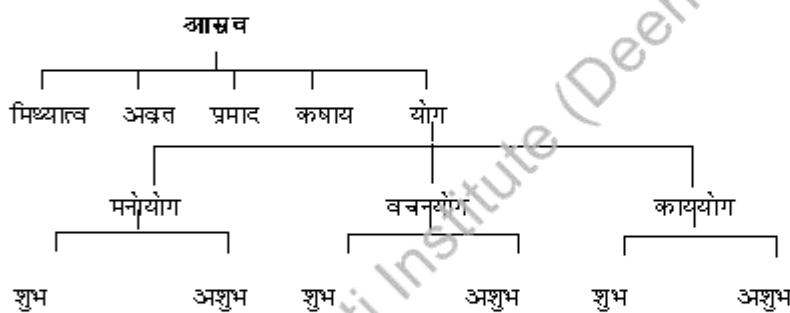
3. आस्रव के भेद 20 भी प्रसिद्ध हैं (पचीस बोलः बोल 14)—1. मिथ्यात्व आस्रव 2. अविरति आस्रव 3. प्रमाद आस्रव 4. कषाय आस्रव 5. योग आस्रव 6. प्राणातिपात आस्रव 7. मृषावाद आस्रव 8. अदत्तादान आस्रव 9. मैथुन आस्रव 10. परिग्रह आस्रव 11. श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव 12. चक्षुरिन्द्रिय आस्रव 13. घ्राणेन्द्रिय आस्रव 14. रसनेन्द्रिय आस्रव 15. स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव 16. मन आस्रव 17. वचन आस्रव 18. काय आस्रव 19. भण्डोपकरण आस्रव 20. शुचिकुशाग्र मात्र का सेवना आस्रव।

आचार्य भिक्षु कहते हैं आस्रव पांच हैं—1. मिथ्यात्व आस्रव 2. अविरति आस्रव 3. प्रमाद आस्रव 4. कषाय आस्रव और 5. योग आस्रव।

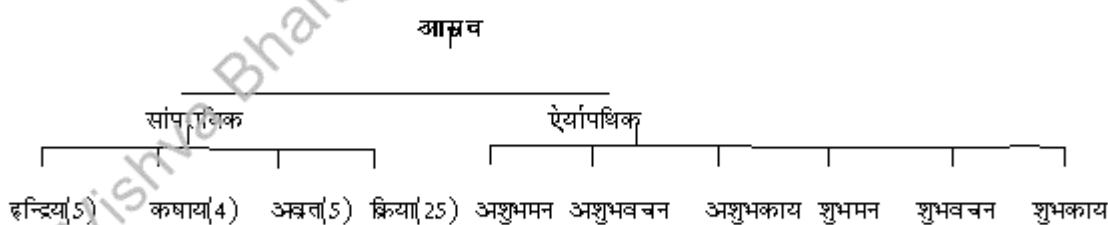
इस कथन के लिए ठाणांग का प्रमाण देते हैं। ठाणांग का पाठ इस प्रकार है—“पंच आस्रवदारा पणत्ते तं जहा मिच्छतं अविरई पमाओ कसाया जोगा।”

आगम के अनुसार आचार्य भिक्षु ने जिन मिथ्यात्व आदि को आस्रव कहा है, उन्हीं को उमास्वाति ने बंध-हेतु कहा है—“मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः (तत्त्वार्थ सूत्र 8/1)।”

आस्रव के भेद-प्रभेद



वैकल्पिक रूप में



सकषायो आत्मा के साम्प्रययिक आस्रव तथा वीतराग (कषायमुक्त) आत्मा के ऐर्यापथिक आस्रव होता है।

20.2.5-6 पुण्य-पाप

“शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य”—तत्त्वार्थसूत्र धार्मिक क्रिया के साथ होने वाले कर्म बंध को पुण्य कहते हैं। अधार्मिक क्रिया के साथ होने वाले अशुभ कर्म बंध को पाप कहते हैं। जैन दर्शन में धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है किन्तु तत्त्व-मीमांसा में ये कभी एक नहीं होते क्योंकि धर्म आत्मा की सत् प्रवृत्ति है और पुण्य शुभ योग के द्वारा आत्मा के चिपकने वाले शुभ कर्म पुद्गल हैं। इसी प्रकार अधर्म आत्मा की असत् प्रवृत्ति है और पाप उसके द्वारा चिपकने वाले अशुभ कर्म-पुद्गल हैं। धर्म सत्क्रिया है और पुण्य उसका फल है। धर्म आत्ममुक्ति का साधन है और पुण्य आत्मा के लिए बंधन है। अधर्म और पाप की भी यही स्थिति है। ये दोनों धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। पुण्य का बंधन स्वतंत्र नहीं होता। धर्म के साथ ही होता है किन्तु पुण्य के लिए

धर्म नहीं करना चाहिए। निर्जरा धर्म के साथ वह अपने आप हो जाता है। जिस प्रकार अनाज के पीछे तूड़ी होती है उसी प्रकार धर्म के पीछे पुण्य होता है।

पुण्य और पाप दोनों विजातीय तत्त्व हैं। इसलिए ये दोनों आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। आचार्यों ने पुण्य कर्म की सोने और पाप कर्म की लोहे की बेड़ी से तुलना की है। बंधन मुक्ति के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनों हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य) है। जो व्यक्ति इस तत्त्व को नहीं जानता वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय दृष्टि से ये दोनों हेय हैं।

पुण्य की हेयता के बारे में जैन परम्परा एकमत है। उसकी उपादेयता में विचार-भेद भी है। कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्परा हेतु मान क्वचित् उपादेय भी मानते हैं। किन्तु कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर हेतु मानते हुए भी उपादेय नहीं मानते। भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन 21/24 में यही कहा है “पुण्य और पाप इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है। जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है। आचार्य अभयदेव सूरि ने आश्रव, बंध, पुण्य और पाप को भवभ्रमण का हेतु कहा है। आचार्य भिक्षु ने नवपदार्थ चौपाई में कहा है—पुण्य की वांछा नहीं करनी चाहिए। पुण्य की वांछा करने से पाप कर्म का बंध होता है। आचार्य भिक्षु ने इसे इस प्रकार समझाया—

जिण पुण्य तणी वांछा करी, तिण वांछ्या काम ने भोग।

संसार बधै काम योग स्युं, पामै जन्म मरण न सोग।। —नवपदार्थ चौपाई, 60

अर्थात् पुण्य से भोग मिलते हैं, जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगों की इच्छा करता है और भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है। अतः पुण्य और पाप दोनों ही तत्त्व मोक्ष में बाधक हैं।

पुण्य के भेद

स्थानांग सूत्र में कहा है—“पुण्य नौ प्रकार का है—अन्न पुण्य, पान पुण्य, वस्त्र पुण्य, लयन (गृह) पुण्य, शयन (शय्या) पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य और नमस्कार पुण्य।” (ठाणांग 9, 25: णवविधे पुन्ने पण्णत्ते तं जहा अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे, वत्थपुण्णे, लेणपुण्णे, सयणपुण्णे, मणपुण्णे वतिपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे)

पुण्य के भेद

पुण्य (शुभ कर्म)

अन्नपुण्य	पानपुण्य	लयनपुण्य	शयनपुण्य	वस्त्रपुण्य	मनपुण्य	वचनपुण्य	कायपुण्य	नमस्कारपुण्य
-----------	----------	----------	----------	-------------	---------	----------	----------	--------------

पाप-कर्म और पाप की करनी

‘ठाणांग’ (1.48) में अठारह पाप कहे हैं—1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह, 13. अभ्याख्यान, 14. पैशून्य, 15. पर-परिवाद, 16. रति-अरति, 17. माया-मृषा और 18. मिथ्यादर्शनशल्य।

ये भेद वास्तव में पाप-पदार्थ के नहीं हैं परन्तु पाप-पदार्थ के बंध-हेतुओं के हैं। प्राणातिपात आदि पाप-पदार्थ के निमित्त कारण हैं। अतः उपचार से प्राणातिपात आदि क्रियाओं को पाप कहा है।

एक बार गौतम ने पूछा—“भगवन्! प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्यादर्शनशल्य कितने वर्ण, कितने गंध, कितने रस और कितने स्पर्श वाले हैं?” भगवान् ने उत्तर दिया—“वे पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और चार स्पर्श वाले होते हैं।”

उपर्युक्त वार्तालाप से प्राणातिपात आदि पौद्गलिक मालूम देते हैं; अन्यथा उनमें वर्णादि होने का कथन नहीं मिलता।

प्रश्न उठता है—प्राणातिपात आदि एक ओर वर्णादि युक्त पुद्गल कहे गये हैं और दूसरी ओर क्रिया रूप बतलाये गये हैं, इसका क्या कारण है?

श्रीमद् जयाचार्य ने इस प्रश्न का उत्तर अपनी ‘झीणी चर्चा’ नामक कृति की बाईसवीं छाल में दिया है। वे लिखते हैं—“भगवती सूत्र में प्राणातिपात आदि के वर्णादि कहे गये हैं उनका भेद यह है कि प्राणातिपात आदि कर्मों का विवेचन है; प्राणातिपात आदि क्रियाओं का नहीं।” वे लिखते हैं—“जिस कर्म के

उदय से जीव दूसरे के प्राणों का हनन करता है, उस कर्म को प्राणातिपात-स्थानक कहते हैं। मन, वचन और काय से हिंसा करना प्राणातिपात आस्रव है। प्राणातिपात करने से जिनका बंध होता है वे सात आठ अशुभ कर्म हैं यही बात 'भगवतीसूत्र' में वर्णित बाद के मिथ्यादर्शनशल्य तक के स्थानकों के विषय में समझनी चाहिए। जैसे—जिस कर्म के उदय से जीव झूठ बोलता है वह मृषावाद पाप-स्थानक है। झूठ बोलना मृषावाद आस्रव है। झूठ बोलने से जिनका बंध होता है वे दुःखदायी सात आठ कर्म हैं। यावत् जिस कर्म के उदय से जीव मिथ्या-श्रद्धान करता है वह मिथ्यादर्शनशल्य कर्म-स्थानक है। मिथ्या-श्रद्धान करना मिथ्यात्व आस्रव है। इससे जिनका आस्रव होता है वे सात आठ कर्म हैं।

20.2.7 बंध

बंध का शाब्दिक अर्थ है—जुड़ना। जीव और कर्म के संश्लेष को बंध कहते हैं। जीव और पुद्गल क्रमशः चेतन और जड़ होने से परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पदार्थ हैं। फिर भी दोनों परस्पर बद्ध हैं। इसी संबंध से यह संसार है। जीव अपनी शुभ-अशुभ प्रवृत्ति से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गल और जीव प्रदेशों का संबंध बंध है। दूसरे शब्दों में कर्म और आत्मा के प्रदेशों का अन्योन्य प्रवेश—एक दूसरे में मिल जाना—एक क्षेत्रावगाही हो जाना बंध है। जीव और कर्म के प्रदेश-बंध को समझाते हुए आचार्य भिक्षु ने तीन दृष्टान्त दिये हैं—

1. जिस तरह तेल और तिल लोलीभूत-ओतप्रोत होते हैं, उसी तरह बंध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं।
2. जिस तरह घी और दूध लोलीभूत होते हैं, उसी तरह बंध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं।
3. जिस तरह धातु और मिट्टी लोलीभूत होते हैं, उसी तरह बंध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं।

जीव और कर्म का यह पारस्परिक बंध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है। बंध पदार्थ बेड़ी की तरह है। इसने जीव को जकड़ रखा है। जो मनुष्य अपने बंधन के बंधन नहीं समझता, वह मोहान्ध है। जो बंधन को बंधन नहीं समझता वह बंधन को तोड़कर मुक्त नहीं हो सकता। अतः भगवान् ने सूत्रकृतांग, 1/1 में कहा 'बुद्धिज्जति तिउट्टिजा बंधणं परिजाणिया।' अर्थात् बंधन को जानो और तोड़ो।

मुक्त जीव में अनेक स्वाभाविक शक्तियाँ होती हैं। संसारी जीव अनन्त काल से उन शक्तियों को प्रकट नहीं कर सकता क्योंकि जीव के साथ कर्मों के बंध से उसके सारे स्वाभाविक गुण दबे हुए रहते हैं। अतः कर्म की पराधीनता में जीव निःसत्त्व हो जाता है। उसका कोई वश नहीं चलता। बंध भी मोक्ष का बाधक तत्त्व है।

पहले कर्म-वर्णा के पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों में आगमन होता है और फिर बंध। कर्म-पुद्गलों का आगमन आस्रव बिना नहीं होता अतः बंध पदार्थ की उत्पत्ति का मूलाधार आस्रव पदार्थ है। मिथ्यात्वादि हेतुओं के अभाव में कर्म-पुद्गलों का प्रवेश नहीं होता और उनके अभाव में बंध नहीं हो सकता। इसलिए मिथ्यात्व आदि हेतु या आस्रव ही बंधोत्पत्ति के कारण हैं।

कर्म आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बन्धित होकर उसी समय फल दें, ऐसा कोई नियम नहीं है। बंधन के समय से फल देने की अवस्था में आने तक कर्म सत्तारूप में अवस्थित रहते हैं। यह अबाधाकाल है। इस अवस्था में बंध द्रव्य-बंध कहलाता है। अबाधाकाल के बाद फल देने की अवस्था में आकर कर्म सुख-दुख या हर्ष-शोक उत्पन्न करते हैं। कर्मों का फल देने के लिए उदय में आना भाव-बंध है। उदाहरण स्वरूप जन्म-ग्रहण करने पर भावी तीर्थंकर द्रव्य-तीर्थंकर होता है। बाद में वह तेरहवें गुण-स्थान को प्राप्त कर वास्तव में तीर्थंकर होता है, तभी वह भाव-तीर्थंकर कहलाता है। उसी तरह से बंधे हुए कर्मों का सत्तारूप रहना द्रव्य-बंध है और उन्हीं कर्मों का उदय में आकर फल देने की शक्ति का प्रदर्शन करना भाव-बंध है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ या अशुभ। शुभ कर्म पुण्य कहलाते हैं और अशुभ कर्म पाप। जीव के प्रदेशों के साथ शुभ या अशुभ कर्मों के संश्लेष की अपेक्षा से बंध भी शुभ और अशुभ दो तरह का होता है। शुभ बंध को पुण्य-बंध और अशुभ बंध को पाप-बंध कहते हैं।

बंधे हुए प्रत्येक कर्म में फल देने की शक्ति होती है परन्तु जिस तरह आम में रस देने की शक्ति होने तथा बीज में सत्तारूप से वृक्ष रहने पर भी बिना पके हुए आम से रस नहीं निकलता तथा अवसर

आए बिना वृक्ष फल नहीं होता, ठीक उसी प्रकार कर्मों में फल देने की शक्ति रहने पर भी वे विपाक अवस्था में आए बिना फल नहीं दे पाते। सत्तारूप पुण्य-बंध जब विपाक-काल को प्राप्त हो उदयावस्था में आता है तब जीव को नाना भाँति के सुखों की प्राप्ति होती है और इसी तरह जब सत्तारूप पाप-बंध का उदय होता है तो अनेक प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होती है।

दूसरे शब्दों में द्रव्य पुण्य-पाप बंध हैं; भाव पुण्य-पाप क्रमशः पुण्य-पाप हैं।

मोक्ष के साधक तत्त्व दो हैं—संवर और निर्जरा। मोक्ष स्वयं साध्य है।

20.2.8 संवर

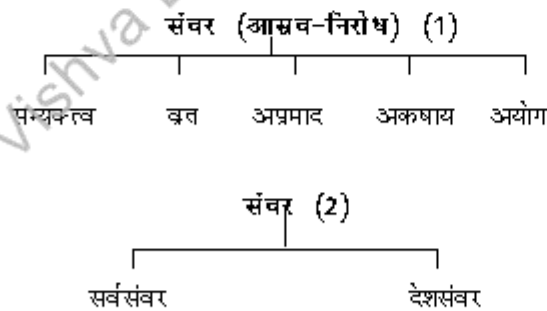
संवर आश्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—शुभाशुभकर्मागमद्वाररूपआश्रवः। आश्रव निरोधः संवरः। अर्थात् जो शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन के लिए द्वार रूप है, वह आश्रव है। जिसका लक्षण आश्रव का निरोध करना है, वह संवर है। यह मोक्ष मार्ग की आराधना का प्रकृष्ट हेतु है।

आचार्य भिक्षु लिखते हैं—‘नौका के छिद्र व मकान के द्वार को बंद करने की तरह जीव के आश्रव का निरोध करना संवर है।’ आश्रव पदार्थ ही एक ऐसा पदार्थ है जिसका निरोध किया जा सकता है। आश्रव अवस्था में जीव के प्रदेशों में परिस्पंदन होता रहता है। आश्रव के निरोध से जीव के चंचल प्रदेश स्थिर होते हैं आत्म-प्रदेश की चंचलता आश्रव द्वार है। और उसकी स्थिरता संवर द्वार है। आश्रव से नये-नये कर्म प्रविष्ट होते रहते हैं। संवर से नये कर्मों का प्रवेश रुक जाता है। संवर आत्मा की वह दशा है, जिसमें विजातीय तत्त्व (कर्म-पुद्गल) का उसके साथ संश्लेष होना छूट जाता है। तत्त्वार्थसूत्र 9/2 के अनुसार संवर के लिए निम्न तत्त्वों की साधना उपयोगी हो सकती है—गुणि, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह, चारित्र, तप आदि।

मोक्ष संसारपूर्वक है। पहले संसार और फिर मोक्ष ऐसा क्रम है। पहले मोक्ष फिर संसार ऐसा नहीं। मोक्ष साध्य है और संवर मोक्ष साधना में एक अनिवार्य साधन है। आश्रव की तरह संवर के भी मुख्य पांच विभाग हैं—सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग।

1. **सम्यक्त्व संवर**—विपरीत श्रद्धान का त्याग करना सम्यक्त्व संवर है।
2. **व्रत संवर**—व्यक्त अव्यक्त आशा का परित्याग करना व्रत संवर है। सावद्य प्रवृत्ति का सम्पूर्ण त्याग सर्वव्रत और अंशतः त्याग देशव्रत कहलाता है।
3. **अप्रमाद संवर**—आत्म-प्रदेश स्थित अनुत्साह का क्षय हो जाना अप्रमाद संवर है।
4. **अकषाय संवर**—आत्म-प्रदेश स्थित कषाय का क्षय हो जाना अकषाय संवर है।
5. **अयोग संवर**—योग का निरोध होना अयोग संवर है।

आश्रव की तरह इसका भी 20 भेद किए जा सकते हैं। अपेक्षा भेद से इसके दो भेद भी हैं—देशसंवर और सर्वसंवर।



20.2.9 निर्जरा

मोक्ष की साधना में एक महत्वपूर्ण साधक तत्त्व है—निर्जरा। निर्जरा का अर्थ है—कर्म-क्षय और उससे होने वाली आत्म-स्वरूप की उपलब्धि। जैन सिद्धान्त दीपिका में निर्जरा को परिभाषित करने वाले दो सूत्र हैं—‘तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा’ ‘उपचारात्तपोऽपि’ अर्थात् तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उपलब्धि होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तपस्या निर्जरा का कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है।

निर्जरा और निर्जरा की करनी

1. निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों भिन्न-भिन्न हैं, पर दोनों ही निरवद्य हैं।

कर्मी के देश-क्षय से आत्मा का देशरूप उज्ज्वल होना निर्जरा है। जिससे ऐसा होता है, वह निर्जरा की करनी है।

निर्जरा आत्म-प्रदेशों की उज्ज्वलता है। इस अपेक्षा वह निरवद्य है। निर्जरा की करनी शुभ योगरूप होने से निर्मल होती है। अतः वह निरवद्य है।

2. निर्जरा मोक्ष का अंश है।

निर्जरा मोक्ष का अंश किस प्रकार है, इस पर कुछ प्रकाश पूर्व में डाला जा चुका है। “धर्म हेतुक निर्जरा नव तत्त्वों में सातवां तत्त्व है। मोक्ष उसी का उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा-भेद है, स्वरूप-भेद नहीं।”

जैसे जल का एक बूंद समुद्र का ही अंश होता है, वैसे ही निर्जरा भी मोक्ष का अंश है। अन्तर एक देश और पूर्णता का है। अकृत्स्न कर्म-क्षय निर्जरा है और कृत्स्न कर्म-क्षय मोक्ष।

3. नये कर्मों के बंध से निवृत्त हुए बिना संसार-भ्रमण नहीं मिटता।

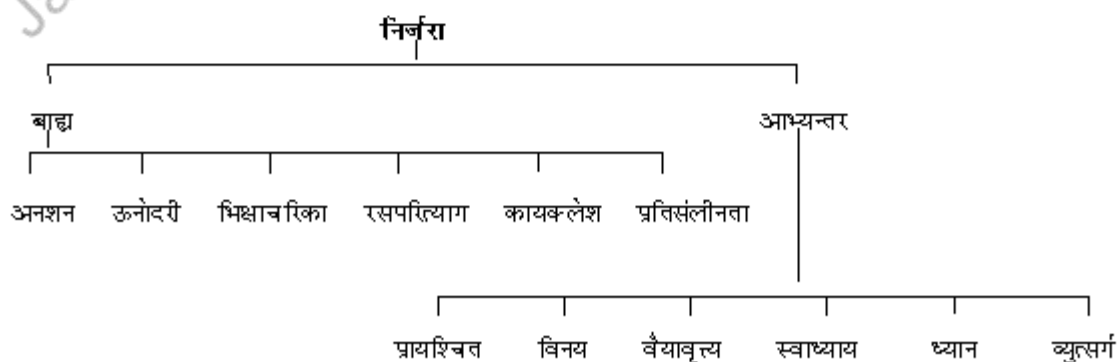
निर्जरा पुराने कर्मों को दूर करती है पर उसमें कर्मों का अन्त तभी आ सकता है जब नये कर्मों का संचय न किया जाय। जब तक नये कर्मों का संचार होता रहता है पुराने कर्मों का क्षय होने पर भी कर्मों का अन्त नहीं आता। जिस तरह कर्ज उतारने की विधि यह है कि नया कर्ज न किया जाय और पुराना चुकाया जाय। उसी प्रकार कर्म से निवृत्त होने की प्रक्रिया यह है कि नये कर्मों के आगमन को रोका जाय और पुराने कर्मों का क्षय किया जाय। इस विधि से ही जीव कर्मों से मुक्त हो सकता है। उत्तराख्ययन में इसी विधि का उल्लेख तालाब के उदाहरण द्वारा किया गया है। वहां कहा है—“प्राणिवध, मृषावाद, चोरी, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत जीव अनासन्न—नये कर्म-प्रवेश से रहित हो जाता है। जो जीव पांच समितियों से संवृत्त, तीन गुणितियों से गुप्त, चार कषाय से रहित, जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकार के गर्व और तीन प्रकार के शल्य से रहित होता है, वह अनासन्न—नये कर्म-संचय से रहित होता है। जिस तरह जल आने के मार्ग को रोक देने पर बड़ा तालाब पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है, उसी तरह आसन्न—पाप-कर्म के प्रवेश-मार्गों को रोक देने वाले संयमी पुरुष के करोड़ों भवों के संचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं।”

तप के बारह प्रकार हैं अतः निर्जरा के भी बारह प्रकार हैं। मुख्य रूप से उन्हें दो भागों में विभक्त किया जाता है—बाह्यान्तर तप और आभ्यन्तर तप।

बाह्यान्तर तप के छः प्रकार हैं—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरि, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता।

आभ्यन्तर तप के छः प्रकार हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग।

एक दूसरे दृष्टिकोण से निर्जरा के दो भेद किए गए हैं—1. सकाम, 2. अकाम। मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से की जाने वाली निर्जरा सकाम निर्जरा है। इसके अतिरिक्त जो निर्जरा होती है, वह अकाम निर्जरा है। ये दोनों प्रकार की निर्जरा सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के दोनों हो सकती हैं।



जैसे संवर आश्रय का प्रतिपक्षी है वैसे ही निर्जरा बंध का प्रतिपक्षी है। अर्थात् आश्रय का संवर व बंध की निर्जरा होती है। निर्जरा से आत्मा का परिमित स्वरूपोदय होता है किन्तु पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा होते ही आत्मा का पूर्णोदय हो जाता है। यही मोक्ष कहलाता है।

20.2.10 निर्वाण—मोक्ष

गौतम ने पूछा—भंते! मुक्त जीव कहां रुकते हैं? वे कहां प्रतिष्ठित हैं? वे शरीर कहां छोड़ते हैं और सिद्ध कहां होते हैं? भगवान ने कहा—मुक्त जीव अलोक से प्रतिष्ठित हैं, लोकांत में प्रतिष्ठित हैं, मनुष्य-लोक में शरीर-मुक्त होते हैं और सिद्ध-क्षेत्र में वे सिद्ध होते हैं।

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नहीं, मुक्त आत्माएं ही निर्वाण हैं। वे लोकाग्र में रहती हैं, इसलिए उपचार-इष्टि से उसे भी निर्वाण कहा जाता है। कर्म-परमाणुओं से प्रभावित आत्मा संसार में भ्रमण करती है। भ्रमण-काल में ऊर्ध्वगति से अधोगति और अधोगति से ऊर्ध्वगति होती है। उसका नियमन कोई दूसरा व्यक्ति नहीं करता। यह सब स्वनियमन से होता है। अधोगति का हेतु कर्म की गुरुता और ऊर्ध्वगति का हेतु कर्म की लघुता है।

कर्म का घनत्व मिटते ही आत्मा सहज गति से ऊर्ध्व लोकान्त तक चली जाती है। जब तक कर्म का घनत्व होता है, तब तक लोक का घनत्व उस पर दबाव डालता है। यों ही कर्म का घनत्व मिटता है, आत्मा हलकी होती है, फिर लोक का घनत्व उसकी ऊर्ध्वगति में बाधक नहीं बनता। गुब्बारे में हाइड्रोजन भरने पर वायुमण्डल के घनत्व से उसका घनत्व कम हो जाता है, इसलिए वह ऊंचा चला जाता है। वही बात यहां समझिए। गति का नियमन धर्मास्तिकाय-सापेक्ष है। उसकी समाप्ति के साथ ही गति समाप्त हो जाती है। वे मुक्त जीव लोक के अंतिम छोर तक चले जाते हैं। मुक्त जीव अशरीर होते हैं। गति शरीर-सापेक्ष है, इसलिए वे गतिशील नहीं होने चाहिए। बात सही है। उनमें कंपन नहीं होता। अकंपित दशा में जीव की मुक्ति होती है और वे सदा उसी स्थिति में रहते हैं। सही अर्थ में वह उनकी स्वयं-प्रयुक्त गति नहीं, बंधन-मुक्ति का वेग है, जिसका एक ही धक्का एक क्षण में उन्हें लोकान्त तक ले जाता है। पूर्व आयोगजनित वेग के कारण चक्र स्वयं घूमता है। मिट्टी से लिपी हुई तुम्बी जल-तल में चली जाती है। लेप उतरते ही वह ऊपर आ जाती है। एरण्ड का बीज फली में बंधा रहता है, किन्तु बंध टूटते ही ऊपर उछलता है। अग्नि की शिखा स्वभाव-सिद्ध लाघव के कारण ऊपर को जाती है। इसी प्रकार अकर्म-जीव की ऊर्ध्व गति के चार कारण हैं—1. पूर्व-प्रयोग, 2. असांता, 3. बंध-विच्छेद, 4. तथाविध-स्वभाव।

मुक्ति दशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता। वह किसी दूसरी सत्ता का अवयव या विभिन्न अवयवों का संगत नहीं, वह स्वयं स्वतंत्र सत्ता है। उसके प्रत्येक अवयव परस्पर अनुविद्ध हैं। इसलिए वह स्वयं अखंड है। उसका सहज रूप प्रकट होता है—यही मुक्ति है। मुक्त जीवों की विकास की स्थिति में भेद नहीं होता। किन्तु उनकी सत्ता स्वतंत्र होती है। सत्ता का स्वातंत्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है। अविकास या स्वरूपावरण उपाधिजन्य होता है, इसलिए कर्म-उपाधि मिटते ही वह मिट जाता है—सब मुक्त आत्माओं का विकास और स्वरूप समकोटिक हो जाता है। आत्मा की जो पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता है, वह उपाधिकृत नहीं है, वह सहज है, इसलिए किसी भी स्थिति में उनकी स्वतंत्रता पर कोई आंच नहीं आती। आत्मा अपने आप में पूर्ण अवयवी है, इसलिए उसे दूसरों पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

मुक्त-दशा में आत्मा समस्त वैभाविक-आधियों, औपाधिक विशेषताओं से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता। उस (पुनरावर्तन) का हेतु कर्म-चक्र है। उसके रहते हुए मुक्ति नहीं होती। कर्म का निर्मूल नाश होने पर फिर उसका बंध नहीं होता। कर्म का लेप सकर्म के होता है। अकर्म कर्म से लिप्त नहीं होता। कृतसकर्मक्षयो मोक्षः अर्थात् समस्त कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है।

20.3 सारांश

इस प्रकार नव तत्त्वों को हमें आचार-मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा।

20.4 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. नव तत्त्वों में मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्व कौन से हैं? स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. नवतत्त्व का ज्ञान क्यों अपेक्षित है?

2. धर्म और पुण्य में क्या अन्तर है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संवर किसी पर्याय है?

2. सकाम निर्जरा किसे कहते हैं?

3. आत्मा और शरीर का सम्बन्ध कबसे है?

4. जीव का लक्षण क्या है?

5. कर्म वर्गणा किसे कहते हैं?

6. निर्जरा किससे होती है?

7. भाव बंध किसे कहते हैं?

8. निर्जरा और निर्जरा की करनी एक है या दो?

9. पुण्य और पाप की तुलना किससे की जाती है?

संवर्ग-10 : सल्लेखना
इकाई-21 : सल्लेखना, पण्डित मरण

संरचना

- 21.0 प्रस्तावना
- 21.1 उद्देश्य
- 21.2 मृत्युकला
- 21.3 मरण के विविध प्रकार
- 21.4 मरण के दो
- 21.5 संलेखना का महत्व
- 21.6 संलेखना: जीवन की अन्तिम साधना
- 21.7 संलेखना : मृत्यु पर विजयपाने की कला
- 21.8 संलेखना और समाधिमरण
- 21.9 संलेखना की व्याख्या
- 21.10 संलेखना कब करनी चाहिए
- 21.11 संलेखना की विधि
- 21.12 संथारे की विधि
- 21.13 संथारा - संलेखना का महत्व
- 21.14 संलेखना के पाँच अतिचार
- 21.15 संलेखना आत्महत्या नहीं है
- 21.16 संलेखना की विशेषताएं
- 21.17 सारांश
- 21.18 अभ्यास प्रश्नावली

21.0 प्रश्नावली

भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने जीवन और मरण के सम्बन्ध में गम्भीर अनुचिन्तन किया है। जीवन और मरण के सम्बन्ध में हजारों ग्रंथ लिखे गये हैं। जीवन सभी को प्रिय है, और मरण सभी को अप्रिय है।

वैदिक ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है कि 'मैं सौ वर्ष तक सुखपूर्वक जीऊँ। मेरे तन में किसी भी प्रकार की व्याधि उत्पन्न न हो। मेरे मन में संकल्प-विकल्प न हों। मैं सौ वर्षों तक अच्छी तरह से देखता रहूँ, सुनता रहूँ, सुँघता रहूँ, मेरे पैरों में, मेरी भुजाओं में अपार बल रहे जिससे मैं शान्ति के साथ अपना जीवन-यापन कर सकूँ।' मानव में ही नहीं, प्रत्येक प्राणी में जिजीविषा है। जिजीविषा की भव्य भावना से उत्प्रेरित होकर ही प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक युग तक मानव ने अनुसंधान किये हैं।

21.1 उद्देश्य

पर यह एक परखा हुआ सत्य तथ्य है कि जीवन के साथ मृत्यु का अवश्यभावी सम्बन्ध है। जीवन के अगल-बगल चारों ओर मृत्यु का साम्राज्य है। मृत्यु का अखण्ड साम्राज्य होने पर भी मानव उसे भुलाने का प्रयास करता रहा है। वह सोचता है कि मैं कभी नहीं मरूँगा किन्तु यह एक ज्वलन्त सत्य है कि जो पुष्प खिलता है, महकता है, अपनी मधुर सौरभ से जन-जन के मन को मुग्ध करता है वह पुष्प एक दिन मुरझा जाता है। अतः जीवन के पश्चात् मृत्यु निश्चित है।

21.2 मृत्युकला

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने जीने की कला सिखाने का प्रयास किया है। जीवन शैली की समग्र चर्चा का सम्बन्ध जीने की कला के साथ है। जीवन कैसे जीना चाहिए? इस विषय पर

कार्यशालाओं और सेमिनारों के माध्यम से विशद परिचर्चाएं आयोजित हो रही हैं, पर मरने की भी कोई कला होती है, इस बारे में सब मौन हैं। भगवान महावीर ने जीने की कला सिखाई, उसी तरह मरने की कला का भी बोध दिया। संलेखनापूर्वक समाधिमरण का वरण वही कर सकता है, जो मरने की कला सीख चुका होता है। श्रावक और साधु की आचार संहिता में दोनों कलाओं का समावेश है। बारह व्रतों की आराधना एवं महाव्रतों की आराधना जीने की कला है और संलेखनापूर्वक जीवन-यात्रा का समापन मनने की कला है।

भारतीय मूर्धन्य चिन्तकों ने जीवन को एक कला कहा है तो मृत्यु को भी एक कला माना है। जो साधक जीवन और मरण इन दोनों कलाओं में पारंगत है, वही अमर कलाकार है। भारतीय संस्कृति का घोष है कि जीवन और मरण का खेल अनन्त काल से चल रहा है। तुम खिलाड़ी बनकर खेल रहे हो। जीवन के खेल को कलात्मक ढंग से खेलते हो तो मरने के खेल को भी ठाठ से खेलो। न जीवन से झिझको, न मरण से डरो। जिस प्रकार चालक को मोटर गाड़ी चलाना सीखना आवश्यक है उसी तरह उसे रोकना सीखना भी आवश्यक है। केवल उसे गाड़ी चलाना आये, रोकना नहीं आये, उस चालक की स्थिति गंभीर हो जाएगी। इसी तरह जीवन-कला के साथ मृत्यु-कला भी बहुत आवश्यक है। जिस साधक ने मृत्युकला का सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया है वह हँसते, मुस्कराते, शान्ति के साथ प्राणों का परित्याग करेगा। मृत्यु के समय उसके मन में किंचित् मात्र भी उद्वेग नहीं होगा। वह जानता है ताड़ का फल वृक्षा से टूटकर नीचे गिर जाता है वैसे ही आयुष्य क्षीण होने पर प्राणी जीवन से हाथ धो बैठता है। एक वीर योद्धा अपनी सुरक्षा के सभी साधन तथा शस्त्रास्त्रों को लेकर युद्ध के मैदान में जाता है, वह युद्ध के मैदान में भयभीत नहीं होता, उसके अन्तर्मानस में अपार प्रसन्नता होती है, क्योंकि वह युद्ध की सामग्री से सन्नद्ध है।

21.3 मरण के विविध प्रकार

जो व्यक्ति जीवन-कला से अनभिज्ञ है, वह मृत्यु-कला से भी अनभिज्ञ है। सामान्य व्यक्ति मृत्यु को तो वरण करता है, पर जिस प्रकार मृत्यु को वरण करना चाहिए, उसका विवेक उसमें नहीं होता। जैन आगम व आगमैतर साहित्य में मरण के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया गया है। विश्व के जितने भी जीव हैं उन जीवों के मरण को दो भागों में विभक्त किया है—1. बालमरण अर्थात् अज्ञानी का मरण और 2. पण्डितमरण अर्थात् ज्ञानी का मरण। भगवत्सूत्र में बालमरण के बारह प्रकार बताये हैं और पण्डितमरण के दो प्रकार बताये हैं। इस प्रकार मरण के कुल 14 प्रकार हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

बालमरण—1. वलय 2. वसट्ट 3. अत्तोसल्ल 4. तब्भव 5. गिरिपडण 6. तरुपडण 7. जलप्पवेस 8. जलणप्पवेस 9. विषभक्खण 10. सत्थोवाडण 11. वेहाणस 12. गिद्धपिट्ठ।

पण्डितमरण—1. पावोवगमण 2. भत्तपच्चक्खणा।

समाधिमरण में मुख्यतः तीन प्रकार के मरण का उल्लेख किया जा सकता है—

1. भक्तप्रत्याख्यानमरण

यावज्जीवन के लिए त्रिविध और चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है वह भक्त प्रत्याख्यानमरण है। मूलाराधना में इसका नाम “भक्तपयिण्णा” है और विजयोदया में “भक्तप्रतिज्ञा” है।

2. इंगिणीमरण

प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण को इंगिणीमरण कहा है। इस मरण में साधक अपनी शुश्रूषा स्वयं कर सकता है पर दूसरे श्रमणों से सेवा ग्रहण न करे उसे भी इंगिणीमरण कहा है। इस मरण में चतुर्विध आहार का परित्याग आवश्यक होता है।

3. पादपोषगमन मरण

वृक्षा के नीचे पड़ीडाल के समान स्थिर अवस्था में चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है वह पादपोषगमन मरण है। पादपोषगमन को ही दिगम्बर ग्रंथों में ‘प्रायोपगमन’ कहा है। जो अपनी परिचर्या स्वयं न करे और न दूसरों से करवावे ऐसे संन्यास मरण को प्रायोपगमन अथवा प्रयोग्यमरण कहते हैं।

अपने पैरों से चलकर योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है, उसे पादपोषगमनमरण कहा गया है। प्रस्तुत मरण को चाहने वाला श्रमण अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करता है और न दूसरों से ही

करवाता है। प्रस्तुत मरण के लिए “प्रयोग्य” अथवा “पादोगमन” पाठ भी प्राप्त होता है। भव के अन्त करने योग्य संहनन और संस्थान को प्रायोज्ञ कहा है। विशिष्ट संहनन और संस्थान वाले ही इस मरण को वरण करते हैं।

भगवतीसूत्र में पादपोगमन के निर्हारी और अनिर्हारी ये दो भेद बताये हैं। उपाश्रय में मृत्यु को वरण करने वाले श्रमण के शरीर को उपाश्रय से बाहर निकाला जाता है। इसलिए उस मरण को निर्हारी कहते हैं। अरण्य में अपने शरीर का परित्याग करने वाले श्रमण के शरीर को बाहर ले जाना नहीं पड़ता, इसलिए उसे अनिर्हारी मरण कहा गया है। प्रायोपगमन अनशन करने वाला साधक अपने शरीर को इतना कृश कर लेता है कि उसके मल-मूत्र आदि होते ही नहीं। वह अनशन करते समय जहाँ अपने शरीर को टिका देता है वहीं पर वह स्थिर भाव से स्थित हो जाता है। इस तरह वह निष्प्रतिकर्म होता है। वह अचल होता है, अतः अनिर्हारी होता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति उसे उठाकर दूसरे स्थान पर रख देता है तो भी स्वयंकृत चालन की अपेक्षा वह निर्हारी ही रहता है। भगवतीसूत्र में इंगिणी और भक्तप्रत्याख्यान को एक मानकर उनकी पृथक् व्याख्या की है। किन्तु मूलाराधना में भक्तप्रत्याख्यान, इंगिणी और पादपोगमन—इन तीनों को पण्डितमरण का भेद माना है। मरण के जो सत्रह प्रकार बताये हैं उनमें आवीचिमरण प्रतिपल प्रतिक्षण होता है। वह सिद्धों के अतिरिक्त सभी संसारी प्राणियों में होता है। शेष मरण सभी संसारी जीवों में संभव हो सकते हैं।

21.4 मरण के दो प्रकार

उत्तराध्ययनसूत्र में मरण के दो प्रकार बताये हैं—अकाममरण और सकाममरण। टीकाकार ने अकाममरण का अर्थ विवेकरहित मरण किया है और सकाममरण को चारित्र और विवेकयुक्त मरण कहा है। अकाममरण पुनः-पुनः होता है, किन्तु सकाममरण जीवन में एक बार होता है। पण्डितमरण एक बार होता है, इसका तात्पर्य है कि साधक कर्म क्षय कर मृत्यु को ऐसे वरण करता है जिससे पुनः मृत्यु प्राप्त न हो। ‘मरण विभक्ति’ में कहा है—तुम ऐसा मरण मरो जिससे मुक्त बन जाओ।

जिस मरण में विषय वासना की प्रबलता हो, कषाय की आग बंधक कर सुलग रही हो, विवेक की ज्योति लुप्त हो चुकी हो, हीन भावनाएँ पनप रही हों, वह बालमरण है।

सकाममरण के पण्डितमरण और बालपण्डितमरण—ये दो भेद किये हैं। पण्डितमरण और बालपण्डितमरण—इन दोनों में मुख्य भेद पात्र का है। विषयविरक्त संयमी जीवों का मरण पण्डितमरण है और भ्रावक का मरण बालपण्डितमरण है। बालपण्डितमरण का भी अन्तर्भाव पण्डितमरण के अन्तर्गत ही किया गया है क्योंकि दोनों प्रकार के मरण में साधक समाधिपूर्वक प्राणों का परित्याग करता है।

स्थानांग में प्रशस्त मरण के पादपोगमन और भक्तप्रत्याख्यान ये दो मरण बताये हैं। भगवती में भी आर्य स्कन्धक के प्रसंग में पण्डितमरण के दो प्रकार बताये हैं। उत्तराध्ययन की प्राकृत टीका में पण्डितमरण के तीन प्रकार और पाँच भेद बताये हैं—भक्तपरिज्ञामरण, इंगिणीमरण और पादपोगमनमरण, छद्मस्थमरण और केवलीमरण।

भक्तप्रत्याख्यान और इंगिणीमरण में यह अन्तर है कि भक्तप्रत्याख्यान में साधक स्वयं अपनी शुश्रूषा करता है और दूसरों से भी करवाता है। वह त्रिविध आहार का भी त्याग करता है और चतुर्विध आहार का भी त्याग करता है। अपनी इच्छा से जहाँ भी जाना चाहे जा सकता है। किन्तु इंगिणीमरण में चतुर्विध आहार का त्याग होता है, वह नियत प्रदेश में ही इधर-उधर जा सकता है, उसके बाहर नहीं जा सकता। वह दूसरों से शुश्रूषा भी नहीं करवा सकता है।

शान्त्याचार्य ने निर्हारी और अनिर्हारी ये दो भेद पादपोगमन के बताये हैं, किन्तु स्थानांग में भक्तप्रत्याख्यान के भी ये दो भेद किये हैं। आचार्य शिवकोटि ने भक्तप्रत्याख्यान के सविचार और अविचार दो भेद माने हैं। जिस श्रमण के मन में उत्साह है, तन में बल है, जिसकी मृत्यु शीघ्र होने वाली नहीं है, उस श्रमण के भक्तप्रत्याख्यान को सविचार कहा जाता है।

प्रकारान्तर से पण्डितमरण के सागारी संथारा और सामान्य संथारा ये दो प्रकार किये जा सकते हैं। विशेष आपत्ति समुपस्थित होने पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा है। वह संथारा मृत्यु

पर्यन्त के लिए नहीं होता, जिस परिस्थिति के कारण संथारा किया जाता है वह परिस्थिति यदि समाप्त हो जाती है, आपत्ति के बादल छंट जाते हैं तो उस व्रत की मर्यादा भी पूर्ण हो जाती है। अन्तकृतदशांगसूत्र में वर्णन है। भगवान् महावीर राजगृह नगर के बाहर पधारे। श्रावक सुदर्शन उनके दर्शन हेतु प्रस्थित हुआ। अर्जुन मालाकार, जो यक्ष से आविष्ट था, वह मुद्गार घुमाता हुआ श्रेष्ठी सुदर्शन की ओर लपका। उस समय सुदर्शन श्रेष्ठी ने सागारी संथारा किया और उस कष्ट से मुक्त होने पर उसने पुनः अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ कीं। यह सामान्य संथारा है। इसमें आगार अर्थात् छूट रहती है।

‘गोम्मटसार’ में आचार्य नेमिचन्द्र ने शरीर त्यागने के तीन प्रकार बताये हैं—च्युत, च्वावित और त्यक्त। अपने आप आयु समाप्त होने पर शरीर छूटता है वह च्युत है, विषभक्षण, रक्तक्षय, वातुक्षय, शस्त्राघात, संक्लेश, अग्निदाह, जल प्रवेश प्रभृति विभिन्न निमित्तों से जो शरीर छूटता है, वह च्वावित है। रोग आदि समुत्पन्न होने पर तथा असाध्य मारणांतिक कष्ट व उपसर्ग आदि उपस्थित होने पर विवेकयुक्त समभावपूर्वक जो शरीर त्याग किया जाता है, वह त्यक्त है। त्यक्त शरीर ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें साधक पूर्ण जागृत रहता है। उसके मन में संक्लेश नहीं होता। इसी मरण को संथारा, समाधिमरण, पण्डितमरण, संलेखनामरण प्रभृति विविध नामों से कहा गया है।

संथारा पोरसी

जैन परम्परा में सोते समय जब मानव की चेतना-शक्ति धुँधली पड़ जाती है, शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, वह एक प्रकार से अल्पकालीन मृत्यु ही है। उस समय साधक अपनी रक्षा का किंचित् मात्र भी प्रयास नहीं कर सकता, अतः प्रतिदिन रात्रि में सोते समय सागारी संथारा करने का विधान है, जिसे “संथारा पोरसी” कहते हैं। सोने के पश्चात् पता नहीं प्रातःकाल सुखपूर्वक उठ सकेगा या नहीं। इसीलिए प्रतिपल प्रतिक्षण सावधान रहने का शास्त्रकारों ने सन्देश दिया है। मोह की प्रबलता में मृत्यु को न भूला जाये। उसे प्रतिक्षण याद रखा जाये। ममता भाव से मुड़कर समता भाव में रमण किया जाये, बाह्य जगत् से हटकर अन्तर जगत् में प्रवेश किया जाये। सोते समय यदि विशुद्ध भावना रहती है तो स्वप्न में भी विचार शुद्ध रहते हैं। इसीलिए साधक सोते समय ‘संथारा पोरसी’ करता है।

संथारा या पण्डितमरण एक महान् कृत्य है। मृत्यु को मित्र मानकर साधक उसके स्वागत की तैयारी करता है। वह अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है। उसका मन स्फटिक की तरह उस समय निर्मल होता है। पण्डितमरण को समाधिमरण भी कहते हैं। संथारा ग्रहण करने के पूर्व साधक संलेखना करता है। संलेखना संथारे के पूर्व की भूमिका है। संलेखना के पश्चात् जो संथारा किया जाता है उसमें अधिक निर्मलता और विशुद्धता होती है।

21.5 संलेखना का महत्त्व

जैन परम्परा में समाधि मृत्यु की तैयारी के लिए साधना का प्रावधान है। वह है संलेखना। संलेखनापूर्वक मृत्यु को महोत्सव कहा गया है। आचार्य पूज्यपाद ने ‘मृत्यु महोत्सव’ नामक ग्रन्थ में लिखा है—जीवन भर तपे तप का, पालित व्रत का पठित श्रुत का फल समाधि मृत्यु है।

श्रमण और श्रावक दोनों के लिए संलेखना आवश्यक मानी गई है। श्वेताम्बर परम्परा में “संलेखना” शब्द का प्रयोग हुआ है तो दिगम्बर परम्परा में “सल्लेखना” शब्द का। संलेखना व्रतराज है। जीवन की अन्तिम बेला में की जाने वाली एक उत्कृष्ट साधना है। जीवन भर कोई साधक उत्कृष्ट तप की साधना करता रहे, पर अन्त समय में यदि वह राग-द्वेष के दल-दल में फँस जायें तो उसका जीवन निष्फल हो जाता है। उसकी साधना विराधना में परिवर्तित हो जाती है। आचार्य शिवकोटि ने तो यहाँ तक लिखा है—ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मानव यदि मरण के समय धर्म की विराधना कर बैठता है तो वह संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करता है।

21.6 संलेखना : जीवन की अन्तिम साधना

संलेखना मन की उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। संलेखना मृत्यु का आकस्मिक वरण नहीं है और न वह मौत का आह्वान ही है, वरन् जीवन के अन्तिम क्षणों में सावधानीपूर्वक चलना है। वह मृत्यु

को मित्र की तरह आह्वान करता है—मित्र! आओ, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मुझे शरीर पर मोह नहीं है। मैंने अपने कर्तव्य को पूर्ण किया है। मैंने अगले जन्म के लिए सुगति का मार्ग ग्रहण कर लिया है। संलेखना जीवन की अंतिम आवश्यक साधना है। वह जीवन मन्दिर का सुन्दर कलश है। यदि संलेखना के बिना साधक मृत्यु का वरण करता है तो उसे कदापि उचित नहीं माना जा सकता। संलेखना को एक दृष्टि से स्वेच्छ-मृत्यु कहा जा सकता है। जब वैराग्य का तीव्र उदय होता है तब साधक को शरीर और अन्य पदार्थ में बन्धन की अनुभूति होती है। वह बन्धन को समझकर उससे मुक्त होना चाहता है।

महाराष्ट्र के सन्त कवि ने कहा है—“माझे मरण पाही एले डोला तो झाला सोहला अनुपम्य” ‘मैंने अपनी आँखों से मृत्यु को देख लिया, यह अनुपम महोत्सव है।’

वह मृत्यु को आमंत्रित करता है, पर मृत्यु से भयभीत नहीं होता। जैसे कबूतर पर बिल्ली झपटती है तब कबूतर आँखें मूंद लेता है और वह सोचता है अब बिल्ली झपटेगी नहीं। आँखें मूंद लेने मात्र से बिल्ली कबूतर को छोड़ती नहीं है। इसी तरह यमराज भी मृत्यु को भुला देने वाले को छोड़ता नहीं है। वह तो अपना हमला करता ही है। अतः साधक कायर की भाँति मुँह नहीं मोड़ता अपितु वीर सेनानी की तरह मुस्कराते हुए मृत्यु का स्वागत करता है।

21.7 संलेखना : मृत्यु पर विजय पाने की कला

संलेखना मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कला सिखाती है। वह जीवन-शुद्धि और मरण-शुद्धि की एक प्रक्रिया है। जिस साधक ने मदन के मद को गलित कर दिया है जो परिग्रह पंक से मुक्त हो चुका है, सदा सर्वदा आत्म-चिन्तन में लीन रहता है वही व्यक्ति उस मार्ग को अपनाता है। संलेखना में सामान्य मनोबल वाला साधक, विशिष्ट मनोबल प्राप्त करता है। उसकी मृत्यु असमाधि का नहीं, समाधि का कारण है। एक सन्त कवि ने कहा है—जैसे कोई वधू डोले पर बैठकर ससुराल जा रही हो। तब उसके मन में अपार आह्लाद होता है, वैसे ही साधक को भी परलोक जाते समय अपार प्रसन्नता होती है।

21.8 संलेखना और समाधिमरण

संलेखना और समाधिमरण ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रथम संलेखना का लक्षण बताया है और द्वितीय श्लोक में समाधिमरण का। आचार्य शिवकोटि ने ‘संलेखना’ और समाधिमरण को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक और श्रमण दोनों के लिए संलेखना का प्रतिपादन कर संलेखना और समाधिमरण का भेद मिला दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरण श्रमण के लिए मानते हैं और संलेखना गृहस्थ के लिए।

संलेखना क्या शिक्षाव्रत है?

श्रावक के द्वादश व्रतों में जो चार शिक्षाव्रत हैं उनमें आचार्य कुन्दकुन्द ने संलेखना को चौथा शिक्षाव्रत माना है। आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए शिवार्यकोटि, आचार्य देवसेन, आचार्य जिनसेन, आचार्य वसुनन्दी आदि ने संलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है। किन्तु आचार्य उमास्वाति ने संलेखना को श्रावक के द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। उन्होंने संलेखना का अलग नियम व धर्म के रूप में प्रतिपादन किया है। आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, आचार्य अकलंक, विद्यानन्दी, आचार्य सोमदेव, अमितगति, स्वामि कार्तिकेय प्रभृति अनेक आचार्यों ने आचार्य उमास्वाति के कथन का समर्थन किया है। इन सभी आचार्यों ने एक स्वर से इस सत्य-तथ्य को स्वीकार किया है कि शिक्षाव्रतों में इसको नहीं गिनना चाहिए क्योंकि शिक्षाव्रतों में अभ्यास किया जाता है। जबकि संलेखना मृत्यु का समय उपस्थित होने पर स्वीकार की जाती है; उस समय अभ्यास के लिए अवकाश ही कहाँ है? यदि द्वादश व्रतों में संलेखना को गिनें तो फिर एकादश प्रतिमाओं को धारण करने का अवसर ही कहाँ रहेगा इसलिए उमास्वाति का मानना उचित है।

श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य और आगमैतर साहित्य में कहीं पर भी संलेखना को द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। इसलिए समाधिमरण श्रमण के लिए और संलेखना गृहस्थ के लिए है यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आगम साहित्य में अनेक श्रमण-श्रमणियों के द्वारा संलेखना ग्रहण करने के प्रमाण समुपलब्ध होते हैं।

21.9 संलेखना की व्याख्या

आचार्य अभयदेव ने 'स्थानांगवृत्ति' में संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखा है—जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को दुर्बल और कृश किया जाता है, वह संलेखना है। 'ज्ञातासूत्र' की वृत्ति में भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। 'प्रवचनसारोद्धार' में "शास्त्र में प्रसिद्ध चरम अनशन की विधि को संलेखना कहा है।" निशीथचूर्णि व अन्य स्थलों पर संलेखना का अर्थ छीलना—कृश करना किया है। शरीर को कृश करना द्रव्य-संलेखना है और कषाय को कृश करना भाव-संलेखना है।

संलेखना यह 'सम्' और 'लेखना' इन दोनों के संयोग से बना है। सम् का अर्थ है सम्यक् और लेखना का अर्थ है कृश करना। सम्यक् प्रकार से कृश करना। जैन दृष्टि से काय और कषाय को कर्मबन्धन का मूल कारण माना है, इसीलिए उसे कृश करना ही संलेखना है। आचार्य पूज्यपाद ने और आचार्य श्रुतसागर ने काय व कषाय को कृश करने पर बल दिया है। श्री चामुण्डराय ने 'चारित्रसार' में लिखा है—बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का क्रमशः उनके कारणों को घटाते हुए सम्यक् प्रकार से क्षीण करना संलेखना है।

मरण के दो भेद बताए गए हैं—नित्यमरण और तद्भवमरण। तद्भवमरण को सुधारने के लिए संलेखना का वर्णन है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा है—मृत्यु काल आने पर साधक को प्रीतिपूर्वक संलेखना धारण करनी चाहिए। आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंक और आचार्य श्रुतसागर ने 'मरणोत्तिरी संलेखना जोषिता' में जोषिता का अर्थ "प्रीतिपूर्वक" किया है। जिस संलेखना में प्रीति का अभाव है, वह संलेखना सम्यक् संलेखना नहीं है। जब कभी मृत्यु पीछा करती है उस समय सामान्य प्राणी की स्थिति अत्यन्त कातर होती है, जैसे शिकारी द्वारा पीछा करने पर हरिणी घबरा जाती है। इसके विपरीत वीर योद्धा पीछा करने वाले योद्धाओं से घबराता नहीं, आगे बढ़कर उनसे जूझता है; वह जैसे-तैसे जीवन जीना पसन्द नहीं करता, किन्तु दुर्गुणों को नष्ट कर जीवन जीना चाहता है। एक क्षण भी जीऊँ—यही उसके अन्तर्हृदय की आवाज होती है। जो साधक जीवन के रहस्य को नहीं पहचानता है, और न मृत्यु के रहस्य को ही पहचानता है, उसका निस्तेज जीवन एक प्रकार से व्यक्तित्व का मरण ही है।

संलेखना के साथ मारणांतिक विशेषण प्रयुक्त होता है। इससे अन्य तपःकर्म से संलेखना का पार्थक्य और वैशिष्ट्य परिज्ञात होता है। काय संलेखना को बाह्य संलेखना कहते हैं और कषाय संलेखना को आभ्यन्तर संलेखना। बाह्य संलेखना में आभ्यन्तर कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को वह शनैः-शनैः कृश करता है। इस प्रकार संलेखना में कषाय क्षीण होने पर भी मन में अपूर्व आनन्द रहता है।

संलेखना में शरीर और कषाय को साधक इतना कृश कर लेता है जिससे उसके अन्तर्मानस में किसी भी प्रकार की कामना नहीं होती। उसके अनशन में पूर्ण रूप से स्थैर्य आ जाता है। अनशन से शरीर क्षीण हो सकता है, पर आयुर्कर्म क्षीण न हो और वह सबल हो तो अनशन दीर्घ काल तक चलता है, जैसे दीपक में तेल और बाती का एक साथ ही क्षय होने से दीपक बुझता है वैसे की आयुष्यकर्म और देह एक साथ क्षय होने से अनशन पूर्ण होता है।

21.10 संलेखना कब करनी चाहिए

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है प्रतीकार रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्षा, जरा व रूग्ण स्थिति में या अन्य किसी कारण के उपस्थित होने पर साधक संलेखना करता है। मूलाराधना में संलेखना के अधिकारी का वर्णन करते हुए सात मुख्य कारण दिये हैं—

1. दुश्चिकित्स्यव्याधि—संयम को परित्याग किये बिना जिस व्याधि का उपचार करना संभव नहीं हो, ऐसी स्थिति समुत्पन्न होने पर।
2. वृद्धावस्था—जो श्रमण जीवन की साधना करने में बाधक हो।
3. मानव, देव और तिर्य्यच सम्बन्धी कठिन उपसर्ग उपस्थित होने पर।
4. चारित्र विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग उपस्थित किये जाते हों।
5. भयंकर दुष्काल में शुद्ध भिक्षा प्राप्त होना कठिन हो रहा हो।

6. भयंकर अटवी में दिग्विमूढ होकर पथभ्रष्ट हो जाय।

7. देखने की शक्ति व श्रवणशक्ति और पैर आदि से चलने की शक्ति क्षीण हो जाय।

इस प्रकार के अन्य कारण भी उपस्थित हो जाने पर साधक अनशन का अधिकारी होता है।

21.11 संलेखना की विधि

संलेखना का उत्कृष्ट काल 12 वर्ष का माना गया है। मध्यम काल एक वर्ष का है और जघन्य काल छः महीने का। 'प्रवचनसारोद्धार' में उत्कृष्ट संलेखना का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए बताया है कि प्रथम चार वर्षों में चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि तप की उत्कृष्ट साधना करता रहे और पारणे में शुद्ध तथा योग्य आहार ग्रहण करे। अगले चार वर्ष में उक्त विधि से विविध प्रकार से विचित्र तप करता रहे और पारणे में रसनिर्वृद्ध 'विगय' अर्थात् दूध, दही, घी, तेल, चीनी आदि (निकृत्) का परित्याग कर दे। इस तरह आठ वर्ष तक तपःसाधना करता रहे। नौवें और दसवें वर्ष में उपवास करे तथा पारणे में आर्यंबिल तप की साधना करे। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छः मास में सिर्फ चतुर्थ भक्त, छठ्ठ भक्त (बेला) तप के साथ तप करे और पारणे में आर्यंबिल तप की साधना करे तथा आर्यंबिल में भी ऊनोदरी तप करे। अगले छः माह में उपवास, छठ्ठ भक्त, अष्टम भक्त, दशम भक्त, प्रभृति तप करे किन्तु पारणे में आर्यंबिल तप करना आवश्यक है। इन छः माह में आर्यंबिल तप में ऊनोदरी तप करने का विधान नहीं है।

संलेखना के बारहवें वर्ष के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत रहे हैं। आचार्य जिनदासगणी महत्तर का अभिमत है कि बारहवें वर्ष में निरन्तर उष्ण जल के आहार के साथ हायमान आर्यंबिल तप करे जिस आर्यंबिल में अंतिम क्षण द्वितीय आर्यंबिल के आदि क्षण से मिल जाता है वह 'कोडीसहिय आर्यंबिल' कहलाता है। हायमान से तात्पर्य है निरन्तर भोजन और पानी की मात्रा न्यून करते जाना। वर्ष के अन्त में उस स्थिति पर पहुँच जाये कि एक दाना अन्न और एक बूँद पानी ग्रहण किया जाय। प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में भी प्रस्तुत क्रम का ही प्रतिपादन किया है।

बारहवें वर्ष में भोजन करते हुए प्रतिदिन एक-एक कवल कम करना चाहिए। एक-एक कवल कम करते-करते जब एक कवल आहार आ जाय तब एक-एक दाना कम करते हुए अंतिम चरण में एक दाने को ही ग्रहण करे। इस प्रकार अनशन की स्थिति पहुँचने पर साधक फिर पादोपगमन अथवा इंगिणीमरण अनशन व्रत ग्रहण कर समाधिमरण को प्राप्त होवे।

उत्तराख्ययन वृत्ति के अनुसार संलेखना का क्रम इस प्रकार है। प्रथम चार वर्ष में विकृति-परित्याग अथवा आर्यंबिल, द्वितीय चार वर्ष में विचित्र तप, उपवास, छठ्ठ आदि; पारणे में यथेष्ट भोजन ग्रहण कर सकता है। नौवें और दसवें वर्ष में एकान्तर उपवास और पारणे में आर्यंबिल किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छः माह में वह उपवास वेला आदि तपस्या करता है और पारणक में आर्यंबिल करता है। शेष छह महीनों में अष्टम, दशम, द्वादश भक्त आदि की तपस्या करता है और पारणे में आर्यंबिल करता है, जिसे विकृष्ट तप कहा है। प्रथम छः माह में आर्यंबिल में ऊनोदरी तप करते हैं। और द्वितीय छः माह में आर्यंबिल के समय भरपेट आहार ग्रहण किया जाता है। बारहवें वर्ष में कोटि-सहित आर्यंबिल अर्थात् निरन्तर आर्यंबिल किया जाता है या प्रथम दिन आर्यंबिल और दूसरे दिन अन्य कोई तप किया जाता है, पुनः तीसरे दिन आर्यंबिल किया जाता है। बारहवें वर्ष के अन्त में अर्धमासिक या मासिक अनशन भक्त, परिज्ञा आदि किया जाता है।

जिनदासगणि क्षमाश्रमण के अभिमतानुसार संलेखना के बारहवें वर्ष में धीरे-धीरे आहार की मात्रा न्यून की जाती है, जिससे आहार और आयु एक साथ समाप्त हो सकें। उस वर्ष अन्तिम चार महीनों में मुख-यन्त्र विसंवादी न हो अर्थात् नमस्कार महामन्त्र आदि के जप करने में असमर्थ न हो जाय, एतदर्थ कुछ समय के लिए मुँह में तेलभरकर रखा जा सकता है।

दिगम्बर आचार्य शिवकोटि ने अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता इन छः बाध्य संलेखना का साधन माना है। संलेखना का दूसरा क्रम यह भी है कि प्रथम दिन उपवास और द्वितीय

दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप किया जाय। बारह प्रकार की जो भिक्षु प्रतिमाएँ हैं उन्हें भी संलेखना का साधन माना गया है।

काय-संलेखना के इन विविध विकल्पों में आर्यबिल तप उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का माना है। उनकी दृष्टि से प्रथम चार वर्षों में विचित्र कायक्लेशों के द्वारा तन को कृश किया जाता है। उसमें कोई क्रम नहीं होता। दूसरे चार वर्षों में विकृतियों का परित्याग कर शरीर को कृश किया जाता है। नौवें और दसवें वर्ष में आर्यबिल और विकृतियों का त्याग किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष में केवल आर्यबिल किया जाता है। बारहवें वर्ष में प्रथम छः माह में अविकृष्ट तप, उपवास, बेला आदि किया जाता है। बारहवें वर्ष के द्वितीय छः माह में विकृष्टतम तेला, चौला आदि तप किये जाते हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में संलेखना के विषय में यत्किंचित् मतभेद है पर दोनों ही परम्पराओं का तात्पर्य एक सदृश है। मूलाराधना में आचार्य शिवकोटि ने लिखा है—संलेखना का जो क्रम प्रतिपादित किया गया है वही क्रम पूर्ण रूप से निश्चित हो, यह बात नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और शारीरिक संस्थान आदि की दृष्टि से उस क्रम में परिवर्तन भी किया जा सकता है।

संलेखना में जो तपविधि का प्रतिपादन किया गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि तप ही संलेखना है। तप के साथ कषायों की मन्दता आवश्यक है। विषयों से निवृत्ति अनिवार्य है। तपःकर्म के साथ ही अप्रशस्त भावनाओं का परित्याग और प्रशस्त भावनाओं का चिन्तन परमावश्यक है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि संलेखना व्रत ग्रहण करने के पूर्व संलेखना व्रतधारी को विचारों की विशुद्धि के लिए सभी सांसारिक संबंधों से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिए। मानसिक शान्ति के लिए साधक को सबसे पहले सद्गुरु के समक्ष निःशल्य होकर आलोचना करनी चाहिए। आलोचना करते समय मन में किंचित मात्र भी संकोच नहीं रखना चाहिए। अपने जीवन में तन से, मन से और वचन से जो पापकृत्य किये हों, करवाये हों या करने की प्रेरणा दी हो उनकी आलोचना कर हृदय को विशुद्ध बनाना चाहिए। यदि आचार्य या सद्गुरु का अभाव हो तो अपने दोषों को बहुश्रुत श्रावकों एवं साधर्मि भाइयों के समक्ष प्रकट कर देना चाहिए। पंच परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए।

आचार्य वीरनन्दी ने अपने 'आचारसार' नामक ग्रंथ में लिखा है कि साधक को संलेखना की सफलता के लिए योग्य स्थान का चुनाव करना चाहिए जहाँ के राजा के मन में धार्मिक भावना हो, जहाँ की प्रजा आर्थिक दृष्टि से सुखी हो, जहाँ गृहरा निष्ठा हो, जहाँ का वातावरण तपःसाधना के लिए व्यवधानकारी न हो। साथ ही साधक को अपने शरीर तथा चेतन-अचेतन किसी भी वस्तु के प्रति मोह-ममता न हो। यहाँ तक कि अपने शिष्यों के प्रति भी मन में किंचित् मात्र भी आसक्ति न हो। वह परीषहों को सहन करने में सक्षम हो। संलेखना की अवधि में पहले ठोस पदार्थों का आहार में उपयोग करे। उसके पश्चात् पेय पदार्थ ग्रहण करे। आहार उस प्रकार का ग्रहण करना चाहिए जिससे शरीर के वात, पित्त, कफ विक्षुब्ध न हों।

संलेखना ग्रहण करने के पूर्व इस बात की जानकारी आवश्यक है कि जीवन और मरण की अवधि कितनी है। यदि शरीर में व्याधि हो गई हो पर जीवन की अवधि लंबी हो तो साधक को संलेखना ग्रहण करने का विधान नहीं है। दिगम्बर परम्परा के तेजस्वी आचार्य समन्तभद्र को 'भस्म रोग' हो गया और उससे वे अत्यन्त पीड़ित रहने लगे। उन्होंने अपने गुरु से संलेखना की अनुमति चाही। पर उनके सद्गुरुदेव ने अनुमति नहीं दी, क्योंकि उन्होंने देखा कि इनका आयु-बल अधिक है, इनसे जिन-शासन की प्रभावना होगी।

21.12 संधारे की विधि

संलेखना के पश्चात् संधारा किया जाता है। श्वेताम्बर आगम ग्रंथों की दृष्टि से संधाराग्रहण-विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम किसी निरवद्य शुद्ध स्थान में अपना आसन जमाये। उसके पश्चात् वह दर्भ, घास, पलाल आदि में से किसी का संधारा—बिछौना बिछाए। फिर पूर्व या उत्तर दिशा में मुँह करके बैठे। उसके पश्चात् 'अहं भंते! अपश्चिम् मारणंतिय संलेहणा-झूसणां आराहणाए आरोहेमि'—“हे भगवन्! अब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन एवं आराधना करता हूँ”—इस प्रकार प्रतिज्ञा ग्रहण करे। उसके बाद नमस्कार महामन्त्र तीन बार, वन्दना, 'इच्छाकारेणं, तस्स उत्तरी करेणं, लोगस्स' का पाठ व उसके पश्चात्

ऊपर का पाठ बोलकर तीर्थंकर भगवान की साक्षी से इस व्रत को ग्रहण करें। तदुपरान्त निवेदन करें—“भगवन! मैं अभी से सागरी या आगाररहित संथारा—भक्तप्रत्याख्यान करता हूँ—चारों आहार का त्याग करता हूँ। अठारह पापस्थानों का त्याग करता हूँ। मनोज्ञ, इष्ट, कान्त, प्रिय, विश्वसनीय, आदेय, अनुमत, बहुमत, भाण्डकरण्डक समान, शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि मिटाकर सदा जतन किया हुआ, हत्यारे, चौरादि से, डांस-मच्छर आदि से रक्षा किया हुआ, व्याधि, पित्त, कफ, वात सन्निपातिक आदि से भी बचाया हुआ विविध प्रकार के स्पर्शों से सुरक्षित, श्वासोच्छ्वास की सुरक्षा प्राप्त इस शरीर पर मैंने जो अब तक मोह-ममत्व किया था, उसे अब मैं अंतिम श्वासोच्छ्वास तक त्यागता हूँ, मुझे कोई भी चिन्ता न होगी, क्योंकि अब यह शरीर धर्म-पालन करने में समर्थ न रहा, बोझरूप हो गया, आतंकित या अत्यन्त जीर्ण, अशक्त हो गया।”

उपासकदशांग में आनन्द श्रमणोपासक बहुत वर्षों तक गृहस्थ जीवन के सुखों का उपभोग करते रहे। जीवन की सान्ध्यवेला में वे स्वयं पौषषशाला में जाते हैं और ‘दग्ध संथारयं संलेख’—दर्भ का संथारा बिछाते हैं। धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर विविध तप-कार्यों द्वारा उपासक प्रतिमाओं की आराधना करते हुए शरीर को कृश करते हैं। जिसे हम संथारा कहते हैं वह अनशन का द्योतक है। आंगम साहित्य में संथारा का अर्थ ‘दर्भ का बिछौना’ है। ‘संलेखना’ शब्द का प्रयोग “सासियाए संलेहणाए अचाणं झूसिता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेत्ता” इस सूत्र रूप में किया जाता है। “प्रवचनसारोद्धार” में लिखा है—साधक द्वादशवर्षीय उत्कृष्ट संलेखना करके तदनन्तर कन्दरा पर्वत, गुफा या किसी निर्दोष स्थान पर जाकर पादोपगमन या भक्तप्रत्याख्यान या इंगिणीमरण को धारण करें।

सारांश यह है कि संलेखना के पश्चात् संथारा ग्रहण किया जाता था। यदि कोई आकस्मिक कारण आ जाता तो संलेखना के बिना भी संथारा ग्रहण कर समाधिमरण को वरण किया जाता था।

21.13 संथारा-संलेखना का महत्त्व

संथारा-संलेखना करने वाला साधक धर्मरूपी अमृत को पान करने के कारण संसार के सभी दुखों से मुक्त हो जाता है, तथा निःश्रेयस और अभ्युदय के अपरिमित सुखों को प्राप्त करता है। पण्डित आशाधरजी ने कहा है—जिस महासाधक ने संसार परम्परा को सम्पूर्ण रूप से उन्मूलन करने वाले समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधि को पर-भव में जाने के लिए साथ ले लिया है। इस जीव ने अनन्त बार मरण प्राप्त किया, किन्तु समाधि सहित पुण्यमरण नहीं हुआ। यदि समाधि सहित पुण्यमरण होता तो यह आत्मा संसाररूपी पिंजड़े में कभी भी बन्द होकर नहीं रहता। भगवती आराधना में कहा है—जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—जीवन में आचरित तपों का फल अन्त समय में गृहीत संलेखना है। ‘मृत्यु महोत्सव’ में लिखा है—जो महान् फल बड़े-बड़े व्रती, संयमी आदि को कायक्लेश आदि उत्कृष्ट तप तथा अहिंसा आदि महाव्रतों को धारण करने से प्राप्त नहीं होता वह फल अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने से प्राप्त होता है।

21.14 संलेखना के पाँच अतिचार

1. इहलोकाशंसा प्रयोग—धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकांक्षा करना।
2. परलोकाशंसा प्रयोग—स्वर्ग-सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी बात की आकांक्षा करना।
3. जीविताशंसा प्रयोग—जीवन की आकांक्षा करना।
4. मरणाशंसा प्रयोग—कष्टों से घबराकर शीघ्र मरने की आकांक्षा करना।
5. कामभोगाशंसा प्रयोग—अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के रूप में काम-भोगों की आकांक्षा करना।

सावधानी रखने पर भी प्रमाद या अज्ञान के कारण जिन दोषों के लगने की संभावना है उन्हें अतिचार कहा है। साधक इन दोषों से बचने का प्रयास करता है।

जैन परम्परा की तरह ही तथागत बुद्ध ने भी जीवन की तृष्णा और मृत्यु की इच्छा को अनैतिक माना है। बुद्ध की दृष्टि से भवतृष्णा और विभवतृष्णा क्रमशः जीविताशा और मरणाताशा का द्योतक है। जब तक ये आशाएँ और तृष्णाएँ चिदाकाश में मँडराती रहती हैं वहाँ तक पूर्ण नैतिकता नहीं आ सकती। इसलिए इनसे बचना आवश्यक है।

साधक को न जीने की इच्छा करनी चाहिए, न मरने की इच्छा करनी चाहिए। जीने की इच्छा में प्राणों के प्रति मोह झलकता है तो मरने की इच्छा में जीने के प्रति अनिच्छा व्यक्त होती है। साधक को जीने और मरने के प्रति अनासक्त और निर्माह होना चाहिए। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा—साधक जीवन और मरण दोनों ही विकल्पों से मुक्त होकर अनासक्त बनकर रहे और सदा आत्मभाव में स्थित रहे।

21.15 संलेखना आत्महत्या नहीं है

जिन विज्ञों को समाधिमरण के सम्बन्ध में सही जानकारी नहीं है, उन विज्ञों ने यह आक्षेप लगाया है कि समाधिमरण आत्महत्या है। पर गड़राई से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि समाधिमरण आत्महत्या नहीं है। जिनका जीवन भौतिकता से ग्रसित है, जो जरा-सा भी शारीरिक कष्ट सहन नहीं कर सकते, जिन्हें आत्मोद्धार का परिज्ञान नहीं है, वे मृत्यु से भयभीत होते हैं, पर जिन्हें आत्म-तत्त्व का परिज्ञान है, जिन्हें दृढ़ विश्वास है कि आत्मा और देह दोनों पृथक् हैं, उन्हें देहत्याग के समय किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं होती, जैसे एक यात्री को सराय छोड़ते समय मन में विचार नहीं आता।

समाधिमरण में मरने की किंचित् मात्र भी इच्छा नहीं होती, इसलिए वह आत्म-हत्या नहीं है। समाधिमरण के समय जो आहारादि का परित्याग किया जाता है उस परित्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, पर देह-पोषण की इच्छा का अभाव होता है। आहार के परित्याग से मृत्यु हो तो सकती है, किन्तु उस साधक को मृत्यु की इच्छा नहीं है। किसी व्यक्ति के शरीर में कोई फोड़ा हो चुका है, डाक्टर उसकी शल्य-चिकित्सा करता है। शल्य चिकित्सा से उसे अपार वेदना होती है। किन्तु वह शल्य-चिकित्सा रुग्न व्यक्ति को कष्ट देने के लिए नहीं, अपितु उसके कष्ट के प्रतिकार के लिए है; वैसे ही संथारा-संलेखना की जो क्रिया है वह मृत्यु के लिए नहीं पर उसके प्रतिकार के लिए है।

एक रुग्न व्यक्ति है। डाक्टर शल्य-चिकित्सा के द्वारा उसकी व्याधि को नष्ट करने का प्रयास करता है। शल्य-चिकित्सा करते समय डाक्टर प्रबल प्रयास करता है कि रुग्न व्यक्ति बच जाय। उसके प्रयत्न के बावजूद भी यदि रुग्न व्यक्ति मर जाता है तो डाक्टर हत्यारा नहीं कहलाता। इसी तरह संथारा-संलेखना में होने वाली मृत्यु आत्महत्या नहीं हो सकती। शल्य-चिकित्सा वैहिक जीवन की सुरक्षा के लिए है और संलेखना-संथारा आध्यात्मिक जीवन की सुरक्षा के लिए है।

कितने ही समालोचक जैनदर्शन पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि जैन दर्शन मिथ्यामोह से इन्कार नहीं करता, वह जीवन से इन्कार करता है। पर उनकी यह समालोचना भ्रान्त है। जैन दर्शन के मिथ्यामोह से इन्कार अवश्य करता है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि यदि जीवन जीने में कोई विशिष्ट लाभ है, तुम्हारा जीवन स्व और परहित की साधना के लिए उपयोगी है तो तुम्हारा कर्तव्य है कि सभी प्रकार से जीवन की सुरक्षा करो। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में साधक को कहा—“तुम्हारा शरीर न रहेगा तो तुम संयम की साधना, तप-आराधना और मनो-मंथन किस प्रकार कर सकोगे? संयम-साधना के लिए तुम्हें देह की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। उसका प्रतिपालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।” संयमी साधक के शरीर की समस्त क्रियाएँ संयम के लिए हैं। जिस शरीर से संयम की विराधना होती हो, मन में संक्लेश पैदा होता हो वह जीवन किस काम का?

संलेखना व संथारे के द्वारा जो समाधिपूर्वक मरण होता है, उसमें और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है। आत्महत्या वह व्यक्ति करता है जो परिस्थितियों से उत्पीड़ित है, उद्विग्न है, जिसकी मनोकामनाएँ पूर्ण नहीं हुई हैं। वह संघर्षों से ऊबकर जीवन से पलायन करना चाहता है या किसी से अपमान होने पर, कलह होने पर, आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर, पारस्परिक मनोमालिन्य होने पर, किसी के द्वारा तीखे व्यंग कसने

पर, वह कुँ में कूदकर, समुद्र में गिरकर पेट्रोल और तेल छिड़ककर, ट्रेन के नीचे आकर, विष का प्रयोग कर, फाँसी आदि लगाकर या किसी शस्त्र से अपना जीवन समाप्त करना चाहता है। आत्महत्या में वीरता नहीं, कायरता है; जीवन से भागने का प्रयास है। आत्महत्या के मूल में भय और कामनाएँ रही हुई हैं। उसमें कषाय और वासना की तीव्रता है—उत्तेजना है। पर समाधिमरण में संघर्षों से साधक भयभीत नहीं होता। उसके मन में कषाय, वासना और संयम-रक्षा इन दो में से एक को चुनने का प्रश्न आता है तो साधक उस समय देह को नश्वर समझकर संयम की रक्षा के लिए संयम के पथ को अपनाता है।

जीवन की साम्यवेला में जब उसे मृत्यु सामने खड़ी दिखाई देती है, वह निर्भय होकर उस मृत्यु को स्वीकार करना चाहता है। उसकी स्वीकृति में अपूर्व प्रसन्नता होती है। वह सोचता है कि यह आत्मा अनन्त काल से कर्मजाल में फँसी हुई है। उस जाल को तोड़ने का मुझे अपूर्व अवसर मिला है। वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने के लिए—अविनश्वर आनन्द को प्राप्त करने के लिए शरीर को त्यागता है। समाधिमरण में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य के द्वारा यह चिन्तन करता है कि कर्मबन्धन का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण ही मैं देह और आत्मा को एक मानता रहा हूँ। जैसे चना और उसकी फली का खोल पृथक् हैं, वैसे ही आत्मा और देह पृथक् हैं। मिथ्यात्व से ही पर-पदार्थों में रति होती है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है। मिथ्यात्व के कारण वह निजगुण प्रकट नहीं हो सका है। आत्मा सही ज्ञान के अभाव में अनन्त काल से विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। जब ज्ञान का पूर्ण निखार होगा तब उसे केवलज्ञान प्राप्त होगा।

इस प्रकार साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से आत्मा और देह को पृथक्ता को समझकर चारित्र्य और तप की आराधना करता है। उसकी आराधना में किसी भी प्रकार की आसक्ति और भय नहीं होता। इसलिए समाधिमरण आत्महत्या नहीं है।

21.16 संलेखना की विशेषताएँ

संक्षेप में संलेखना व समाधिमरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. जैनधर्म की दृष्टि से शरीर और आत्मा ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं।
2. आत्मा निश्चय नय की दृष्टि से विशुद्ध है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य, अनन्त आनन्द से युक्त है। जो शरीर हमें प्राप्त हुआ है उसका मूल कर्म है। कर्म के कारण ही पुनर्जन्म है, मृत्यु है, व्याधियाँ हैं।
3. दैनन्दिन जीवन में जो धार्मिक साधना पर—तप पर बल दिया गया है, उसका मूल उद्देश्य है आत्मा में जो कर्ममैल है उस मैल को दूर करना। प्रश्न हो सकता है—कैसे आत्मा पर चिपके हुए हैं, फिर शरीर को कष्ट क्यों दिया जाय? उत्तर है—घृत में यदि मलिनता है तो उस मलिनता को नष्ट करने के लिए घृत को तपाया जाता है; किन्तु घृत अकेला नहीं तपाया जा सकता, वह बरतन के माध्यम से ही तपाया जा सकता है। वैसे ही आत्मा के मैल को नष्ट करने के लिए शरीर को भी तपाया जाता है। यही कारण है कि संलेखना में कषाय के साथ तन को भी कृश किया जाता है।
4. जब शरीर में वृद्धावस्था का प्रकोप हो, रुग्णता हो, अकाल आदि के कारण शरीर के नष्ट होने का प्रतीति उपस्थित हो, उस समय साधक को संलेखना व्रत ग्रहण कर आत्मभाव में स्थिर रहना चाहिए। संलेखना आत्मभाव में स्थिर रहने का महान् उपाय है।
5. संलेखना व्रत ग्रहण करने वाले को पहले मृत्यु के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। मृत्यु की जानकारी के लिए श्वेताम्बर आचार्यों ने अनेक उपाय बताये हैं। उपदेशमाला के आम्नाय आदि के द्वारा आयु का समय सरलता से जाना जा सकता है।
6. संलेखना करने वाले साधक का मन वासना से मुक्त हो, उसमें किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं होनी चाहिए।
7. संलेखना करने से पूर्व जिनके साथ कभी भी और किसी भी प्रकार का वैमनस्य हुआ हो उनसे क्षमा याचना कर लेनी चाहिए और दूसरों को क्षमा प्रदान भी कर देनी चाहिए।

8. संलेखना में तनिक मात्र भी विषम भाव न हो मन में समभाव की मंदाकिनी सतत् प्रवाहित रहे।
9. संलेखना स्वेच्छा से ग्रहण करनी चाहिए। किसी के दबाव में आकर अथवा स्वर्ग आदि के सुखों की प्राप्ति की इच्छा से संलेखना-संधारा नहीं करना चाहिए।
10. संलेखना करने वाला साधक मन में यह न सोचे कि मेरी संधारा-संलेखना लम्बे काल तक चले जिससे लोग मेरे दर्शन हेतु उपस्थित हो सकें, मेरी प्रशंसा हो; और यह भी न सोचे कि मैं शीघ्र ही मृत्यु को वरण कर लूँ।

21.17 सारांश—संलेखना में साधक न जीने की इच्छा करता है न मरने की। वह तो सदा समभाव में रह कर संलेखना की साधना करता है। उसमें लोकैषणा नहीं होती है।

21.18 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संलेखना पर एक विस्तृत निबन्ध लिखें?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. संलेखना और आत्महत्या में क्या अन्तर है?
2. संलेखना की विधि क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संधारा कब किया जाता है?
2. पंडित मरण के कितने प्रकार हैं?
3. संधारा पोरसी किसे कहते हैं?
4. द्रव्य संलेखना और भाव संलेखना क्या है?
5. संलेखना के अतिचार कितने हैं?
6. संलेखना का उत्कृष्ट काल कितना है?
7. संलेखना को शिक्षाव्रत किन आचार्यों ने माना है?
8. क्या समाधिमरण आत्महत्या है?
9. ईगिणीमरण किसे कहते हैं?
10. त्यक्त मरण किसे कहते हैं?

☆☆☆

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. उत्तरख्ययन सूत्र—आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशित जैन विश्व भारती
2. तत्त्वार्थ सूत्र—उमास्वाति
3. पञ्चास्तिकाय—आचार्य कुन्दकुन्द
4. जैन सिद्धान्त दीपिका—आचार्य तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनू
5. विश्व-प्रहेलिका—लेखक: मुनि महेन्द्र कुमार
6. तत्त्वार्थ सूत्र—रचयिता: आचार्य उमास्वाति
7. आचारांग भाष्य—आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू
8. दसवैकालिक सूत्र—आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
9. अभिनन्दन ग्रन्थ— डॉ. सागरमल जैन, प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1993
10. जैनदर्शन और विज्ञान—लेखक मुनि महेन्द्र कुमार, जैन विश्वभारती, लाडनू
11. जैनदर्शन : मनन और मीमांसा—आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन
12. प्रवचन पाथेय : आचार्य तुलसी
13. जैनदर्शन और विज्ञान—लेखक मुनि महेन्द्र कुमार
14. Ethical Doctrine in Jainism – K.C. Sogani
15. Jaina Ethics – Dayanand Bhargava
16. जैन आचार—देवेन्द्र मुनि
17. सूत्रकृतांग—(दूसरा अंग) वाचना प्रमुख गणाधिपति श्री तुलसी सं. आचार्य महाप्रज्ञ, प्र. जैन विश्वभारती लाडनू
18. मनन और मूल्यांकन—आचार्य महाप्रज्ञ, प्र. आदर्श साहित्य संघ, चूरू प्रथम संस्करण-1893
19. जैन इथिक्स (Jain Ethics), डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास जवाहर नगर, दिल्ली-7, प्रथम संस्करण 1968
20. तत्त्वार्थ सूत्र, विवेचक, सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याभ्रम शोध संस्थान, वाराणसी (उ.प्र.), तृतीय संस्करण, 1976
21. अहिंसा तत्त्व दर्शन, मुनि नथमल, आदर्श-साहित्य संघ, चूरू, द्वितीय संस्करण, 1968
22. नव पदार्थ—आचार्य भिक्षु, सं. श्रीचन्द रामपुरिया, तेरापंथी महासभा, कलकत्ता
23. उत्तरख्ययणाणी भाग-2, जैन विश्व भारती, लाडनू